प्रकीर्ण ग्रन्थमाला १६

॥ श्रीः ॥

साहित्य का समाज शास्त्र

मान्यता और स्थापना

लेखक

श्रीराम मेहरोत्रा

प्राक्कथन

प्रो० राजाराम शास्त्री

उपकुलपति, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

प्राप्तिस्थान—

चौखम्भा विश्वभारती

चौक, चित्रा सिनेमा के सामने

वाराणसी

फोन नं० ६५४४४

MISCELLANEOUS WORKS NO. 16

SAHITYA KA SAMAJ SHASTRA

MANYATA AUR STHAPANA

BY
SHRIRAM MEHAROTRA

Foreward by
Prof. RAJARAM SHASTRI
Vice Chancellor, Kashi Vidyapith
Varanasi

Can be had of
CHAUKHAMBHA VISVABHARATI
Chowk (Opposite Chitra Cinema)
VARANASI
Phone No 65444

भूमिका

•

० पिछले दिनों साहित्य की आलोचना मे मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का प्रवेश व्यापक रूप में हुआ है। वास्तव में जीवन के सभी पक्षो मे मन और समाज के महत्व को इधर बड़ी तीव्रता के साथ समझा गया। वस्तुतः ये दोनों पक्ष एक दूसरे के पूरक है। पहले मनोवैज्ञानिक पक्ष ही प्रबलता के साथ सामने आया। साहित्यिक ने देखा कि चरित्र-चित्रण उनका मुख्य कार्य है। इस तरह मन का महत्व अपने आप प्रकट हो जाता है। चरित्र-मानसिक प्रवृत्तियों का समुच्चय ही है। वास्तव में मनोवैज्ञानिकों को साहित्य के भण्डार में से सदा सामग्री प्राप्त होती रहती है। क्योंकि सिद्धान्त निर्माण के पहले अनुभव का संग्रह होता है। अनुभूत सामग्री में से ही सामान्य नियमो का निर्धारण किया जाता है और फिर इन सामान्य नियमों में कार्य-कारण का संबंध ढूंढा जाता है। फिर जब ये नियम स्पष्ट हो जाते है तब ये सभी लोगो के ज्ञान और अनुभव का अंग बन जाते हैं। जब साहित्यकार इन सिद्धान्तों का अपना दृष्टि का अंग बना लेता है और उस विकसित दृष्टि से जीवन को देखता है। इस प्रकार अब वह मनोविज्ञान से वैसे ही सैद्धान्तिक सामग्री लेता है जैसे मनोविज्ञान उससे आनुभविक सामग्री लेता है। यह परम्परा बराबर चलती रही है। आधुनिक युग में मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण के क्रांतिकारी विकास के कारण साहित्य पर उसकी गहरी छाप पड़ी है। आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के बिना आधुनिक साहित्य की आलोचना नहीं हो सकती।

० इसके बाद ही समाजविज्ञान का प्राबल्य हुआ. लोगों ने यह देखा कि मानव व्यक्ति का मन उसके समाज और उसकी संस्कृति से अलग करके समझा ही नहीं जा सकता। जिस बात को हम अपनी व्यक्तिगत इच्छा-अनिच्छा समझते हैं उसमें सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण के तत्वों का प्रवेश इस प्रकार हो गया होता है कि वह व्यक्ति के मन के अंग ही बन जाते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति का मन ही सामने आता है किन्तु जब-जब उसका विश्लेषण किया जाता है तब स्पष्ट हो जाता है कि कितने सामाजिक तत्वों ने उसका निर्माण किया है। उदाहरण के लिये लज्जा और ग्लानि को लीजिये। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन दोनो वृत्तियों में भेद है। लज्जा का आधार व्यक्ति का अपनी महत्ता अपने लिए निर्धारित आदर्श और

व्यक्तित्व के संबंध में अपनी कल्पना होती है। अपने संबंध में उसकी जो धारणा होती है यदि वह उससे अपने व्यवहार में नीचे गिरता है तो उसे लज्जा की प्रतीति होती है। किन्तु जब वह उन सामाजिक अपेक्षाओं से गिरता है जो उससे की जाती है तब वह आत्मग्लानि का अनुभव करता है। ये सामाजिक अपेक्षायें भी उसके पालन-पोषण एवं शिक्षण के क्रम में उसके मन का अंग ही बन जाती हैं जिसको मनोवैज्ञानिक परिभाषा में व्यक्ति का 'उत्तम स्व' (Supper Ego) कहा जाता है जब कि उसके मन के सामान्य भाग को केवल 'स्व' (Ego) कहा जाता है। स्पष्ट है कि ग्लानि का अनुभव व्यक्ति की एक तीव्र आन्तरिक भावना के रूप मे उदित होने पर भी अन्ततोगत्वा सामाजिक कारणों से उत्पन्न हुआ है और सामाजिक मूल्यों का अभिव्यंजन करता है। लज्जा का भाव इतने स्पष्ट रूप में समाज एवं संस्कृति पर आश्रित प्रतीत नहीं होता। फिर भी व्यक्ति अपने जीवन और व्यक्तित्व के संम्बन्ध में जो धारणा बनाता है और जो कल्पना रखता है उसमें भी दूसरो की दृष्टि बहुत दूर तक प्रविष्ट हो जाती। हम अच्छे है, सुन्दर हैं, असुन्दर हैं, यह निर्णय करने में हम दूसरों की दृष्टि से बहुत दूर तक प्रभावित होते हैं। मनोवैज्ञानिकों का तो यह कहना है कि यदि हम अपने बारे में दूसरों की राय न जाने तो अपनी राय बना ही नही सकते। तात्पर्य यह कि समाजशास्त्र मनोविज्ञान का पूरक है। क्योंकि सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्वों के अन्वेषण के बिना व्यक्तिगत मनोवृत्तियों का अध्ययन नहीं हो सकता और इसलिए न चरित्र का निर्माण हो सकता है, न चित्रण। इस तरह साहित्य की आलोचना में मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का प्रवेश अनिवार्य रूप से हो गया है।

० समाजशास्त्र और साहित्य में भी उसी प्रकार आदान-प्रदान होता है जिस प्रकार साहित्य और मनोविज्ञान में। किसी पात्र का चरित्र-पूर्ण रूप से विकसित नहीं किया जा सकता जब तक कि उसका मानसिक विकास न दिखलाया जाय और उसका मानसिक विकास तब तक पूर्ण रूप से समझ मे नहीं आ सकता जब तक उसके आधार रूप सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्वो को भी स्पष्ट न किया जाय। दूसरे शब्दों में किसी एक सामाजिक एव सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि में ही किसी व्यक्तित्व को खड़ा किया जा सकता है। जिस प्रकार मनोविज्ञान ने साहित्य प्रदत्त अनुभवों से सामग्री लेकर मानसिक सिद्धान्तों का निर्माण किया उसी प्रकार समाजशास्त्रियों ने व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंध के विषय में जीवन एवं साहित्य से प्रभूत सामग्री

एकत्र करके अनेक सिद्धान्तों का निर्माण किया जो अब साहित्यिक रचयिताओं एवं आलोचकों के दृष्टिकोण का अंग बन गये हैं। अब इस आधार को लेकर ही साहित्य की रचना एवं आलोचना आगे बढ़ती है।

० प्रस्तुत पुस्तक में साहित्य, कला, एवं संस्कृति के परस्पराश्रय के मूल-सिद्धान्त के विवेचन के आधार पर साहित्यिक आलोचना के सिद्धान्तों का निर्धारण किया गया है और साहित्य की विभिन्न विधाओं में इन आलोचना सिद्धान्तों को प्रयोग किया है। इन विधाओं में नाट्य कला स्वभावत: विशिष्ट रूप से निरुपित की गई है क्योंकि इसमें साहित्य एवं कला की अन्य सभी विधाओंका सम्मिश्रण होता है। इसलिए सामाजिक तत्वोंका साहित्यपर प्रभाव नाट्य-कला एवं नाट्य-मंच के द्वारा अधिक पूर्णता के साथ निदर्शित किया जा सकता है। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक में इस विषय को अधिक स्थान दिया गया है।

० कला को जीवन का प्रतिबिम्ब कहा गया है। इसमें संदेह नहीं कि कला में जीवन की वास्तविकताओं का चित्रण होता। यह दूसरी बात है कि कला इससे आगे बढ़कर नवजीवन का सृजन भी करती है। किन्तु इस कार्य में भी वह अपने युग की सृजनात्मक आकांक्षाओं को मूर्तिमान करती है। कला के इतिहासकार प्रत्येक युग की कला में तत्कालीन जीवन का दर्शन करते हैं। यह तो बहुत मोटी बात है कि जिस युग में जिन देवी-देवताओं में लोगों का विश्वास होता है उस युग की कला में उन्हीं देवी-देवताओं को तात्कालीन जन विश्वास के अनुरूप ही देखा जाता है। किन्तु जो बात अधिक स्पष्ट नही है वह यह है कि कला की शैलियों में भी जीवन अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिंबित होता है। उदाहरण के लिए यदि हम इस बात की विवेचना करें कि सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा में बुद्ध के मस्तक के पीछे जो प्रभा-मंडल बना हुआ है वह इतना बड़ा और इतना अधिक अलंकृत क्यों है, तो यही प्रतीत होता है कि धर्म-चक्र प्रवर्तन मुद्रा में बुद्धत्व के प्रकाश को प्रसारित करना ही कलाकार का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसलिए बुद्ध के सारे शरीर को अत्यन्त प्रकाशमान दिखलाया गया है और ज्ञान के प्रकाश से जीवन में जो संतुलन, शांति एवं ज्ञान और साथ ही साथ आध्यात्मिक सक्रियता प्राप्त होती है उसे प्रतिमाके आवयविक सामंजस्य एवं स्थैर्य तथा करुण के संतुलित भावाभिव्यंजन के द्वारा प्रगट किया गया है प्रभा मंडल की विशालता एवं चित्रकारी बुद्ध की मुखाकृति मे व्यक्तवात्सल्य वैराग्य और आध्यात्मिकता को प्रस्फटित करने

के लिए ही बनाई गई है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि कला की प्राविधिक प्रक्रियाएं भी जीवन के वास्तविक तथ्यों का अनुसरण करती हैं। यह भी देखा जाता है कि प्राविधिक प्रक्रियाओं में न केवल सामाजिक एवं मानसिक वास्तविकताओं का प्रतिबिंब होता है अपितु कला के उपकरण भी उन पर अपना प्रभाव डालते हैं। यह भी एक वस्तु स्थिति की ही बात है कि कलाकार अपने विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार के उपकरण ढूंढता है। जो बात वह संगमरमर में पैदा कर सकता है वह दूसरे पत्थर में नहीं कर सकता। यहां पर प्रश्न यह उठ जाता है कि ऐसी स्थिति में क्या किसी देश एवं काल में पाए जाने वाले उपकरण ही कला की विधियों को निर्दिष्ट करते है? ऐसा प्रतीत होता है कि उपलब्ध उपकरणों द्वारा कलाकार सीमित अवश्य होता है किन्तु नितांत कुंठित नहीं होता। दूसरी बात यह है कि ये उपकरण उसके उद्देश्य अथवा मार्ग का निर्देश नहीं करते, उसके प्रयोजन तथा मार्ग तो उसके समाज और मन से निर्धारित होते हैं।

० अपनी तथा अपने समाज की जिन भावनाओं को वह व्यक्त करना चाहता है यदि उसके अनुरूप उपकरण उसे एक स्थान में नहीं प्राप्त होते तो दूसरे स्थान से उन्हें लाने की चेष्टा करता है। यदि नहीं ही प्राप्त होते तो दूसरे उपकरण से वह उसी उद्देश्य की पूर्ति का प्रयत्न करता है, भले ही उसकी कृति में वह बात न पैदा हो जो उपयुक्तम उपकरण प्राप्त हो जाने पर पैदा होती है।

● यही प्रश्न नाट्यरंग मंच के संबंध में भी उत्पन्न होता है। किसी भी देश काल के नाट्य या रूपक में तत्कालीन सामाजिक जिवन का निरूपण होता ही है किंतु नाट्य के उपकरण भी जीवन की वास्तविकताओं का अनुसरण करते हैं। विभिन्न देशों के विभिन्न युगों का नाट्यमंच विभिन्न प्रकार का होता रहा है और उसके आकार प्रकार, साज-सज्जा आदि में सामाजिक वास्तविकताएं प्रतिबिंबित होती रही हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन भारतीय नाट्य मंडप के चार किनारों पर चार मुख्य स्तंभ होते थे जो कि भारतीय समाज के चार वर्गों के प्रतीक स्वरूप निर्मित होते थे। इस प्रकार उक्त मंडप की बनावट एक बहुत ही बड़े सामाजिक तथ्य को प्रतिबिंबित करती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह बनावट रूपक में अभिनीत सामाजिक तथ्यों को निर्धारित करते हैं वस्तुतः सामाजिक तथ्य ही अभिनय एवं मंडप की बनावट

दोनों को निर्धारित करते हैं। सामाजिक वस्तु स्थिति का ही अभिनय भी होता है और सामाजिक वस्तुस्थिति के अनुसार ही रंगशाला एवं मंडप को भी बनाना पड़ता है। जब सामाजिक स्थिति बदलती है अथवा जब कलाकार उसे बदलना चाहता है तब वह नये उपकरण की खोज करता है, पुराने उपकरणों में संशोधन करता है, नए जीवन का अभिनय करता है और उसे जीवन के अनुरूप नए प्रकार की रंगशाला और नए प्रकार का सभा मंडप बनाता है। कला का कोई भी क्षेत्र हो, नए प्रतिपाद्य विषय के लिए कलाकार को नई शैलियों का आविष्कार करना पड़ता है, पुरानी शैलियों की सीमा के अन्दर वह नई भावनाओं का रूप-विधान नहीं कर सकता। यही कारण है हम शैलियों के साथ विषयों को और विषयों के साथ शैलियों को बदलते हुए देखते हैं। किसी एक ओर पक्षपात हो जाने पर किसी को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जब तक नए उपकरण आविष्कृत न हो जांय तब तक कोई नया कलाकार पैदा नहीं हो सकता और किसी को यह भान होता है कि जब तक नई विचारधारा और नए जीवन का रूप स्पष्ट न हो जाय तब तक न कोई कलाकार हो सकता है और न कोई नया उपकरण आविष्कृत हो सकता है। वास्तविकता यह है कि कला-कार ही नव-जीवन की कल्पना को प्रस्फुटित करता है और वही नई शैलियों का आविष्कार भी अपनी नई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थात नई आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के लिए करता है। अन्य क्षेत्रों मे आविष्कृत विचार धाराओं से अथवा भौतिक आविष्कारों एव यान्त्रिक प्रविधियों से वह सहायता अवश्य पाता है किन्तु वह स्वयं भी इनका प्रेरक हो सकता है। ज्ञान, कला एव कार्य के क्षेत्र परस्पराश्रयी हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। फिर भी सब में सक्रिय तत्व मनुष्य ही है, न कि भौतिक उपकरण। इसलिए यदि अभिनय और उपकरण के बीच निर्णय करना ही हो तो अभिनय पक्ष को महत्व देना अधिक युक्ति संगत होगा। किसी युग की वर्तमान वस्तु-स्थिति एवं भावी आकांक्षायें पहले नाटककार की कल्पना मे आती है और फिर उनके लिए उपयुक्त उपकरणों, शैलियों एव प्रविधियो का आविष्कार होता है। इतना तो निश्चित ही है कि इस प्रकार कला की प्राविधिक प्रक्रियायें भी प्रत्यक्ष रूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अर्थात सीधे या प्रतिपाद्य विषय के द्वारा सामाजिक वास्तविकताओं को प्रतिबिम्बित करती हैं। नाट्य कला में इस बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाट्यमंच एवं दर्शक मण्डप की बनावट एवं साज-सज्जा और नटों की वेषभूषा एवं भाषा तथा अभिनय शैली ये सभी वस्तुयें सीधे या सामाजिक तथ्यों तत्का

लीन समाज रचना एवं स्वीकृत सामाजिक मूल्यों को प्रतिबिम्बित करती हैं और जहाँ वे सीधे तरीके पर ऐसा नहीं करतीं वहाँ उस अभिनय के द्वारा करती हैं जिनके रूप को वे सम्भव बनाती हैं।

० हिन्दी में अभी तक साहित्य एवं समाज के अन्योन्याश्रय का निरूपण करने वाला साहित्य कम ही रचा गया है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री श्री राम मेहरोत्रा ने इस दिशा में पहला प्रयास किया है। मुझे विश्वास है कि इस विषय के जिज्ञासु और विद्वान लोग इस विषय के अध्ययन की इस दृष्टि का स्वागत करेंगे।

श्री काशी विद्यापीठ, राजाराम शास्त्री

वाराणसी। उपकुलपति

●

० श्री श्रीराम मेहरोत्रा ने 'नाट्य रंगमंच का समाजशास्त्रीय अध्ययन' नाम से जो शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया था उसे अत्यन्त व्यापक, सुव्यवस्थित और पूर्ण करके "साहित्य की समाजशास्त्र मान्यता और स्थापना" नाम से प्रस्तुत किया है। यद्यपि भारतीय और विदेशी सभी साहित्य शास्त्रियों ने साहित्य की विवेचना करने के साथ यह स्पष्टतः प्रतिपादित कर दिया था कि साहित्य का उद्देश्य चतुर्वर्ग फल प्राप्ति अर्थात पुरुषार्थ चतुष्टय की उपलब्धि है और प्रत्येक काव्य से यही ध्वनि व्यक्त होनी चाहिए कि 'रामादिवत् वर्तितव्यम् न रावणादिवत्' अर्थात किसी भी काव्य का अध्ययन करने के पश्चात अध्येता के मन में स्वभावतः विभावन क्रिया के द्वारा यह संस्कार उत्पन्न होना चाहिए कि राम के समान आचरण करना चाहिये, रावण के समान नहीं।

० काव्य शास्त्र या साहित्य शास्त्र ने काव्य के गुण और दोष के परीक्षण के प्रसंग में भी सामाजिक दृष्टि से ही गुण दोषों का सैद्धान्तिक विवेचन किया गया हैं और प्रतिपादित किया गया कि काव्य श्रुति कटु न हो, अश्लील न हो। यही काव्य की सामाजिक भूमिका है जिसके आश्रय पर भारतीय रस सिद्धांतऔर योरोपीय रेचन या केथार-सिस का सिद्धान्त पूर्णतः अवलम्बित है। क्योंकि भाव संस्कार ही मनुष्य की वास्तविक प्रगति, उन्नति और उदात्त वृत्ति का सबसे बडा ध्येय है इसीलिए अरस्तू ने अपने काव्य शास्त्र में रेचन के सिद्धान्त को और भरत ने अपने नाटयशास्त्र में रस के सिद्धान्त को प्रमुख तत्व के रूप मे प्रतिष्ठित किया

० अनेक आचार्यों ने स्पष्ट कर दिया है कि काव्य को इतिहास नहीं समझना चाहिए और इसीलिए ऐतिहासिक तथ्य और काव्य तथ्य दो पृथक सत्य-तथ्य सभी देशों में मान्य होते चले गये। ये दोनों तथ्य शुद्ध रूप से वाह्य बौद्धिक तथ्य बने रहे जिनका कोई भी सम्बन्ध आध्यात्मिक सत्य या ऋत् से नहीं रहा। इसलिए इस वाह्य सत्य की भूमिका स्पष्टतः वह सामाजिक भूमिका थी जिसे काव्य के द्वारा समाज में प्रतिष्ठित करके मानव समाज के उदात्त आदर्शों की स्थापना की गयी जो आदि काव्य के प्रारम्भ से ही भारतीय जन जीवन में आदर्श, आदर्श पिता, आदर्श पत्नी, आदर्श पुत्र, आदर्श भ्राता और आदर्श सेवक तथा मित्र की स्थापना करके समाज के पूर्ण उन्नत स्वरूप की कल्पना के द्वारा समाज को सर्वोच्च ध्येय की प्राप्ति के लिए निरन्तर बल देते चले आए हैं जिसका अनुकरण पीछे के सभी कवियों ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक समान रूप से किया है। इस सामाजिक भूमिका में प्रस्तुत होने के कारण ही भारतीय साहित्य अपने सम्पूर्ण अंगों और उपांगों के साथ पूर्णतः सामाजिक बना रहा।

० श्री श्रीराम मेहरोत्रा ने अत्यन्त मनोयोग पूर्वक गम्भीर अध्ययन और विवेचन के साथ साहित्य के समाजशास्त्रीय पक्ष का अत्यन्त सूक्ष्म निरूपण करके समाजशास्त्र की दृष्टि से साहित्य का गम्भीर विश्लेषण किया है। साहित्य के अध्येताओं के लिए, विशेषतः समालोचकों और साहित्य श्रष्टाओं के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय और पथ प्रदर्शक सिद्ध होगा। लेखक ने साहित्य की समाजशास्त्रीय आलोचना से आरम्भ करके साहित्य के समाज-शास्त्रीय विश्लेषण की विभिन्न प्रकृतियों और दिशाओं का समीक्षण किया, प्रतीक और भाषा का सम्बन्ध स्पष्ट किया है तथा कला का संश्लिष्ट रूप स्पष्ट करते हुए नाट्य कला और रंगमंच की विवृत्ति के साथ सामाजिक जीवन में मनोरंजन के महत्व का प्रतिपादन करके नाट्य रूप में प्रतिष्ठित मनोरंजन की सामाजिक महत्ता अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण शैली में स्पष्ट की है। जिस परिश्रम और अध्यवसाय के साथ श्री मेहरोत्रा ने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है, वह निश्चय ही श्लाघ्य और अभिनन्दनीय है। मैं इस ग्रन्थ के निर्माण के लिए श्री मेहरोत्रा को हार्दिक साधुवाद देता हूं और विश्वास करता हूं कि साहित्य जगत इसका समादर करेगा।

६२/४२ उत्तर बेनिया
वाराणसी १

सीताराम चतुर्वेदी

० समाज विज्ञानों में मनुष्य की चेतना के आंकड़ों, पर बहुत कम प्रकाश डाला गया है। प्रतीकात्मक सृजन, अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण ऐसी समस्याओं पर समाज वैज्ञानिक इसलिए चुप रहते हैं कि यह उनकी कार्यविधिकी की पकड़ में नहीं आता। जो बाह्य और तथ्यगत है उसी पर सतोष कर लेना समाज वैज्ञानिकता को कुंठित करना है। समाज विज्ञान में ऐसी प्रवृत्तिया पुनः प्रस्फुटित हो रही है जो चेतना, कल्पना और प्रतिकात्मक आयाम से आंकड़े प्राप्त करने का प्रयत्न कर रही हैं। साहित्य और कला का समाजशास्त्र इस दिशा में सम्भावित प्रयत्न है। श्रीराम मेहरोत्रा की यह पुस्तक इस दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होने साहित्य के समाज वैज्ञानिक अध्ययन की कार्यविधिकी, व्याख्या की इकाई, सम्प्रेषण के तत्व, जन जीवन में साहित्य तथा साहित्य एक सामाजिक संस्था ऐसी महत्वपूर्ण समस्याओं पर प्रकाश डाला है। लेखक का मत है कि साहित्य का समाज वैज्ञानिक विश्लेषण अपने आप में एक प्रणाली है। इसके माध्यम से साहित्य का विश्लेषण करने में विभिन्न वादों की पूर्वधारणाओं से छुटकारा मिल सकता है। भौतिक विज्ञान जिस तरह प्रयोगशाला में प्रयोग करता है, साहित्यकार उसी प्रकार अपनी कल्पना में पात्र, कथानक और घटनाओं को लेकर 'प्रतीकात्मक प्रयोग' करता है और समाज के समक्ष ऐसे सम्प्रत्यय प्रस्तुत करता है जो सामाजिक क्रिया को प्रभावित करते हैं। यही साहित्यकार का योगदान होता है और यही साहित्य की सामाजिक भूमिका होती है। इन तथ्यों के विश्लेषण करने की दृष्टि मेहरोत्रा जी की इस पुस्तक से प्राप्त होती है। सम्भवतः हिन्दी जगत में इस विषय पर यह पहली कीर्ति है। और पहल करने वालों की नहीं बल्कि ध्यान सम्भावनाओं पर दिया जाना चाहिए जिसकी ओर उसके कदम उठते हैं। मैं मेहरोत्रा जी के प्रयत्न की सराहना करते हुए समाज वैज्ञानिक हिन्दी साहित्य में इस श्री वृद्धि के लिए उन्हें बधाई देता हूँ।

डा० हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव

समाज विज्ञान विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

दो शब्द

आधुनिक युग के ज्ञान-वृक्ष की सबसे तरुण, स्फूर्त और द्रुतगति से विकासशील शाखा समाजशास्त्र की है। मानव की दैनिक और अखिल सामाजिकता को स्पर्श करने के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से इसका सहज सम्बन्ध है। इसी कारण इसके विस्तार क्षेत्र से जीवन का कोई विषय आज अछूता नहीं, अतः सभी विषय अपनी समाज सापेक्षता का विस्तार करने के लिए समाजशास्त्र का सहयोग ले रहे हैं। समाजशास्त्र स्वयम् में भी इतना विस्तृत विषय है कि अन्य सभी विषयों की सीमा कई स्थलों पर उससे मिलती है। जीवन के सहज अनुभवों की रागपूर्ण रचना होने के कारण साहित्य का समाज से विशेष सम्बन्ध है। साहित्य में कुछ भी ऐसा नहीं जिसका समाज से सम्बन्ध न हो। इसी कारण साहित्य का स-हितत्व भी समाजशास्त्र के अध्ययन का विषय बन गया है।

साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य के लिए समीक्षा का एक प्रणाली-विषय है और समाजशास्त्र के लिए स्वतन्त्र शाखा-विषय। प्राचीन शास्त्रीय मान्यताओं से निकल कर साहित्य अब पर्याप्त नवीन दृष्टि-पथ पर गतिमान हो चुका है। इस सन्दर्भ में मनोविश्लेषणवाद और मार्क्सवाद से उसका परिचय घनिष्ठता में बदल गया है किन्तु समाजशास्त्र से, जो स्वयम् एक नवीन विषय है, साहित्य का परिचय बहुत नवीन है; यों कहें कि समाजशास्त्र में भी साहित्य की चर्चा हो रही है लेकिन अधिकांश चर्चा अभी प्रसगवशात् ही हुई है। इधर साहित्य समीक्षक भी समाजशास्त्र का नाम लेकर समाजशास्त्रीय आलोचना की ओर पर्याप्त प्रवृत्त दिखाई पड़ रहे हैं। इस प्रणाली को विशेष का विषय बनाने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि अध्येता के समक्ष दोनों विषयों की स्वतन्त्र रूप रेखा हो, पुनश्च दोनों के परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने वाले तत्वों का विवेचन हो और फिर उसके आधार पर समाजशास्त्रीय समीक्षा का यथोचित स्वरूप रखा जा सके, यही इस पुस्तक का

प्रयास है। साहित्य की अंतर्वस्तु और समाजशास्त्र की विषय वस्तु निकट की एकता है। दोनों की वस्तुओं की एकता को स्पष्ट करने का प्रया भी किया गया है। विभिन्न समीक्षा के सहयोग से साहित्य का जो विस्ता मिला वह समाजशास्त्र के सहयोग से और वृद्धि पा सके तो निश्चय ही विशे व्यापकता होगी।

समाजशास्त्रीय समीक्षा क्या है, इसका प्रतिपादन वस्तुतः तभी सम्भव है जब हमें समाजशास्त्र, उसकी सीमा और अध्ययन पद्धतियों का विषय-विशेष के रूप में ज्ञान हो। इसी लिए पुस्तक में ध्यान इस बात का रखा गय है कि जो व्यक्ति केवल साहित्य के अध्ययन तक ही सीमित हैं, उन्हें समाज-शास्त्र विषय-विशेष का ऐसा परिचय मिल सके जिससे वह समाजशास्त्रीय समीक्षा को उचित रूप में ग्रहण कर सकें और जो लोग साहित्य की साहित्य-कला से अनभिज्ञ हैं उन्हें साहित्य की उस स-हितता का परिचय मिल जाय जिसके कारण साहित्य को धर्म की भाँति ही समाज का नियामक होने का गुण प्राप्त है। साहित्य के क्षेत्र मे समाजशास्त्रीय समीक्षा नाम से जो धारा चली है उसमें समाजशास्त्र विषय-विशेष का अपेक्षित ज्ञान न होने के कारण बड़ी ही भ्रान्तियां हैं। उसे दूर कर मूल वास्तविकता की स्थापना में ही पुस्तक की उपादेयता प्रतिपादित की गई है। इस बात का दावा नहीं किया जा सकता कि समाजशास्त्रीय समीक्षा प्रणाली ही समीक्षा क्रिया की पूर्णता है वरन् विभिन्न समीक्षाओं की ही भांति वह भी समीक्षा की एक दृष्टि है और उसकी भी अपनी सीमाये हैं लेकिन कहना यह है कि जब कोई समीक्षा विशेष का नाम लेकर किसी कृति या कृती की समीक्षा करता है तो मूल विषय का तथ्यगत सही परिचय भी हो। मात्र साहित्यिक, मार्क्सवादी, मनोविश्लेषण-वादी अथवा समाजशास्त्रीय शब्द को विशेषण के रूप में प्रयुक्त कर देने से ही विषय के प्रति निष्ठा की पूर्ति नहीं हो पाती। यह मैं नहीं कह सकता कि मैंने समाजशास्त्रीय समीक्षा की पूर्ण स्थापना कर दी है। वस्तुतः समाज शास्त्रीय समीक्षा के क्षेत्र में सम्भवतः यह सर्व प्रथम प्रयास है इसलिए अभी तो इस क्षेत्र की सम्पूर्ण सम्भावनायें-स्थापनायें शेष हैं। हिन्दी में तो इस क्षेत्र पर कोई पुस्तक है ही नहीं। अंग्रेजी भाषा में भी स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में साहित्य के समाजशास्त्र (सोसियोलाजी आफ लिटरेचर) पर मुझे कोई कृति देखने को नहीं मिली। हाँ, समाजशास्त्र की कई पुस्तकों में संस्कृति के विवेचन के साथ कला और साहित्य को सन्दर्भ रूप में प्रस्तुत किया गया है

लेकिन उन सब में समाज के साथ इनके सम्बन्ध, महत्व आदि जैसी प्रचलित (पापुलर) बातें कहने के अलावा और कुछ नहीं है। हिन्दी साहित्य और समाजशास्त्र दोनों विषयों का विद्यार्थी होने के कारण दोनों पर एक दूसरे के सिद्धांतों की स्पष्ट रूप रेखा को ध्यान में रख कर मैंने अपनी बात कहने और समाजशास्त्रीय समीक्षा को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

साहित्य और कला के मूल स्वरूप का समाजशास्त्रीय सिद्धांतों और पद्धतियों के आधार पर विवेचन करने के पश्चात् एक विधा के रूप में नाटक पर विचार किया गया है। नाटक में समाज का क्रिया-पक्ष अधिक व्यावहारिक दृष्टि से प्रस्तुत होता है। अतः उसमें समाजशास्त्रीय अध्ययन की व्यापक सम्भावनायें हैं। ये सम्भावनायें मात्र नाटक तक ही सीमित नहीं हैं वरन् उपन्यास, कहानी, कविता रिपोर्ताज, निबन्धों आदि सभी की अन्तर्वस्तुओं के समाजशास्त्रीय अध्ययन की भी विस्तृत सम्भावनायें हैं।

श्रीराम मेहरोत्रा

महा शिवरात्रि संवत् २०२६

आभार

पूज्यवर प्रो० श्री राजारामजी शास्त्री की प्रेरणा ही इसकी रचना है। उन्होंने ही इस बात के लिए बराबर प्रेरित किया। जब मैंने यह कार्य आरम्भ किया तो बराबर ही उनकी कृपा-छाया मेरे ऊपर बनी रही। पुस्तक की भूमिका लिख कर उन्होंने मुझे जो आशीर्वाद दिया उससे इसकी गुरुता म सहज वृद्धि हुई है। कैसे मैं उनका आभार प्रदर्शित करूं ?

यह स्वीकार करते हुए मुझे बड़ा संतोष मिलता है कि पुस्तक में वैज्ञानिक दृष्टि का जो कुछ भी पुट है वह आदरणीय डा० हरिश्चन्द्र जी श्रीवास्तव की कृपा से है। समाजशास्त्र के हर क्षेत्र में अपनी पैनी दृष्टि डालकर समस्यायें खोज निकालने का उनका जो गुण है उसने पुस्तक को भी विशेषित किया है। पुस्तक का अधिकांश उन्होंने स्वयम् पढ़ा है और आवश्यक स्थलों पर दिशा-निर्देश किया है। उनकी इस अनुकम्पा के लिए सदा कृतज्ञ हूं।

पूज्य डा० नायक के सम्पर्क में जब से मैं आया, उनकी कृपा और संरक्षण अनायास ही मिलता रहा इसे मैं अपना गौरव समझता हूँ कि उन्होंने पुस्तक के लिए आशीर्वाद देकर मुझे ऊँचा उठाया है।

पं० सीताराम जी चतुर्वेदी का आशीर्वाद भी मेरे लिए एक सम्बल सिद्ध हुआ। पुस्तक में नाट्य चर्चा के अंश पर उनका जो दिशा-निर्देश मुझे समय समय पर मिलता रहा वह बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। उनकी इस कृपा क लिए आभारी हूं।

अपने प्रिय मित्र श्री घनश्याम गुप्त की मिताई का सहज ही ध्यान आ जाता है जो बराबर पूछते रहे, 'कितना काम किया, लाओ देखा जाय।' इसका अर्थ कि उनके ही उकसाव व दबाव से मैं अपना कार्य तिल-तिल बढ़ाता रहा अन्यथा अभी पुस्तक में कितने ही चार वर्ष लग जाते।

●

विषय-सूची

१

प्रस्तुति

धर्म, कला और साहित्य समाज की सांस्कृतिक एवं संगठनात्मक उपलब्धियाँ मानी गई हैं। सांस्कृतिक एवं संगठनात्मक उपलब्धियाँ जीवन को प्रदत्त सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप सजाने, समृद्ध करने एवं व्यवस्था प्रदान करने की मूल माध्यम होती हैं। मनुष्य केवल जीना ही नहीं चाहता वरन् अच्छी तरह भी जीना चाहता है, भरपूर जीना चाहता है, और अपने जीवन के लिए दूसरों को भी जीवित देखना चाहता है। मनुष्य की इसी महत्वाकांक्षा का साकार रूप विभिन्न सामाजिक संस्थाएँ जैसे परिवार, धर्म, कला, साहित्य राज्य आदि है।

बहुत थोड़े समय पूर्व तक साहित्य एक विशुद्ध भावना प्रवण विधा मानी जाती थी। उसकी उत्पत्ति का सम्बन्ध दैवी अथवा अलौकिक शक्ति से जोड़-कर रहस्य मय बना दिया जाता था। किन्तु आज के वैज्ञानिक बौद्धिकतावादी व्यक्ति को इससे कब तक संतोष मिल सकता था। रहस्यवाद अथवा अध्यात्म को साहित्य का मूल मानने के कारण तरह तरह के भटकाव होते है और स्थिर निर्णय के अभाव में साहित्य की मौलिकता का ह्रास होने लगता है। अतः भाँति-भाँति की काल्पनिक अथवा अनुमानित अवधारणाओं को त्यागकर तर्क और यथार्थ के द्वारा साहित्य के मूल अस्तित्व के अध्ययन की ओर केंद्रित होकर वस्तु-स्थिति का अध्ययन आरम्भ हुआ। इस वैज्ञानिक आयाम की परम्परा में साहित्य का अध्ययन एक विशिष्ट दिशा की ओर उन्मुख हुआ और वह दिशा है सामाजिक मानव, उसकी अभिप्रेरणाएँ और साहित्य। साहित्य के अध्ययन की प्राचीन अवधारणाओं के विपरीत उन्मुख होकर जिस नवीन तत्व का अनुमोदन आरम्भ हुआ उसको ना यह है

के वाह्य लक्ष्य की ओर केन्द्रित करने वाली कोई सहायक अथवा यांत्रिक क्रिया; वरन् यह मानव समाज की एक ऐसी अविकल क्रियान्विति है जो समाज के मूल्य (सांस्कृतिक) तत्वों का परस्पर सबन्ध स्थापित करने वाले कारक के समान है।

कुछ समय पूर्व तक की धारणाओं के अनुसार साहित्य की गति बहुत सीमित अध्ययन और अध्येता तक ही केन्द्रित थी किन्तु जब से विचार जगत में भौतिकवाद और यथार्थ वाद का सूत्रपात आरम्भ हुआ, तब से साहित्य सम्बन्धी प्राचीन अवधारणाओं में परिवर्तन आरम्भ हो गया। आरम्भ मे यह क्रिया शिथिल और अनभिज्ञात सी थी किन्तु पिछली शताब्दी में इसने पुस्ट पृष्ठभूमि और महत्वपूर्ण गति प्राप्त कर ली है। सभी क्षेत्रों में अब यह स्पष्ट हो चुका है कि साहित्य का अध्ययन केवल अलंकारशास्त्री, लेखक, कवि, अथवा आलोचक का ही विषय नहीं है वरन् उन सबके लिए इसका अध्ययन आवश्यक है जो मानव, उसके समाज और उसकी अभिप्रेरणाओं को समझने और उससे कुछ उपयोगी निष्कर्ष निकालने में रुचि रखते हैं। जब तक हम किसी समाज में पाए जाने वाले अभिव्यक्ति-स्वरूपों से परिचित नही होंगे तब तक हम उसकी अभिप्रेरणाओं, आकांक्षाओं तथा सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय मूल्यों को व्यापक परिप्रेक्ष्य में नहीं समझ पायेंगे। इस दृष्टि से साहित्य का अध्ययन निश्चय ही समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र एवं भाषा विज्ञान का विषय है।

आज समाजशास्त्र में मनुष्य की सांस्कृतिक संस्थाओं, धर्म, कला, भाषा, साहित्य, मनोरंजन आदि के अध्ययन की प्रवृत्ति बड़ी तीव्र होती जा रही है। इसका कारण यह है कि मनुष्य आज अपने सीमित दायरे से निकल कर सम्पूर्ण विश्व को अपने में समेटने के लिए प्रयत्नशील है। विश्व-मानव और विश्व-राज्य की बात जितनी आज हो रही है उतनी किसी अन्य युग में नही हुई। मानवतावाद का शीघ्र से विकास हो रहा है और उसे मनुष्य की प्रत्येक क्रियाओं, व्यवस्थाओं, और संस्थाओं के अध्ययन का आधार बनाया जा रहा है। आज व्यक्ति कुछ नहीं, समाज सब कुछ हो गया है। फलतः उसकी सम्पूर्ण क्रियाओं की व्याख्या सामाजिकता के ही संदर्भ में रखकर की जाने लगी है। मनुष्य जादू-टोने का प्रयोग क्यों करता है, रीति-रिवाज, रूढ़ियां, निषेध, विधि. देवी-देवता की पूजा आदि के पीछे कौन से नियामक सामाजिक तत्व

कार्य करते हैं, व्यक्ति की कला-प्रवृत्तियों में समय-समय पर परिवर्तन क्यों हुआ, युग-विशेष में विशेष प्रकार के साहित्यिक भावों की ही रचना क्यों हुई आदि बातों के अध्ययन में मनुष्य की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक आदि अभिप्रेरणाओं के अध्ययन की प्रवृत्ति को विशेष प्रश्रय प्राप्त हो रहा है। इसी वैज्ञानिक अवबोध के साथ आज साहित्य के समाज-शास्त्रीय अध्ययन की परम्परा 'साहित्य का समाजशास्त्र' सोसियोलाजी आफ लिटरेचर के रूप में बलवती होती जा रही है।

साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए हमें रूढ़ शास्त्रीय व्याख्या से हटकर 'साहित्य' का अर्थ नए आयाम में समझना होगा। साहित्य भाव की कृति है। कल्पना भाव है और कृति वस्तु। कल्पना का वस्तुगत प्राकट्य कृति है। कृति का भाव का कथ्य या प्रस्तुति है। कृतिकार अपनी चेतना में उठे तनाव, आन्दोलन या बेचैनी को प्रकट करने के लिए सभी सम्भव माध्यम को अपनाता है। माध्यमों की भिन्नता के कारण वस्तु अथवा कृति का रूप (फार्म) भी भिन्न-भिन्न हो जाता है जिसके कारण राजनीति युद्धनीति, वैज्ञानिक प्रयोग, धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, आदि का प्रकटी-करण होता है। इन सब का मूल वह तनाव, आन्दोलन या बेचैनी होता है जो किसी प्रबुद्ध चेतना द्वारा प्रकट होने. अभिव्यक्त होने के लिए खुद भी बेचैन हो जाता है। यह प्राकट्य कोई राजनीतिक, कोई विज्ञान, धर्म, दर्शन या कोई कला, साहित्य आदि के रूप में कर पाता है। हर प्राकट्य अपने साथ एक संगठन का निर्माण करता चलता है। संगठन भावों का हो, अथवा वस्तु या घटना का, लेकिन वह परम्परा के रूप में राजनीति धर्म, दर्शन, कला आदि सभी से सम्बद्ध रहता है। इसीलिए प्रत्येक कृति एक परम्परा होती है—अपने में और अपने सामाजिक परिवेश की। संगठन परम्परा को दृढ़ता प्रदान करता है और परम्परा संस्था अथवा कार्य प्रणाली का निर्माण करती है। राजनीतिक, धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि ऐसी ही संस्था अथवा कार्य प्रणाली है।

प्रत्येक संस्था अपने कथ्य के प्रकटीकरण के लिए पुनः माध्यम का आश्रय लेती है। साहित्य भाषा और प्रतीक के माध्यम से अपना कथ्य प्रकट करता है, भाव अथवा बेचैनी का अर्थीकरण करता है। यह अर्थीकरण प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक पूर्वानुभव से सम्बद्ध रहता है। किसी

भी विषय का कोई भी कृतिकार इसे स्वीकार करे अथवा न करे लेकिन सामाजिक पूर्वानुभव प्रत्येक कृति के साथ आवश्यक रूप से सम्बद्ध रहता है। यह पूर्वानुभव ही परम्परा है। किसी भी कृति की कोई पूर्वकृति या पृष्ठ-भूमि रहती है। यह पृष्ठभूमि उसका सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन होती है। कृतिकार कही हुई बात को या तो पुनः नए परिप्रेक्ष्य में कहता है, या कही हुई बात में नया प्रयोग करता है अथवा सर्वथा नई बात कह कर अपनी परम्परा में योग देता है। इसीलिए मैनहीम ने एक स्थल पर कहा है कि 'मनुष्य सोचने की क्रिया में योग देता है।'

साहित्य का कथ्य क्या होता? सामाजिक घटना! सामाजिक घटना का आयाम स्वयं में बहुत विस्तृत है। जब साहित्य 'भाषा' जैसे सामाजिक माध्यम को अपनाता है और सामाजिक पूर्वानुभव से सम्बद्ध रहता है तो अवश्य ही सामाजिक वस्तु अथवा घटना उसके विषय वस्तु का निर्धारण करती है, साहित्य का सम्पूर्ण कथ्य सामाजिक घटना है, चाहे वह क्रौंच दम्पति के अचानक वियोग को आधार बनाकर रचा गया हो अथवा आज के प्रत्यक्ष सामाजिक जीवन पर आधारित किसी घटना का प्रतिफल हो, सबके पीछे एक सामाजिक पूर्वानुभव अथवा घटना काम करती है जो मनुष्य के स्वयं के जीवन के लिए दूसरों को भी जीवित देखने के भाव का मूल है। क्रौंच पक्षी के अचानक वध से कवि के मस्तिष्क में जो तनाव उत्पन्न हुआ उसे उसने श्लोक (काव्य) में प्रकट किया। इस तनाव का मूल उसके हृदय की वह भावना जिसके कारण वह जीना चाहता है; और खुद जीने के लिए दूसरों को भी जीवित देखना पड़ता है, सामाजिक बनना पड़ता है और जब उसके आंखों के सामने 'एक जीवन' का अभाव हुआ तो वह उसके हृदय और मस्तिष्क का तनाव बनकर कविता रूप में प्रकट हुआ।

इस प्रकार साहित्य का कथ्य सामाजिक सत्य के एक रूप का स्पर्श करता है। साहित्यकार जीवन को जिस ढंग से देखता और प्रकट करता है वह अपने में वैसा ही सत्य या यथार्थ रूप है जैसा वैज्ञानिक अथवा दार्श-निक द्वारा देखा गया जीवन स्वयं में वस्तु के एक पक्ष का सत्य परिचय होता है। इस आधार पर साहित्यकार को वैज्ञानिक और दार्शनिक के समकक्ष सत्य-द्रष्टा कहा जा सकता है। किसी वस्तु के पूर्ण परिचय के लिए समस्त सत्य दृष्टियों को समेटना आवश्यक है या साहित्य मानव

प्रस्तुति

चेतना की संकल्पात्मक अनुभूति होने के कारण (वस्तु निष्ठ सत्य की नहीं वरन् व्यक्तिनिष्ठ अनुभूति ज्ञान का रूप होने से) विज्ञान से भिन्न है और रचनात्मक ज्ञानधारा होने से दर्शन से भिन्न है. किन्तु दोनों के समकक्ष है। एक सुन्दर फूल अपने मधुमय सौरस, कोमल रंगीन पंखुडियों से युक्त हरी पत्तियों की सघनता के बीच के झोंके मे डालियों पर झूमता अपनी सप्राणता का जो स्वतंत्र प्रभाव काव्य के माध्यम से हृदय पर डालेगा वही फूल वैज्ञानिक के परीक्षण और विश्लेशण द्वारा एक भिन्न स्वतंत्र ज्ञान कराएगा और दार्शनिक के तर्कों से उसकी कुछ और भिन्न अनुभूति होगी। लेकिन तीनों का स्वतंत्र ज्ञान अपनी पूर्णता से युक्त होगा। जिस प्रकार विज्ञान और दर्शनगत सत्य पुष्प की सप्राणता का स्वतंत्र परिचय करा सकता है उसी तरह काव्यगत रूप में भी पुष्प के एक स्वतंत्र और सत्य रूप का दर्शन होता है; किसी भी चित्रण को अपूर्ण या असत्य नही कहा जा सकता। इससे यह धारणा पुष्ट होती है कि काव्यगत सत्य का अपना निजी महत्व है और वह सत्य हमारे हृदय एवं कल्पना को प्रभावित करता है। काव्य सत्य का आदिम और सहज रूप है इसी से प्रत्येक जाति का आरंभिक इतिहास काव्य में ही प्राप्त होता है।

वर्तमान युग मे'प्रतीक' का विशेष महत्व हो गया है। नवीन प्रतीकवादी सिद्धान्त की धारणा के अनुसार मनुष्य की सामाजिकता के निर्माण मे प्रतीकों के प्रयोग का मुख्य हाथ रहा है। मनुष्य की सम्पूर्ण क्रिया आदिम काल से ही कुछ निश्चित संकेतों और तज्जन्य मानसिक शारीरिक, अवबोध का परिणाम है। उदाहरण के लिए जब भी कभी आदि मानव ने कमल देखा तो तत्काल उसे एक निष्णात धवल और निर्विकार स्वच्छता का भास हुआ। कमल की इस विशेष मानसिक प्रतिमा ने मस्तिष्क में कुछ स्थायी आधार बनाना आरम्भ कर दिया और आदि मानव का यह मानसिक आधार परवर्ती मानव को 'सात्विकता' के प्रतीक के रूप में प्राप्त हुआ। चतुर्दिक जीवन की समस्त क्रियाएँ-उपक्रियाएँ मानव की मानसिक प्रतिमा का आधार पाती गई और विभिन्न प्रतीकों का निर्माण करती गई।

आज इन प्रतीकों का मनुष्य के बौद्धिक जीवन में व्यापक महत्व हो

वर्तमान अवधारणा के अनुसार हम मानते हैं कि मानव जीवन में प्रतीकों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है और यह प्रत्येक मानव समाज में पाया जाता है तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि अभिप्रेरणाओं का अध्ययन प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति-स्वरूपों से संबधित है और वे प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियाँ किसी भी समाज में काव्य, नाटक, किंबदंतियों, लोककथाओं, पौराणिक गाथाओं, सामाजिक मान्यताओं आदि स्वरूपों में ही विद्यमान हैं। इसी कारण इनका वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक हो गया गया है।

आज देश-विदेश में साहित्यिक आलोचना को अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया जा रहा हैं। वैज्ञानिकता का अर्थ कोई वैज्ञानिक विषय-वस्तु नहीं वरन् विषय-वस्तु पर बात या विवेचन करने की रीति अथवा तथ्यान्वेषण की प्रणाली है फलित ज्योतिष की तुलना में खगोल-विद्या इसलिए वैज्ञानिक नहीं है कि उसकी विषय-वस्तु भिन्न हैं अपितु इस-लिए वैज्ञानिक है कि वह एक ही वस्तु पर एक भिन्न दृष्टि से तथ्यान्वेषण द्वारा निष्कर्ष निकालती है। साहित्य का अध्ययन भी नवीन परिप्रेक्ष्यों में तथ्यान्वेषण की प्रणाली का सहयोग प्रदान कर वैज्ञानिक या विशिष्ट रूप से किया जा सकता है। समाजशास्त्र एक समाज-विज्ञान है और इसकी विषय वस्तु तथा अध्ययन प्रणाली इस प्रकार की है जिसके अन्तर्गत साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है। समाज शास्त्रीय अध्ययन का आधार वैज्ञानिक अध्ययन ही है।

समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन का अध्ययन है, समाज की उत्पत्ति, विभिन्न स्वरूप, प्रक्रियाएँ और उद्देश्य, उन्हें प्रभावित करने वाले कारक तथा सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले अन्य अनेक विषयों का अध्ययन है। 'समाज' एक व्यापक शब्द है और इसकी अवधारणा के अन्तर्गत आनेवाले प्रत्येक विषय समाज के लिए स्पृश्य हैं। संस्कृति का समाज से घनिष्ट सम्बन्ध है, अतः समाजशास्त्र 'समाज' का अध्ययन संस्कृति को साथ ले कर करता है। संस्कृति समाज की शक्ति है, धूरी है। समाज की भौतिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति के ज्ञान के लिए संस्कृति का अध्ययन आवश्यक है और संस्कृति के अध्ययन की विभिन्न इकाइयों में कला और साहित्य का अध्ययन अनिवार्य इकाई है। इस दृष्टि से इस पुस्तक में बहुत ही स्पष्ट

कारणों से संस्कृति की एक इकाई के रूप में साहित्य और कला के सामाजिक और समाजशास्त्रीय पहलुओं का अध्ययन अभिप्रेत है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से साहित्य का अध्ययन इसलिए आवश्यक है कि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों और उसके विस्तार एवं व्यवस्था में योग देने वाले तत्वों का अध्ययन है और साहित्य लेखक के समाज के विचार, भाव, भाषा, अंतःक्रियाओं, अभिवृत्तियों' अभिप्रेरणाओं और संवेदनाओं का प्रतीकात्मक अर्थीकरण है। धर्म, राजनिति, मनोविज्ञान. उद्योग, कानून आदि ऐसे ही तत्व हैं जिनसे सामाजिक सम्बन्धो और व्यवस्था का कार्य और संस्कार होता है।

इसलिए समाजशास्त्र-धर्म का समाजशास्त्र, राजनीतिक समाशास्त्र सामाजिक मनोविज्ञान, औद्योगिक समाजशास्त्र, विधि का समाजशास्त्र आदि का अलग-अलग विशेषी-कृत अध्ययन करता है, ताकि इनके द्वारा सामाजिक संरचना में होने वाले योग को भली-भाँति समझा जा सके। इन्ही की तरह साहित्य और कला भी ऐसे विषय रहे हैं जिनके द्वारा आदि युग से ही सामाजिक संगठन और सरचना में योग मिलता रहा है। इसलिए समाजशास्त्र को साहित्य और कला का भी अध्ययन करना आवश्यक हो गया। साहित्य और कला द्वारा सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले योग की ओर समाजशास्त्रियों का ध्यान धर्म, राजनीति, मनोविज्ञान आदि की अपेक्षा कम गया। जिसके कारण इसका समाजशास्त्रीय विशेषीकृत अध्ययन पिछड गया। किन्तु इधर हाल के दशकों में समाजशास्त्रियों का ध्यान इस ओर भी गया और सामाजिक संरचना में योग देने वाले तत्वों के रूप में इस पर भी विचार की श्रृंखला बंध गई है तथा धीरे-धीरे देश-विदेश में समाजशास्त्र के क्षेत्र में इसकी काफी चर्चा हुई है। लेकिन अभी तक समाज-शास्त्र अन्य की भाँति विशेषीकृत अध्ययन का स्पष्ट रूप नही पा सका है। इसका कारणयह है कि अभी तक उस पर स्वतन्त्र रूप से विचार की परम्परा नहीं बन पाई है। अब इस क्षेत्र की ओर विचारको ने गम्भीरता पूर्वक अध्ययन आरम्भ कर दिया है और इनका रचनात्मक स्वरूप सामने आ रहा है। कला के क्षेत्र में डॉ० राधाकमल मुखर्जी की कृति 'सोशल फंक्शन आफ आर्ट' और साहित्य के क्षेत्र में हैजिल डकन की कृति लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर इन सोसायटी ने अवधारणाओ

में साहित्य के समाज वैज्ञानिक अध्ययन का स्वरूप और पद्धति क्या हो, इसकी कोई विस्तृत और स्पष्ट स्थापना अभी तक नहीं हो पायी है। यह तभी सम्भव है जब समाजशास्त्रीय अवधारणों को पूरी तरह ध्यान में रखकर साहित्य का अध्ययन किया जाय। 'समाजशास्त्र' का विषय-क्षेत्र स्पष्ट है और किसी भी विषय के अध्ययन के लिए वह कुछ भूमि का प्रदान करता है। उन्हीं भूमिकाओं का प्रयोग इस पुस्तक में साहित्य और कला के विश्लेषण के लिए किया गया है।

२

साहित्य की समाज शास्त्रीय आलोचना का विकास

इतिहासकारों और दार्शनिकों ने किसी देश, जाति या युग की सभ्यता का विवेचन करते हुए उसके कलात्मक विकास के अध्ययन को विशेष महत्व प्रदान किया है। कला को समाज द्वारा प्राप्त 'सांस्कृतिक आदर्शों का साक्ष्य' कहा गया है। मानवशास्त्री आदिम समुदाय के लोगों की सांस्कृतिक स्थिति के वर्णन में उनकी कला की मुख्य रूप से विवेचना करते हैं जिसमें कला के विभिन्न रूप-कथा, कहानी, किम्वदन्तियाँ, गाथाऐं, चित्र, संगीत नृत्य, स्थापत्य, शिल्प आदि के विवेचन को मुख्य स्थान प्राप्त होता है क्योंकि ये ही किसी संस्कृति के मुखर प्रतीक हैं। पुरातत्ववेत्ताओं ने प्राचीन सभ्यता के खंडहरों में तत्सबन्धी कला की खोज करने में अथक परिश्रम किया है और इन खोजों के आधार पर अतीत का सफल चित्रण किया है। प्राचीन और आधुनिक युग के दार्शनिकों ने न केवल विभिन्न कलाओं के उत्पत्ति विषयक सिद्धांत ही निर्धारित किए हैं वरन् समाज के जीवन में कला के विविध कार्यों की भी व्याख्या की है। ऐसा करने से उनके अपने विषय के प्रतिपाद्य का विस्तार होता है और विषय क्षेत्र में समुचित विकास होता है। इन विविध क्षेत्रों के विद्वानों द्वारा कला-विवेचन पर दिए गए ध्यान की अपेक्षा समाज शास्त्री बहुत पीछे रह गए हैं। वस्तु-तत्व तो यह है कि समाजशास्त्री विवेचना के विकास के आरम्भिक युग में टेन स्पेंसर ग्रोसे, गुयान और वुंट आदि समाज शास्त्रियों ने ललित कलाओं पर विचार करने में उतना संकोच नहीं दिखाया जितना आज के समाजशास्त्री कर रहे हैं। फिर भी अब हमारा ज्ञान-क्षेत्र काफी परिवर्तित हो चुका है और कई समाज शास्त्री विद्वानों ने अपनी पूर्ण क्षमता से इस क्षेत्र में महत्व पूर्ण कार्य किया है इनमें डा० राधाकमल मुखर्जी वेलामी राउसेक बकन आदि

वैचारिक आंदोलन और साहित्य-समीक्षा में परिवर्तन

साहित्य की समाजशास्त्रीय आलोचना का विकास स्वयं साहित्य में होने वाले नवीन परिवर्तनों से आरम्भ हुआ। साहित्य के क्षेत्र में अठारहवीं शताब्दी में एक नया आंदोलन तब आरम्भ हुआ जब विज्ञान के व्यापक विकास के साथ वस्तुन्मुखी अनुसंधान की प्रक्रिया आरम्भ हुई। वैज्ञानिक विकास के पूर्व साहित्यिक आलोचना मे नैतिक और धार्मिक आदर्शों का प्राधान्य और उन्हीं के अनुशासन में साहित्य की सृष्टि होती थी। इस आदर्शवादी दृष्टि के पश्चिम के अन्तिम व्याख्याता ही गेल और फिक्टे माने गए हैं जिन्होंने साहित्य के सौन्दर्य को आत्मतत्व से समन्वित माना है। उनके मतानुसार जीवन के उदात्त पक्षों का निरूपण करना साहित्य का कार्य है। परन्तु ऐतिहासिक विकास में यह आदर्शवाद जीवन निरपेक्ष तत्वों से मुक्ति की ओर अग्रसर हुआ और सामाजिक पर्यावरण दिन-प्रतिदिन वैज्ञानिक आविष्कारों और रूढ़ियों, परम्पराओं, अंधविश्वासों आदि की निस्सारता सिद्ध करने के कारण तेजी से बंधन मुक्त हो रहा था। राजनीतिक और सामाजिक जीवन की व्याख्याएँ बदल रहीं थीं, नए सिद्धातों की स्थापना हो रही थी। समाज में चारों ओर बंधनों से मुक्त होने की प्रवृत्ति बदलती जा रही थी। इस चतुर्दिक सामाजिक स्वतत्रता का साहित्य पर भी तेजी स प्रभाव पड़ा और नितान्त आदर्शवादी विचारों को त्यागकर स्वच्छद विचारो के संप्रेषण की प्रवृत्ति साहित्य में बढ़ने लगी। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में रीति अथवा आदर्श के विरोध में स्वच्छदतावाद रोमैंटिज्म नाम का साहित्य आन्दोलन इसी परिवर्तन का सूचक था।

इस आन्दोलन ने एक और नया रूप तब अपनाया जब साहित्य को विभिन्न समाज विज्ञानों के परिप्रेक्ष्य में भी देखने का प्रयास आरम्भ हुआ। अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक, राजीनितशास्त्रियों आदि ने अपने विज्ञानों की विस्तृत स्थापना के उद्देश्य से संस्कृति की आदर्श-मूलक उपलब्धियों—कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि की विज्ञान सम्मत व्याख्या आरम्भ की और नई स्थापना, नए आयामों को जन्म दिया। इस नवीन आन्दोलन के समय पश्चिमी समाज में नाटक, उपन्यास, कहानी, काव्य, आदि भी महत्वपूर्ण भूमिका अदाकर रहे थे। अत: साहित्य को भी विभिन्न आयामों से देखा गया और उसकी उत्पत्ति, कार्य; कारण आदि के विषय

मे नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन होने लगा। अठारहवीं शताब्दी के मध्यभाग म फ्रांस में वाल्टेयर और जर्मनी में स्टेनवर्ग, लेसिंग, हर्डर आदि कई प्रमुख आलोचक इस नए आन्दोलन का साहित्य -क्षेत्र में नेतृत्व करते हुए दिखाई पडते हैं। फ्रांस की अठारहवीं शताब्दी की आलोचिका मम्-दे स्तेल ने साहित्य का अध्ययन सामाजिक संस्थाओं की सापेक्षता मे करते हुए 'लिटरेचर कन्सिडर्ड इन इट्स रिलेशन विथ सोशल इन्स्टिट्यूशन' नामक पुस्तक म प्रतिपादित किया कि धार्मिक या राजनीतिक धारणाओं का साहित्य पर अपरिहार्य प्रभाव पडता है। आन्द्रे शेनियर ने वातावरण, सामाजिक नियम, रीति-रिवाज और स्थानीय सामयिक परिस्थितियों से श्रेष्ठ साहित्य का कार्यकारणात्मक सम्बन्ध स्थापित किया है। वाल्टेयर ने साहित्य के समाज शास्त्रीय अध्ययन में जातिगत विशेषताओं पर जोर दिया है। उसने लिखा 'जिस जाति में स्त्रियाँ पराधीन हैं और परदे के अन्दर रहती हैं उसके साहित्य से उस जाति का साहित्य भिन्न होगा जिसमें स्त्रियाँ स्वाधीन रहती हैं। मामाण्टेल और शेनियर ने साहित्य को सामाजिक प्रक्रिया के रूप में आंकने का प्रयास किया है। अठाहरवीं शताब्दी के बाद इसी आलोचना की परम्परा उन्नीसवीं शती के समाज-विज्ञानों की परम्परा का अग बन गई।

१९ वीं शताब्दी के आरम्भ में वैज्ञानिक प्रगति के समाज पर पड़नेवाले तीव्र प्रभाव के कारण अठारहवीं शताब्दी में हुए परिवर्तन से कई कदम और आगे बढ़कर प्रभावित हुआ। साहित्य की दार्शनिक पीठिका पर विज्ञान का तेजी से असर पड़ने लगा। साहित्य क्षेत्र में भी विज्ञान की तटस्थ धारा का प्रचार बढ़ने लगा। वैज्ञानिक की प्रकृति के अध्ययन की तटस्थता और साहित्यकार के सामाजिक अध्ययन और सम्प्रेषण की तटस्थता क्रमश: निकट आने लगी। डारविन ने मानव-विकास सम्बन्धी अपने अनुसंधानों के द्वारा मनुष्य को पशु और वनस्पति जगत की प्राणिसत्ता के समीप पहुचा दिया था। डारविन का यह निरूपण आदर्शवादियों के लिए एक बड़ी चुनौती सिद्ध हुआ। इस वैज्ञानिक सत्य की स्वीकृति ने साहित्य-विचारकों को एक नया मोड़, नई यथार्थवादी दृष्टि दी। साहित्य में ऐसे विचारकों का एक युग आगया था जो सभी विज्ञान सम्मत तथ्यों, वैज्ञानिक पद्धति और प्रयोगात्मक पक्षों को प्रधानता देते थे। इस नवीन यथार्थवाद सम्बधी वैचारिक भूमिका

को सर्व प्रथम प्रस्तुत करनेवाला लेखक सेण्ट साइमन माना जाता है। जिसने साहस पूर्वक आधुनिक विज्ञान के साथ त्यागोन्मुख आदर्शों को जोड़ने की कोशिश की। औद्योगिक सभ्यता के विकास-क्रम में पूजी की वृद्धि के साथ निर्धनता की भी वृद्धि हो रही थी। समाज का एक बड़ा वर्ग साधनहीन और जीविका हीन हो गया था। सेण्ट साइमन ने १९ वीं शताब्दी के आरम्भ के साहित्यकारों और कलाकारों से यह अपेक्षा की कि एक ओर वे विज्ञान सम्मत सामाजिक और मानवीय यथार्थ का चित्रण करे और दूसरी ओर वे मजदूरों और दुखी जनों के कष्ट के निवारण की भी आवाज उठावें। उसने यह भी व्यक्त किया कि दर्शनका वास्तविक ध्येय सामाजिक होना चाहिए। परवर्ती विचारकों पर साइमन की इस विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा और विभिन्न समाजविज्ञानों का व्यावहारिक महत्व तीव्रता से बढ़ता गया।

समाजशास्त्रीय समीक्षा का आरम्भ

पिछले पृष्ठों पर हम बता आए है कि साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन का जो सूत्रपात अठारहवीं शताब्दी में हुआ, उसके दृष्टिकोण में तेजी से अन्तर आता गया। अठारहवीं शताब्दी तक तो स्वयं 'समाजशास्त्र' का अपने आधुनिक रूप मे उदय नहीं हुआ था। वस्तुतः समाशास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन तो फ्रान्सीसी विचारक ऑगस्ट कोम्त १७९८-१८५७ द्वारा तब आर-म्भहुआ जब नवीन विचार-स्थापना के साथ सर्वप्रथम सन् १९३८ में उसने सोसियोलाजी की व्युत्पत्ति की। कोम्त ने ही सर्व प्रथम सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए एक पृथक ज्ञान की आवश्यकता अनुभव की और उसका नाम उसने पहले 'सामाजिक भौतिक शास्त्र' और बाद में 'समाज शास्त्र' रखा। तब से लेकर अब तक समाजशास्त्र के क्षेत्र, पद्धति और प्रकृति में पर्याप्त परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ है फिर भी समाजशास्त्र की जो वैज्ञानिक नींव कोम्त ने डाली थी वह आज भी दृढ़ है। यद्यपि कोम्त के प्रयासों के पूर्व ही इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन और मूल्यांकनात्मक दृष्टिकोण से समाजशास्त्र को अभीष्ट रूप प्रदान करने में पर्याप्त सहायता की। लेकिन ऑगस्तकोम्त ने अभी तक के सभी अध्ययनों की अपेक्षा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सोचने का एक नया आयाम दिया। उसने विज्ञान के सत्य को ही सत्य मानकर एक अन्य तत्व का भी उद्घोष किया जिसे 'क्रिया-तत्व,

की संज्ञा दी। इस प्रकार सत्य और क्रिया के योग से एक गतिशील दर्शन का आविर्भाव हुआ जिसमें वैज्ञानिकता के साथ साथ सामाजिक जीवन के नैतिक पक्षों पर भी ध्यान दिया गया था। तत्कालीन सामाजिक क्रांति और अव्यवस्था के समय में चिन्तन करनेवाले कोम्त ने समाजशास्त्र को समाज के सम्यक पुनर्निर्माण के साधन के रूप मे देखा परन्तु वह एक ऐसा आदर्शवादी था जो सामाजिक विकास को बौद्धिक विकास का प्रतिफल समझता था।

कोम्त के पूर्व भी अनेक विचारकों ने सामाजिक घटनाओं (Social Phenomena) या सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर विचार व्यक्त किया था। परन्तु कोम्त ही सर्वप्रथम सामाजिक विचारक थे जिन्होंने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन क्षेत्र से कल्पना या अनुमानित विचारों को दृढता से निकाल कर उसे वैज्ञानिक तथ्यों से सींचा। यह कार्य तब सम्भव हुआ जब सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया गया जिसके सूत्राधार ऑगस्ट कोम्त हुए। साहित्य को भी एक सामाजिक घटना के रूप में स्वीकृति इसी समय मिली। इसे साहित्य में वैज्ञानिक दृष्टि का प्रथम पुष्ट चरण कहा जा सकता है। इस नई प्रणाली के प्रयोग के साथ समाजशास्त्र का अनेक विषयों—विशेषकर गणित, सांख्यिकी, उद्योग, राजनीति, युद्ध धर्म, मनोविज्ञान कला, साहित्य आदि से सम्पर्क बढ़ा और समाज शास्त्र के साथ इन विषयों को भी नवीन रूप प्राप्त हुआ। उदाहरण के लिए 'धर्म का समाजशास्त्र' युद्ध का समाजशास्त्र राजनीतिक समाजशास्त्र, औद्योगिक समाजशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान कला का समाजशास्त्र आदि समाज शास्त्र की शाखाओं के रूप में अपने मूल रूप के समानान्तर एक नया रूप लेकर बढ़े। इसी प्रकार समाजशास्त्र में साहित्य का भी अध्ययन लोकप्रिय हुआ जिसके परिणाम स्वरूप 'साहित्य का समाज-शास्त्र' एक स्वतंत्र शाखा के रूप में समाजशास्त्र के अध्ययन का विषय बन गया।

वस्तुतः विशिष्ट या साधारण विषय के नाम का उतना महत्व नहीं है जितनी उनकी विषय सामग्री का समाजशास्त्र 'समाज-संगठन' का वैज्ञानिक अध्ययन है और इस संगठन में योग देने वाले जो भी विषय हैं, सबका समाजशास्त्र से सम्बन्ध है, सभी में समाजशास्त्रीय अध्ययन की, सामाजिक संगठन की सामग्री उपस्थित है। इसी कारण विभिन्न विषयों के समाजशास्त्रीय

अध्ययन की परम्परा बन चुकी है। किन्तु साहित्य में सामाजिक संगठन के अध्ययन की विशेष सामग्री होने के बावजूद भी समाजशास्त्र में इस विषय पर पर्याप्त विचार नहीं हुआ। अभी भी साहित्य के समाजशास्त्र पर जो विचार हो रहा है उसमे स्वतंत्र दृष्टिकोण, स्वतंत्र स्थापना का अभाव है। लेकिन फिर भी इस ओर विचारकों ने अब ध्यान दिया है जो इस क्षेत्र मे नवीन उपलब्धियो का सूचक है। साहित्य का समाजशास्त्र पर विचार करने वाले समाजशास्त्रियों में केनिथ बर्क, हेण्डरमन, हैरीलेविन, शुसकिंग, एडविन सेलिगमैन, कैम्पबेल स्टीवर्ट, एच० डी० डंकन, लियोलावेथल, जोट्शोल्क, टी. बोटोमोर, राधाकमल मुखर्जी आदि विचारकों के नाम प्रमुख हैं।

आज साहित्य की सामाजशास्त्रीय व्याख्या के ३ रूप देखने को मिलते हैं–पहले मे आलोचक का वह वर्ग आता है जो मूलतः साहित्यिक उद्गमन (लिटेरचर इमर जेन्सी) का होता है; दूसरे वर्ग में वे आलोचक हैं जो किसी रूढ़ वैचारिक परम्परा से सम्बद्ध है और हर चीज की व्याख्या आलोचना एक विशेष दृष्टि से करने के आग्रही होते हैं जैसे मार्क्सवादी आलोचक। मनोविश्लेषणवादी आलोचकों का स्थान भी इन्ही के साथ है। तीसरा, साहित्य की समाजशास्त्रीय आलोचना का वर्ग मूलतः समाजशास्त्रियो का है जो समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के विद्वान है और समाजशास्त्र विषय की दृष्टि से साहित्य की आलोचना प्रस्तुत करते हैं। इस तीसरे पक्ष की अपेक्षा पूर्व के दोनों पक्षों में भटकाव की संभावना रहती है जिसके फलस्वरूप समाजशास्त्रीय आलोचना का बहुत गलत अर्थो में प्रचार हुआ है। मूल अर्थ की भिज्ञता के लिये मूल विषय–समजशास्त्र–का परिचय आवश्यक है। संक्षेप में प्रथम और द्वितीय वर्ग की आलोचना का विवेचन करने के पश्चात मूल विषय पर आऊंगा।

साहित्यिक आलोचना

इस वर्ग के आलोचक वे हैं जो स्वयं लेखक, कहानीकार, नाटककार, उपन्यासकार, या कवि हैं और सामाजिक परिप्रेक्ष्य की विवेचना के साथ कृतियों के गुण-दोष की चर्चा करते हैं। ये आलोचक साहित्य के विभिन्न समाजगत प्रेरणा-केंद्रों का अध्ययन करते हुये साहित्यिक मूल्यों को प्रमुखता देते हैं। साहित्य और कला विवेचन में इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र तथा दूसरे विषयों का सहारा लेते हैं पर मूल भूमिका साहित्यिक

ही बनी रहती है। इस दृष्टि से ये आलोचक अधिकांशतः मूल्यांकन के स्तर पर पहुँच जाते हैं और कृति तथा समाज के सम्बन्धों की व्याख्या अपने वैयक्तिक विचारों, भावात्मक या प्रभावभिव्यंजक शैली में करते है। इसकी एक विशिष्ट परम्परा बनी हुई है। इसीलिए साहित्य शब्द ने इतना जनप्रिय अर्थ प्राप्त कर लिया है। किन्तु यह गभीर स्थिति आज केवल साहित्य की ही नहीं वरन् विज्ञान, कला, दर्शन आदि की भी यही दशा है। लेकिन इससे इनके वैशिष्ट्य ह्रास का कोई संकेत नहीं मिलता बल्कि यह इनके परिधि-विस्तार और जन सामान्य से नैकट्य की सूचना है। जैसे-जैसे सामाजिक जीवन का बौद्धिकता की ओर विकास होता जायगा। वैसे ही वैसे ये विषय जनप्रिय होते जायेंगे।

साहित्य' शब्द की पूर्ण प्रतीति तब हो सकती है जब इसे साहित्य की कला' अथवा 'भावनामूलक साहित्यके रूप में सीमित करके देखाजाय। मानव में कुछ ऐसी प्रवृत्तियां हैं जो उसे सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्याभिव्यक्ति की प्रेरणा देती हैं। इसी प्रेरणा से कला का जन्म होता है। जब मानव अनुभूति लालित्य पूर्ण (सौन्दर्य पूर्ण) भाषा-प्रतीकों के आयाम से अभिव्यक्त होती है तो वही 'साहित्य' का रूप ग्रहण करती है यह साहित्य अन्य सभी व्यापक अर्थी साहित्य से भिन्न और मूल साहित्य है।

१८ वीं शतीतक साहित्य की विवेचना अभिव्यंजनावाद, शब्दार्थ के सहभाव अथवा आभ्यंतर रस पक्ष से आगे न बढ़पाई थी। किन्तु क्रमशः यह परम्परा सामाजिक प्रेरणा और सामाजिक उपयोगिता की ओर उन्मुख हुई। समाज और साहित्य के कार्य कारणात्मक सम्बन्ध के विवेचन पर आलोचक वर्ग केन्द्रित होने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी में साहित्य के इतिहास लेखन को वैज्ञानिकता मिली और साहित्य तथा समाज के अन्तरावलम्बन को लेकर विशद् विवेचन सामने आया। टेन का कहना है कि किसी युग की सांस्कृतिक अन्विति का अध्ययन 'जाति-धर्म, युग-धर्म और सामाजिक प्रवृत्तियों (ल रेस, ल मिलियो एव ले मोमेन्त) के समीकृत अध्ययन से हो सकता हैं। इस सम्बन्ध में एक और महत्व पूर्ण स्थापना क्रिस्टोफर कॉडवेल के ग्रंथ (१९३७) से आरम्भ हुई जिसमें साहित्य के समाजगत और मनोवैज्ञानिक स्रोतों की शोध हुई है। कॉडवेलका मूल विषय काव्य-विकास के स्रोतों तथा काव्य की प्रकृति और उसके विकास सरणियों का उद्घा-

टन है, परन्तु उसने इतिहासकार के दृष्टिकोण को अपनाकर इन विषयों पर विस्तृत सूचनायें प्रस्तुत की है जो इस विकास के क्रमागत स्वरूप निर्माण के साथ जगह-जगह पर तत्सबन्धी धारणाओं का भी निर्माण करती है। रेल्फ फ़ाक्स के ग्रंथ 'दी नावेल एण्ड पीपुल' (१९३७) और एलिजाबेथ मनरो की रचना (१९४) में इस प्रसंग पर नवीन प्रकाश डाला गया है।

इसी परम्परा का एक रूप साहित्य और कला के प्रयोजन या उद्देश्य के सैद्धांतिक विकास की ओर केन्द्रित हुआ और विभिन्न प्रश्न उठाए गए। कला-कला के लिए अथवा समाज के लिए ? साहित्य किस लिए ? स्वयं के लिए ? स्वयं के लिए अथवा दूसरों के लिए ? साहित्य का अंतिम प्रयोजन क्या है आत्म तुष्टि या समाज कल्याण ? साहित्य की श्रेष्ठता का माप दण्ड क्या है ? साहित्यकार की उपलब्धि क्या है ? इन प्रश्नों ने साहित्य क्षेत्र में विचार का नया मोड़ लिया। इस विषय का विवेचन कला संश्लेषण के अध्याय में विस्तार से किया जायगा।

आग्रही आलोचना

साहित्य और कला के क्षेत्र में एक और आन्दोलन का सूत्रपात हुआ-कार्ल मार्क्स और सिगमण्ड फ्रायड की विचारधाराओं के उदय के साथ। मार्क्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की बात कहकर समाज में वर्ग संघर्ष की विचारधारा का और सिगमण्ड फ्रायड ने मनोविश्लेषण को आधार बना कर मानव के अचेतन-मन में दमित कामेच्छाओं को ही सभी व्यहारो का उत्स मानने का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया उससे सम्पूर्ण विचार जगत में एक नया आन्दोलन आरम्भ हुआ। जीवन स्थिर और अपरिवर्तन नहीं है, वह निरन्तर गतिशील है, किन्तु प्राचीन के प्रति मोह और नवीन के प्रति आकर्षक के फल स्वरूप द्वन्द्व उपस्थिति हो जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यही द्वन्द्व वर्ग संघर्ष के रूप में प्रकट हुआ है। कार्ल-मार्क्स के अनुसार मानव जाति के विकास का इतिहास उत्पादन और वितरण के साधनों और वर्ग संघर्ष के दो फूलों के बीच प्रवाहित होता है और उसी संघर्ष के अनुकूल समय-समय पर सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक आदर्श निर्मित होते रहें हैं। इस प्रकार की विचारधारा का साहित्यिक आलोचना पर व्यापक प्रभाव पड़ा जिसे साहित्य में समाजवादी

या प्रगतिवादी आलोचना के नाम से भी अभिहित किया गया। समीक्षा क्षेत्र में यह विभिन्न पद्धतियों की भांति एक पद्धति या दृष्टिकोण मात्र है। किंतु इस क्षेत्र के समीक्षकों ने अपनी पद्धति को इतने कठोर और रूढ़ आग्रह के साथ प्रस्तुत करना आरम्भ किया कि स्वयं इसके भीतर ही बहुत सी असगतियां, विरोधाभास और वितर्क घर कर गए। एक बड़े भारी भ्रम का भी जोर-शोर से प्रचार हुआ कि मार्क्सवादी आलोचना पद्धति ही वैज्ञानिक पद्धति है और यही समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति है। वस्तुतः संकुचित सीमा के भीतर मण्डूप की भांदि रहने के कारण यह एक दुराग्रह है और अपने ही स्तर को नीचा करने का प्रयास है। यदि मार्क्सवादी आलोचना को सिर्फ मार्क्सवादी ही कहा गया होता तो इसकी कोई हानि नहीं हुई होती, किन्तु अपने मूल अधिकार क्षेत्रों पर विस्तार का जो दुराग्रह किया उससे मूल मार्क्सवादी आलोचना की ही हानि हुई। संक्षेप में मार्क्सवादी आलोचना के विकास, सिद्धांन्त और उसके साथ जुड़े हुए दुराग्रह को देखने का प्रयास करूंगा।

मार्क्स और एंजिल्स मूलतः आर्थिक-राजनीतिक विचारक थे। मार्क्स और एंजिल्स की साहित्य में गहरी दिलचस्पी थी और कहा जाता है कि मार्क्स ने बालजक की विस्तृत समीक्षा भी लिखने का विचार किया था, परन्तु राजनीतिक व्यस्तताओं के कारण यह संकल्प पूरा न हो सका। यदि यह संकल्प पूरा होता तो बहुत शुभ होता, क्योंकि तब हमें मार्क्स की प्रणाली और कला एव साहित्य संबंधी विचारों को समझने का विस्तृत और स्पष्ट अवसर मिलता। मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की पद्धति मे कला, विशेषतः साहित्य का क्या स्थान है, इसे जानने के लिए आज हमारे पास मार्क्स की प्रचलित विचारधारा, विभिन्न ग्रंथो में आए कला अथवा साहित्य संबधी इतस्तः उल्लेख तथा पत्रों और सामयिक समीक्षाओं में साहित्यिक कृतियों अथवा साहित्यकारों पर प्रकट किए हुए सक्षिप्त विचार, इतनी ही सामग्री उपलब्ध है। मार्क्स की विचारधारा को बाद में एक राजनीतिक विचार धारा और व्यवस्था के रूप में ग्रहण कर लिए जाने के कारण साहित्य और कला भी उसी प्रवाह में आ गई और उन्ही सदर्भो में उस पर विचार प्रकट किया गया। रूस में साम्यवादी विचार-धारा के विकास और तदनुरूप सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के अंतर्गत

साहित्य और कला की स्थिति और कार्य की भी विस्तृत व्याख्या की गई जो मार्क्सवादी विचारधारा को नए मोड़ के साथ प्रस्तुत करती है। वस्तुतः इन्हीं बाद के विचारकों के कारण मार्क्स का मूल विचार और आशय तो प्रायः प्रच्छन्न हो गया और वह एक नई संकुचित और आग्रही सीमा में बँध गया।

मार्क्स साहित्य की एक सार्वभौमिकता की कल्पना करता है जो वर्गहित ही नहीं, सामाजिक आनन्द की सृष्टि भी करता है। एक स्थानपर उसने स्पष्ट भी किया है कि 'कठिनाई यह समझने में नहीं है कि ग्रीक कला और काव्य सामाजिक विकास के कुछ रूपों से सम्बद्ध हैं, जानने की बात यह है कि आज भी हमारे लिए वे कुछ सूरतों में सौन्दर्यात्मक आनन्द के स्रोत तथा असाध्य आदर्श और नमूने क्यों बने हुए हैं ?' लेकिन मार्क्स के शायद किसी भी उत्तराधिकारी ने इसका उत्तर नहीं दिया और न ही इस प्रश्न को कभी ईमानदारी से दुहराया। किसलिए साहित्य को यह युग-युग व्यापी शक्ति मिलती है ? क्या केवल इसलिए कि साहित्य शासक वर्ग का हथियार है, या तत्कालीन समाज की अनुकृति है, या इसलिए कि वह इसके अतिरिक्त भी, इसके बावजूद भी कुछ और है ? इन प्रश्नों का उत्तर मार्क्सवादी विचारकों को मार्क्स की मूल विचारधाराओं को ध्यान में रखकर देना अभी शेष है। साहित्य की सार्वभौमिकता और सौंदर्य अथवा अनुभूति की गहराई,केवल विषय-वस्तु को पाठक तक पहुचाने का स्वरूप या माध्यम नहीं है। वह कलात्मक उपलब्धि का चरम आदर्श है इसलिए वह आलोचक के अनुशीलन का क्षेत्र है, कृतिकार का प्राण है। साहित्य की सफलता उसकी उत्तेजक शक्ति तक ही सीमित नहीं है। आलोचक चाहे सामाजिक विकास के नियम से कितनी ही अच्छी तरह परिचित क्यों न हो, सिर्फ इतना ही उसके लिए काफी नहीं है। मार्क्स का स्पष्ट निर्देश है, 'कला का आनन्द उठाने के लिए आवश्यक है कि आदमी कलात्मक रूप से सुसंस्कृत हो।'[१]

यह भी ज्ञातव्य है कि मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में हीगल के अद्वैतात्मक नियतिवाद का अंश काफी हद तक मौजूद है, विशेषतः उन

१. मार्क्स : इकोनामिक फिलासफिक मैन्युस्क्रिप्ट, १८८४

स्थानों पर जहाँ मार्क्स आकड़ों से न जूझकर शुद्ध दार्शनिक खंडन–मंडन मे व्यस्त हो जाता है। भेद आग्रह का है परन्तु नियतिवाद और प्रयोगात्मक प्रयास, दोनों की शाखाएँ फूटती हुई दिखाई पड़ती हैं। परवर्ती मार्क्सवादियों मे इस आग्रह भेद से परस्पर विरोधी विचारधाराओं और राजनीतियों की टकराहट सर्वविदित है। लेकिन यह हठ कि साहित्यकार राजनीतिक भूमिका भी ग्रहण करे, राजनीतिक गतिशीलता की तुलना में कलाकृतियों को निम्न समझा जाय, मार्क्सवादी साहित्यिक दृष्टि की मूल स्थापना से भिन्न है। यह घटना बाद में घटी जिसके प्रमुख उत्तरदायी प्लेखानोव ने साहित्य को वर्गों की, विशेषतः शासक वर्ग की अभिव्यक्ति कहकर एक कड़ी और जोड़ी। इस नई दृष्टि ने मार्क्स की मूल विचारधारा को पीछे ही नहीं छोड दिया, परिवर्तित भी कर दिया। प्लेखानोव कहता है "कला का काम सैद्धांतिक विषय वस्तु के बिना नहीं चल सकता। लेकिन जब कलाकार अपने समय की सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक प्रवृत्तियों की ओर से आँख मूंद लेता है, उसकी कृतियों में व्यक्त किए गए विचारों का मूल्य काफी घट जाता है। परिणाम यह होता है कि स्वयं कृतियों की क्षति होती है। यह तथ्य कला और साहित्य के इतिहास के लिए इतना महत्वपूर्ण है कि उसका निरीक्षण हर पहलू से होना चाहिए।"[२]

इसकी तुलना एंजेल्स से कीजिए:

"अंतिम दो अंकों में स्पष्ट है कि तुम बिना कठिनाई के कथोपकथन को सजीव और प्रवाहयुक्त बना सकते हो ... ... अतः मुझे इसमें सन्देह नहीं कि अपने नाटक को रंगमच के लिए प्रस्तुत करते समय तुम इसका ध्यान रखोगे। निस्संदेह इससे सैद्धांतिक वस्तु को क्षति पहुँचेगी, पर यह अनिवार्य है। ... ... मेरी राय में सैद्धांतिक तत्वों के लिए सजीव यथार्थ को नहीं छोड़ना चाहिए। शिलर के लिए शेक्सपीयर को नहीं भूलना चाहिए।"[३]

इसके बावजूद प्लेखानोव घोषित करते हैं,

"जिस प्रकार सेव के पेड़ से सेब ही पैदा होगा और नाशपाती के पेड से नाशपाती ही उसी, प्रकार जो भी कलाकार मध्यवर्गीय दृष्टिकोण ग्रहण

२. प्लेखानोव: कला और समाजिक जीवन

३. एंजेल्स: लासाल को पत्र, मई १८५९।

करेगा, अनिवार्यतः श्रमिक आन्दोलन के विरुद्ध हो जायगा ··· । ह्रास के युगो में कला अनिवार्यतः ह्रासोन्मुख हो जायगी ।" [४]

स्पष्ट है कि प्लेखानोव का आग्रह मार्क्स से भिन्न है। प्लेखानोव ने समाज के आर्थिक विकास और कला में कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित किया है। वह पूछता है 'क्या यह किन्हीं स्तरों पर सम्भव है कि स्थिति और चेतना के बीच एक ओर समाज की अर्थ नीति और टेकनीक तथा दूसरी ओर उसकी कला के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध का निरीक्षण किया जा सके ?" और उत्तर देता है, "कला का विकास उत्पादक शक्तियों के साथ कार्य-कारण सम्बन्ध है, चाहे वह सम्बन्ध सदा सीधा हो ।"[५] लेकिन मार्क्स का विचार है कि समाज साहित्य के लिए सीमाएँ निर्धारित करता है, परन्तु साहित्य की हर गति का कारण नहीं बनता ।

सैद्धांतिक दृष्टि से लेनिन और प्लेखानोव की साहित्यिक दृष्टि मे बहुत अंतर नहीं है । लेनिन का कहना है कि' साहित्यक कार्य पूर्णतया मजदूर-कार्य का अंश बन जाना चाहिए । उसे एक बृहद् एवं समवेत 'सोशल डिमोक्रेटिक मशीन, का पुरजा बन जाना चाहिए जिसका परिचालन समस्त मजदूर वर्ग का जागरूक हरावल करे । इसी आधार पर १९४६ में सोवियत रूस की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के इस आज्ञा-पत्र पर विचार कीजिए, 'चूँकि जनता की कम्युनिस्ट शिक्षा के माध्यम के रूप में रंगमच का अत्याधिक महत्व है इसलिए केन्द्रीय समिति कला--समिति तथा सोवियत-लेखक-संघ की परिषद को आदेश देती है कि समकालीन सोवियत जीवन पर नाट्य रचना की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करे, । [६]स्पष्ट है कि साहित्य को तेजी से संकुचित घेरे में बांधने का प्रयास किया गया । कल्पना, उन्मुक्तता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और साहित्य की गतिशीलता से इनका कोई मतलब नहीं रहा ।

समाजवादी यथार्थ के आगमन के साथ मार्क्सवादी आलोचना का तीसरा, अर्थात कम्युनिस्ट-युग प्रारम्भ होता है जिसमें कम्युनिस्ट-पार्टी के

---

४. प्लेखानोवः कला और सामाजिक जीवन ।

५. प्लेखानोवः वही ।

६- सोवियत नाटक पर केन्द्रीय समिति का प्रस्ताव- २६ अगस्त १९४६

अभ्युदय की कहानी और साहित्य एक स्वर हो गया। साहित्य अब पूरे तौर से हथियार हो गया और साहित्यकार 'समाज का प्रतिबिम्ब' न होकर मानव आत्मा का शिल्पी हो गया। रूस में घोषणा की गई 'सोवियत साहित्य की, जो संसार का सबसे प्रगतिशील साहित्य है, प्राण शक्ति इसी में है कि उसके लिए जनता और राज्य के हितों के अतिरिक्त न कोई उद्देश्य है और न हो सकता है।' यहां 'राज्य' और 'जनता' (मजदूर वर्ग) का अर्थ समझने में कोई भ्रम न होना चाहिए।

एक ओर साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब, फिर धीरे धीरे वर्ग प्रतिबिम्ब, फिर मजदूर वर्ग का प्रतिबिम्ब बन गया, दूसरी ओर जनता को समेटकर मजदूर वर्ग, फिर मजदूर वर्ग को कम्युनिस्ट पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी को भी पार्टी नेतृत्व में केन्द्रित कर दिया गया। इस निश्चित परिणति को गति इसलिए भी और मिली की इससे साहित्य का कार्य अत्यधिक सरल और लक्ष्योन्मुख हो गया, जो एक 'हथियार' के लिए आवश्यक है। मार्क्सवाद के प्रसिद्ध आलोचक कॉडवेल और लूकाक्स भी इन्हीं असंगतियों के भीतर सीमित रह गए। कॉडवेल का विचार है कि महान कला का सृजन वर्गहीन समाज म ही होगा। इस बीच मजदूर वर्ग अपनी अभिव्यक्ति मध्यवर्गीय शब्दों और धारणाओं के माध्यम से करने का प्रयास कर रहा है तथा मध्यवर्गीय लेखक-गण अपनी धारणाओं को मजदूर वर्गीय व्यवहार में उतारने की चेष्टा कर रहे हैं।

ऊपर की विवेचना से मार्क्सवादी आलोचना का मूल, विकास और सीमा स्पष्ट हो जाती है। आज कल तो मार्क्सवादी आलोचना अत्यन्त रूढ़ हो गई है। अपनी सरहद के भीतर वह भी ठीक है। किन्तु जब ये आलोचक अपनी सीमा के बाहर निकल कर अन्य पर अधिकार का प्रयास करते हैं तो एक और समस्या खड़ी होती है। कॉडवेल और लुकाक्स इसी आलोचना को जब मूल समाजशास्त्रीय आलोचना कहते हैं तो, या तो फिर समाजशास्त्र की सीमा पर सन्देह होता है या फिर इन आलोचकों के ज्ञान पर ही। हिन्दी के आलोचक भी इसी भ्रम में है। प्रश्न यह है कि 'समाज', 'समाजवाद', 'साम्यवाद' और 'प्रगतिवाद' आदि शब्दों के प्रयोग और व्यापक प्रचार मात्र से क्या कोई आलोचना समाजशास्त्रीय होने का दावा कर सकती है। हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचक डा० देवराज ने प्रतिपादित किया

है कि, "समाजशास्त्रीय आलोचना को आलोचक की एक प्रमुख दृष्टि या प्रणाली के रूप में अभिहित करने का अधिकांश श्रेय मार्क्सवाद को है।"[७] ऐसा ही विचार पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का भी है। किन्तु उन्होंने शायद यह जानने का प्रयास भी नहीं किया कि मार्क्सवाद से अलग समाजशास्त्र भी कुछ है या नहीं। वास्तव में यह बहुत बड़ा भ्रम है जिसका मूलकारण प्रथमत, आलोचना विशेष के मानदण्ड के प्रति अतिशय पूर्वाग्रह है जो ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है और द्वितीय समाजशास्त्र के विषय से पूर्ण अभिज्ञता है। कभी भी साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या समाजशास्त्रीय नहीं है। वस्तुत यह आलोचना प्रणाली वर्ग भावना तथा आर्थिक विश्लेषण सम्बन्धी अतिवादी दृष्टिकोण को आधार बनाकर आज राजनीतिक प्रचार के माध्यम के रूप में अपनाई गई है जो समाजशास्त्रीय आलोचना से पूर्णतया भिन्न और दूर है। समाजशास्त्रीय आलोचना का दावा कोई तब तक नहीं कर सकता जब तक व्यापक दृष्टि से 'समाजशास्त्र' विषय का उसे ज्ञान न हो।

मार्क्सवाद के अतिरिक्त आग्रही आलोचना का दूसरा रूप मनोविश्लेषण-वादी आलोचना में देखने को मिलता है। मनोविश्लेषणवाद के सिद्धान्त के अनुसार कला और धर्म दोनों का उद्‌भव अचेतन मानस की दमित इच्छाओं (काम)-प्रेरणाओं में होता है। इसी काम शक्ति के उन्नयन के फलस्वरूप कलाकार सर्जन करता है। फ्रायड के कला विषयक सिद्धान्त ने कला के आलोचकों को काफी सीमा तक प्रभावित किया और उनके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त ने आधुनिक कथा साहित्य को काफी साहित्यिक प्रेरणा दी है किन्तु मनोविश्लेषण के दमित कामेच्छा के सिद्धान्त की अति ने साहित्य में विरोधी भावना को भी जन्म दिया। स्वयं फ्रायड के इस सिद्धान्त का मनोविश्लेषणवादियों ने अनेक स्थलों पर खण्डन किया है और सभी क्रियाओं का मूल कामेच्छा मानने से इन्कार किया है। कला के क्षेत्र में इस आलोचना के फलस्वरूप उत्पन्न डाडाइज्म, सुरियलिज्म और नूतन विचार आंदोलनों का सूत्रपात हुआ। सामाजिकता के स्थान पर उनमें व्यक्ति स्थापना अधिक महत्वपूर्ण होने लगी। व्यक्तित्व

---

७. "आलोचना" (पत्रिका) १९५१ पृष्ठ ३९।

के अन्तर्द्वन्द्व के एकान्त काल्पनिक पक्ष के द्वारा बौद्धिक चित्रण के कारण कला और साहित्य की मूल अभिव्यंजना को आघात पहुंचता है। फिर भी मार्क्सवाद की अपेक्षा मनोविश्लेषणवाद ने साहित्य को अधिक सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से अधिक ठोस भूमिका प्रदान किया है जिसमे साहित्यकार, पाठक और समाज की मनःस्थिति का वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि सबसे बड़ी उपलब्धि है।

मनोविश्लेषणवादी आलोचना का मूल यह है कि साहित्य की सृष्टि की बाह्य या सामाजिक चेतना के आधार पर उतनी नहीं होती जितनी उसकी अव्यक्त या अन्तरंग चेतना के आधार पर होती है। इस अतरंग चेतना का विश्लेषण फ्रायड ने एक विशेष दृष्टि के रूप में किया जिसका मुख्य तथ्य यह है कि मानव का मूल या अचेतन मानस ही वह आधारभूत सत्ता है जिस पर व्यक्ति की शैशवावस्था से ही अनेक विरोधी संस्कार पड़ते हैं और कुंठाए बनती हैं। सामाजिक जीवन मे वे कुंठाए बुद्धि द्वारा शासित रहती है किन्तु स्वप्नावस्था में विद्रोह करती हैं और इच्छा तृप्ति का मार्ग निकालती हैं। साहित्य में भी यह इच्छा तृप्ति की प्रक्रिया चला करती है विशेष कर काव्य और कल्पना प्रधान साहित्य में काव्य की समस्त रूप-सृष्टि इस मूलभूत इच्छा तृप्ति का ही एक प्रच्छन्न प्रकार है। स्पष्ट है कि यह सिद्धांत साहित्य की उत्पत्ति-क्रिया का निर्देश करता है और विभिन्न साहित्यिक कृतियों की मूलभूत प्रेरणाओं का विश्लेषण करता है। परन्तु यह किसी साहित्य की पूर्ण आलोचनान हीं हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्सवादी और मनोविश्लेषणवादी पद्धतियाँ दो पृथक सिद्धान्तों का आग्रह करती हैं। एक साहित्यकार या कृति के बहिरग सामाजिक, राजनीतिक पर्यावरणका आग्रह करती है.दूसरी रचनाकी अंतरग, व्यक्तिगत प्रक्रिया पर बल देती है। इस दृष्टि से दोनों आग्रह विशेष पर आधारित एकांगी आलोचनाएं हैं। समाजशास्त्रीय आलोचना इन दोनों से अपेक्षित सहयोग लेती है और अपनी भिन्न मूल स्थापना रखती है।

वास्तव में साहित्य का सम्बन्ध दार्शनिक अतिवादों से न होकर जीवन से है। चाहे मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद हो अथवा कोई अन्य वाद, जो भी साहित्य इस प्रयास में पड़ता है वह सैद्धान्तिक आग्रह की सीमा से बाहर नहीं आ पाता। विश्वजनीनता उसी साहित्य में आ पाती है जो सहज आत्मा

भिव्यक्ति के सर्जक होते हैं और किसी भी तरह के आग्रह से मुक्त स्वतंत्र चेता होते हैं।

समाजशास्त्रीय आलोचना

उक्त विवेचन से एक बात जो स्पष्ट होती है वह यह कि विभिन्न आयामों से गुजरने के दौरान साहित्य की आलोचना का विविध दृष्टिकोण पर्याप्त विभाजन और विषय सापेक्ष्य रूपरेखा प्राप्त करता गया। साहित्य की आचारशास्त्री आलोचना, मनोवैज्ञानिक आलोचना, मार्क्सवादी आलोचना, शास्त्रीय आलोचना, आदि का रूप स्पष्ट होता जा रहा है और इसके साथ ही समाजशास्त्रीय आलोचना ने भी एक दिशा प्राप्त कर ली है। किन्तु समाजशास्त्रीय आलोचना के साथ अभी भी समाजवादी आलोचकों ने भ्रम फैलाए रखने का प्रयास किया है। तथापि शीघ्र ही व्यापक स्थापना के बाद यह भ्रम दूर हो जायगा।

समाजशास्त्रीय आलोचना के समय कुछ ऐसे मौलिक प्रश्न उठाए जा सकते है जिनसे सामान्य पाठक को भी विषय से पूर्ण तादात्म्य हो जाय, यथा समाजशास्त्र क्या है ? साहित्य और कला के साथ इसका क्या सम्बन्ध है ? समाजशास्त्रीय आलोचना का मानदण्ड क्या है ? किन आधारों पर आलोच्य कृति का विवेचन होता है ? आदि। वस्तुतः इन प्रश्नों के हल के साथ ही समाजशास्त्रीय आलोचना का निखरा रूप स्वतः स्पष्ट हो जायगा।

बहुत समय तक यह एक निश्चित धारणा थी कि सामाजिक घटनाओं के अमूर्त होने के कारण, वे वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र से बाहर हैं, इनका वैज्ञानिक अध्ययन असंभव है। इस भ्रम को दूर करने का श्रेय फ्रेंच सामाजिक विचारक ऑगस्त काम्त को है जिसके अनुसार अनुभव, निरीक्षण, प्रयोग तथा वर्गीकरण की व्यवस्थित कार्य प्रणाली या पद्धति द्वारा न केवल प्राकृतिक घटनाओं का ही अध्ययन संभव है अपितु समाज और उसके घटक तत्वों का भी अध्ययन संभव है। प्राकृतिक घटनाओं के ही अनुसार मानवीय और सामाजिक घटनाएँ भी आकस्मिक नही होती बल्कि वे भी कुछ (निश्चित और लोचदार) सामाजिक नियमों के अंतर्गत आती हैं और उनसे निर्देशित होती हैं। सामाजिक घटनाएँ केवल ईश्वर की इच्छाओं के अनुसार ही नही घटतीं वरन् प्रत्येक सामाजिक प्रकियाओं के अनेक तार्किक आधार होते है। प्रकृति और प्राकृतिक घटनाओं की ही भांति समाज और सामा

जिक जीवन भी गतिशील तत्वों पर आधारित है। अतः उनका भी समाज-वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है। काम्त का विश्वास था कि सामाजिक घटनाओं का अध्ययन एक विशेष-अध्ययन क्षेत्र का विषय है जिसके अंतर्गत व्यक्ति की सामूहिक जीवन की अभिव्यक्ति होती है।

मैक्स वेबर ने स्थापना दी कि तर्क-संगत रीति से सामाजिक घटनाओं के कार्य-कारण सम्बन्ध को समझने के लिए घटनाओं को समानताओं के आधार पर बाँटना आवश्यक है। ऐसा करने पर हमें अपने अध्ययन के लिए कुछ आदर्श प्रारूप घटनाएँ मिल जाएंगी। आदर्श प्रारूप न तो औसत प्रारूप है, न ही आदर्शात्मक, बल्कि वास्तविकताओं के कुछ विशिष्ट तत्वों के विचार-पूर्वक चुनाव तथा सम्मिलन द्वारा निर्मित आदर्शात्मक मान है। दूसरे शब्दों में आदर्श प्रारूप का तात्पर्य है कुछ वास्तविक तथ्यों से तर्क संगत आधार पर यथार्थ अवधारणाओं का निर्माण करना। मेक्स वेबर के अनुसार समाज-शास्त्र को वैज्ञानिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। वास्तव में सामाजिक घटनाओं के क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत और जटिल हैं। इस कारण घटनाओं के विश्लेषण में सुविधा और यथार्थता के लिए यह आवश्यक है कि समानताओं के आधार पर विचारपूर्वक तथा तर्क संगत ढंग से कुछ वास्तविक घटनाओं या व्यक्तियों को इस प्रकार चुन लिया जाय जो कि उस आकार की समस्त घटनाओं या व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व कर सकें। पारसन्स ने सामाज के घटक तत्वों के बीच होने-वाली सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन को समाजशास्त्र का मूल विषय बताया। सारोकिन ने भी समाजशास्त्र को सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के अध्ययन का विज्ञान कहा है।

साहित्य क्या है, साहित्य की विषय-वस्तु क्या है? स्पष्ट है कि साहित्य लेखक-कवि की चेतना के भीतर उठे तनाव, आन्दोलन, या बेचैनी (Unrest) की सौंदर्यपूर्ण अभिव्यक्ति है। चेतना का यह आन्दोलन साहित्यकार के सामाजिक परिवेश, उसकी समूहपरक अनुभूतियों और निज के निरीक्षण-अनुभवकी विषय वस्तु है। यह विषय वस्तु सम्पूर्ण में सामाजिक घटना ही है जो साहित्यकार के समूह (जिसका वह सदस्य है) का प्रतिनिधित्व करती है चेतना का तनाव कवि या कलाकार में उसके प्रत्यक्ष जीवन से उठा

और अभिव्यक्त हुआ हो अथवा कल्पना की निर्मिति हो, सामाजिक घटनाओ के अतिरिक्त कुछ नहीं है। साहित्य अथवा कला समाज की वैचारिकी का निर्माण करती है, चाहे वह काल्पनिक हो अथवा जीवन पर आधारित हो। वैचारिकी का योग सामाजिक घटनाएँ ही है। कवि वर्तमान का चित्रण कर किन्ही मूल्यों की अपेक्षा या स्थापना करे अथवा कल्पना द्वारा यह कार्य करे लेकिन यह सब वह करता है अपने जीवन, अपने समूह, अपने सामाज की घटनाओ के आधार पर ही। अतः उसके द्वारा प्रस्तुत कृति और उसमें अभिव्यक्त सामाजिक घटनाओं का समाज वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है।

ये सामाजिक घटनाएं क्या हैं जिनका समाजशास्त्र में अध्ययन और साहित्य में चित्रण किया जाता है? ये हैं, समाज की संस्कृति, सभ्यता, संस्कृति-सभ्यता के घटक-तत्व, समूह, समितियाँ, संस्थाएं, जाति, परिवार, विवाह, कानून, धर्म, दर्शन, राजनीति, साहित्य, कला, भाषा आदि, और इन तत्वों का भोक्ता सामाजिक मनुष्य और उसके अन:सम्बन्ध, अंत:क्रियाए आदि। यह सब कुछ एक ताने-बाने का जाल है। समाजशास्त्र इन्ही का अध्ययन करता है। इसीलिए समाजशास्त्र को सामाजिक घटनाओं और सामाजिक अंत:सम्बन्धो के अध्ययन का विज्ञान कहा गया है। साहित्य की सम्पूर्ण विषय–वस्तु भी इन्हीं सामाजिक घटनाओं के विभिन्न तत्वो से संबन्धित है। साहित्य अपने समाज की संस्कृति के मूल्यों का वाहक और व्याख्याता है, अपने समूह की अभिवृत्तियो का चित्रण है, समाज में मनुष्यो की वृत्तियों के परिष्कार, मूल्यो के विस्तार और अत:सम्बन्धो की स्थापना करने वाली एक कार्य–प्रणाली होने के कारण स्वयं एक संस्था है, जातीय गुणों की रक्षा का शक्तिशाली माध्यम है।

वर्तमान काल में समाजशास्त्र में उपरोक्त घटक तत्वों का अध्ययन समूह की इकाई पर केन्द्रित होता जा रहा है। व्यक्ति का समाज के साथ क्या सम्बन्ध है, इसे समझने के लिए उसके सामुदायिक जीवन का अध्ययन आवश्यक हो गया है। स्मॉल (A. Small) तथा गैलपिन (C. J. Galpin) आदि समाजशास्त्रियों ने गांव, नगर तथा अन्य प्राथमिक समूहों के अध्ययन द्वारा यह पता लगाने का प्रयत्न किया कि व्यक्ति का उसके बृहत्तर समूह के साथ क्या सम्बन्ध है। इन्हीं समूहों के अध्ययन के

पर कूल (Cooley) ने मानव समूहा का प्राथमिक और

द्वैतीयक समूहों में विभाजित किया । उनके अनुसार प्राथमिक समूहों का व्यक्ति के व्यक्तित्व पर द्वैतीयक समूहों से कहीं अधिक प्रभाव पड़ता है। इन्हीं अध्ययनों से प्रोत्साहित होकर पार्क (R. E. Park) और बरजेस (Burgess) आदि समाजशास्त्रियों ने नगरों का जनसंख्यात्मक तथा संरचनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न किया। इसी आधार पर बाद में समूहों के अंतःसम्बन्धों के मनोवैज्ञानिक स्वरूपों के अध्ययन की बात भी समाजशास्त्र में आई। इससे समाजमिति (sociometry) पद्धति का विकास हुआ। इस पद्धति के विकास के साथ इस बात के अध्ययन पर बल दिया गया कि व्यक्ति और समूह अथवा समूह और समूह के बीच पाए जानेवाले सम्बन्धों का मनोवैज्ञानिक पक्ष या आधार क्या है। टार्ड (G. Tarde) और रॉस (E. A. Ross) ने यह निष्कर्ष निकाला कि सामाजिक जीवन में अनुकरण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अत्यधिक महत्वपूर्ण है। थॉमस और जनैनिकी (Thomas and Znanieki) ने समूहों के सम्बन्धों के बीच मनोवृत्तियों तथा मूल्यों को अधिक बल दिया। साहित्य अथवा कोई भी अन्य कला अपने लेखक या कलाकार के समूह-मन की अभिव्यक्ति है। साहित्यकार मुख्यतः अपने समूह या वर्ग की भावनाओं का ही अपनी रचनाओं में प्रतिनिधित्व पूर्ण चित्रण करता है। किन्तु उसकी ग्रहणशीलता इस प्रकार के आदर्श प्रारूप को अपने समूह से ढूँढ़ निकालने में सक्षम होती है जिसका आधार समूह मन तो होता ही है,उसका विस्तार मानव-मन अर्थात विश्व-मानव तक अपने आप हो जाता है। शेक्सपीयर ने कभी विश्व-मानव की अभिवृत्तियों के विस्तार का ध्यान कर अपने नाटकों की रचना नहीं की थी किंतु अपने ही समूह से ऐसे आदर्श प्रारूपों का चयन और अभिव्यक्तिकरण करने में स्वयं समर्थ था जिसके कारण उसकी कृतियों में वर्णित वस्तुएं सम्पूर्ण विश्व-मानव, विश्व-समूह की वस्तु है। यही है साहित्य के छोटे से समूह-उत्पाद से बृहत्तर समूह में विस्तार। ज्ञान के समाजशास्त्र पर विचार करते समय इस विषय पर पुनः विवेचन करूंगा। सारांश यही है कि साहित्य के अध्ययन के लिए समाजमिति पद्धति का सफल प्रयोग किया जा सकता है! साहित्य के द्वारा समूह की अभिवृत्तियों का अध्ययन कर उसके अंतःसम्बन्धों के मनोवैज्ञानिक स्वरूपों का पता लगाया जा सकता है। समाजशास्त्र के सम्बन्ध में इटालियन सामाजिक विचारक विलफ्रेडो पैरेटो

(Vilfredo Pareto) की धारणा है कि विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन से समाजशास्त्र का अध्ययन अधिक सम्पूर्ण है क्योंकि यह विज्ञान विभिन्न सामाजिक घटनाओं तथा तथ्यो के पारस्परिक सम्बन्ध और निर्भरता को स्वीकार करता है। एक अर्थशास्त्री के रूप मे पैरेटो इस धारणा के पक्ष में तो है कि व्यक्ति तथा समाज का एक आर्थिक आधार अवश्य ही होता है। परन्तु यही सब कुछ नहीं है। एक सामाजिक प्राणी के रूप मे एक व्यक्ति की केवल आर्थिक आवश्यकताएं ही नहीं, अन्य अनेक प्रकार की आवश्यकताए भी होती हैं। व्यक्ति के सम्बन्ध मे उचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी मूल प्रवृत्तियों, कोमल भावनाओं, उद्वेगों, अनुभूतियों का ध्यान रखना होगा। वह विज्ञान जो कि मानव जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन या विश्लेषण सयुक्त या समन्वयात्मक रूप से करता है, समाजशास्त्र है।

प्रो० हेज (Hays) का कथन है कि प्रत्येक विज्ञान की ४ समस्याए होती हैं, मुख्य समस्या (Problem Facts), मुख्य समस्या के घटक तत्व (Elemental Facts),प्रभावक तत्व (Conditioning Facts) तथा परिणाम तत्व (Resultant Facts) समाजशास्त्र की मुख्य समस्या है समाज तथा सामाजिक सम्बन्ध। इस समस्या के घटक तत्व वे मानसिक तत्व (Psychological Bonds) हैं जिनसे सामाजिक व्यवहार चलता है। इन मानसिक तत्वों का विस्तार से विवेचन करते हुए जर्मन समाजशास्त्री वीरकांत (Vierkandt) ने बताया कि जब मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्बन्ध होता है तब लज्जा, प्रेम द्वेष, सहकारिता, प्रतिस्पर्धा, दब्बूपन, अधिकार की भावना, लालसा आदि अनेक प्रकार के मानसिक संबंध प्रकट होते है। ये मानसिक सम्बन्ध जो एक मनुष्य के साथ दूसरे मनुष्य को जोड़ते हैं, समाजशास्त्रके आधारभूत मूल तत्व कहलाते हैं। प्रेम एक मानसिक तत्व है, द्वेष, लज्जा, लालसा ये सभी मूल तत्व हैं। ये मानसिक तत्व ही समाज को बनाने वाले घटक तत्व हैं। समाज 'की भावना तभी पैदा होती है जब हम किसी से प्रेम करने लगते हैं, किसी से द्वेष की भावना रखते है, किसी से सहयोग और किसी से असहयोग, किसी से लज्जा, किसी से शका और किसी से भय करने लगते हैं। ये लज्जा द्वेष सहकारिता प्रेम

प्रतिस्पर्धा आदि जो मानव को खेल खिला रहे हैं–मनुष्य के साथ बांधने वाले मानसिक तत्व समाजशास्त्र के विषय हैं। इनका अध्ययन समाजशास्त्र अपने ढंग से करता है। यथा 'श्रम विभाग' एक सिद्धांत है जिसका आधार सहयोग है। समाजशास्त्र का काम सहयोग के मानसिक तत्व पर आश्रित इस श्रम विभाग का वर्णन सामाजिक सन्दर्भ में कर देना मात्र है, अर्थशास्त्र के साथ होड़ करना नहीं।

वस्तुतः ये ही मानसिक तत्व जिनका वर्णन वीरकांत ने किया है, साहित्य के भी विषय हैं। साहित्य में मनुष्य की इन्हीं प्रेम, ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, सहयोग आदि वृत्तियों का ही तो नाटक, कहानी, उपन्यास, कविता आदि के द्वारा रागात्मक चित्रण किया जाता है। सम्पूर्ण भारतीय और पाश्चात्य विचार-धारा निरूपित करती है कि साहित्य की विश्वजनीन प्रक्रिया इन्हीं भावों-विभावों की सीमा में असीम होती है। संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' के प्रणयिता भरतमुनि ने भाव का अर्थ व्याप्ति बताते हुए कहा है कि 'भाव अभिनय के द्वारा काव्यार्थ की भावना कराते हैं' अर्थात कवि के प्रतिपाद्य अभीष्ट को सामाजिक (पाठक या श्रोता या नाटक के प्रेक्षक) के अन्तस् में व्याप्त कर देते हैं। यहां भाव को 'कारण' अथवा 'साधन' माना गया है। अर्थात कवि अपनी रचना को सामाजिक के आस्वादन की वस्तु तभी बना सकता है जब वह भाव गर्भित हो। भाव की अनुपस्थिति में कवि एवं सामाजिक के बीच कोई मानसिक अथवा अंतःकरणीय सम्बन्ध नहीं हो सकता है। ये भाव मुख, नेत्र तथा 'या' वाणी द्वारा मन की बात प्रकट कर सामाजिक से अंत-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। पाश्चात्य साहित्य में 'केथारसिस' सिद्धांत के द्वारा मनो भावों के परिस्कार की जो बात कही गई है वह भी इसी सत्य को प्रतिपादित करती है।

भारतीय आचार्यों ने मुख्यतः ९ ऐसे भावों का विवेचन किया है जो मनुष्य मात्र में सार्वजनीन होते हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र का रस सिद्धांत इन्हीं भावों पर आश्रित है। आधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में भावों का गम्भीर विवेचन किया गया है। प्रत्येक प्राणी कुछ मूल प्रवृत्तियाँ, जिन्हें सहज वृत्तिया भी कहते हैं, लेकर संसार में आता है। इन्हीं मूल प्रवृत्तियों को अंग्रेजी में 'इंस्टिंक्ट' कहते हैं। प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के साथ उस वृत्ति के भाव का आवेग भी लगा रहता है। भाव का यही आवेग अथवा भावावेग 'इमोशन' कहलाता है।

मैकडूगल ने यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्य की सहज या मूल प्रवृत्तियों का क्रियात्मक प्रकाश ही भाव है। उनके अनुसार प्रत्येक मूल प्रवृत्ति एक विशिष्ट प्रकार का भावात्मक चापल्य व्यंजित करती है। ऐसी मूल प्रवृत्तियों की संख्या मैकडूगल ने १४ स्थिर की है। किंतु भारतीय आचार्यों ने मुख्यतः ९ मूल प्रवृत्तियां मानी हैं जिन्हें स्थायी भाव कहा है। इन्हीं स्थायी भावों पर रस सिद्धांत आधारित है। वस्तुतः मैकडूगल द्वारा गिनाई गई कई मूल प्रवृत्तियां जैसे प्रजनन, मैथुन, निर्माण और संघ वृत्ति का समाहार एक ही 'श्रृंगार' वृत्ति या भाव में संभव है। भारतीय आचार्यों ने जो ९ मूल वृत्ति या स्थायी भाव स्थिर किए वे हैं–श्रृंगार, विनोद, उत्साह, क्रोध, भय, घृणा, शोक, आश्चर्य और निर्वेद। ये ही स्थायी भाव रस के विभिन्न मूल रूप हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र—मानसिक तत्व और साहित्य के भावों में कोई अन्तर नहीं है। साहित्य मानव भावों को व्यक्त कर कवि और सामाजिक (पाठक), सामाजिक और समाज में अंतःसंबंध स्थापित करता है। इसी अंतःसम्बन्ध को समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्ध भी कहा जाता है। और साहित्य के क्षेत्र में साधारणीकरण कहा जाता है। वस्तुतः साधारणीकरण में एक व्यापक सामाजिकता का भाव छिपा रहता है जहां 'मैं' और 'पर' का द्वैध दूर हो जाता है और मनुष्य मात्र साधारण हो जाता है।

विषय क्षेत्र से ही सम्बन्धित एक प्रश्न और है। किसी भी कृति की विषय-विशेष के आयाम में आलोचना करते समय कुछ प्राथमिक प्रश्न उठाए जा सकते हैं, जिनमें तीन मुख्य हैं–प्रथमतः, क्या वह विज्ञान जिसके संदर्भ में कृति की समीक्षा की जा रही है, मूल्यांकनवादी है अथवा संश्लेषणात्मक और ऊहात्मक है ? क्या वह विज्ञान हमें कृति की उपयोगिता और मूल्य का सापेक्षिक निर्णय करने की ओर प्रेरित करता है अथवा केवल घटना की यथास्थिति का विवरण मात्र देता है ? द्वितीय, यदि वह आदर्श निरूपी है और कुछ ऐसे प्रतिमानों से युक्त है जिनके द्वारा कृतिकार की मनःस्थिति एवं सामाजिक स्थिति का मूल्यात्मक निर्णय स्थिर किया जा सकता है तो क्या ये निर्णय जो किसी कृति के उत्पत्ति के कारणों की विवेचना करते हैं, वे मूल कृति के अध्ययन के लिए अभिप्रेत हो सकते हैं ? तृतीय,

यदि वे आदर्श निरूपी नहीं है तो कृति के मनोवैज्ञानिक या समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए किन तथ्यों के आधार पर निर्णय दिया जा सकता है। क्या समाजशास्त्री अपनी क्षमता की सीमा के अंतर्गत यह बता सकता है कि कौन सामाजिक संगठन अपेक्षाकृत अच्छा है और कौन सा सामाजिक व्यवहार अधिक अच्छा, कम अच्छा या बुरा है। संभवतः प्रत्येक समाजशास्त्रज्ञ इसका नकारात्मक उत्तर ही देगा। वह किसी भी ऐसे निर्णायक पक्ष पर जाने की अपेक्षा वस्तु का यथा तथ्य वर्णन करना अपना अपेक्षित कार्य समझेगा। वस्तुतः उसकी सीमा (१) कृतिके मूल विषय, भाव, विचार, अथवा चिन्तन का संश्लेषण, (२) कृतिकार की सामाजिक-मानसिक स्थिति और (३) प्रकाशन की रीति या अभिव्यक्ति की परीक्षा की ओर विशेष उन्मुख रहेगी। लेकिन यद्यपि समाजशास्त्र स्वयं में कोई निर्णयात्मक अथवा आदर्श निरूपी विज्ञान भले ही न हो, यह ऐसे ज्ञान तत्वों का निर्धारण करता है कि कोई भी विचारक इच्छित दृष्टिकोण अपना सकता है। समाजशास्त्र में सामाजिक क्रियाओं और व्यवहारों का निरूपण कर विज्ञान की भाँति सामान्य नियम का प्रतिपादन अधिक संभव होता है। यह प्रतिपादित करने की स्थिति मे होता है कि अमुक सामाजिक क्रिया से अमुक प्रकार के सामाजिक सगठन, नियत्रण, संस्था आदि का होना संभावित है। सम्भावना का वर्णन इसलिये करता है कि इसका विषय क्षेत्र चेतन मानव समाज है जिसके व्यवहारो-क्रियाओं की समीक्षा जड़ भौतिकी तत्वों के समान नहीं की जा सकती। समाजशास्त्र द्वारा निरूपित सम्भावना के आधार पर कोई विचारक विभिन्न मूल्यांकनवादी तत्वों का निर्धारण कर सकता है। जहाँ तक समाजशास्त्री की अपेक्षा सामान्य चिंतकों का प्रश्न है, उनकी दृष्टि मे समाजशास्त्र आदर्श निरूपी अर्थात मूल्यांकनवादी है। सामान्य चिंतक सामान्य मानवतावादी होता है।

वह पाठक, जिसका 'समाजशास्त्र' विषय में पूर्ण प्रवेश नहीं है, समझ सकता है कि यह विज्ञान अध्ययन के लिए विशेष प्रकार के ज्ञान की अपेक्षा करता है। खुद समाजशास्त्र की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन भी तभी सफल हो सकता है जब कि पहले समाजशास्त्र विषय का अच्छा ज्ञान हो जाय। 'साहित्य का समाजशास्त्र' विषय के उदय के पूर्व इस पर प्रच्छन्न रूप से काफी विचार व्यक्त किए जा चुके हैं समा के प्राय सभी महत्वपूर्ण

ग्रन्थों में कला और साहित्य पर समाजशास्त्र सम्बन्धी सन्दर्भ इतस्ततः मिल जाते है, लेकिन साहित्य के समाजशास्त्र के रूप निर्धारण और उसे एक पष्ट कक्षा देने का कार्य बिलकुल नहीं हुआ। अवश्य ही गुरविच (G Gurvitch) ने मन के विज्ञान की एक समस्या के रूप में कला के सामाजशास्त्र का जिक्र भाषा, शिक्षा, धर्म आदि के समाजशास्त्र के साथ किया है। गुरविच का कहना है कि मन के समाजशास्त्र का कोई विस्तारवादी दावा नहीं है और न ही वह दर्शनशास्त्र को किसी भी तरह स्थानापन्न करना चाहता है लेकिन इसका बढ़ता हुआ प्रभाव दर्शनाशास्त्र को स्वयं ही बाध्य करेगा कि ज्ञान के समाजशास्त्र की उपादेयता को अपने लिए पूरक रूप में स्वीकार करे।

मन के समाजशास्त्र की कमियों को ज्ञान के समाजशास्त्र ने पूर्ण करने का प्रयास किया जो अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। समाजशास्त्र की विशेष शाखा के रूप में इसे स्थापित करते हुए मैनहीम ने काल विशेष में व्यक्तियो द्वारा किए जानेवाले चिंतन तथा दार्शनिक एवं साजाजिक चितनधारा में परस्पर सम्बन्ध का पता लगाने में इसका उपयोग किया। मनुष्य के विचार शुद्ध बुद्धि से उत्पन्न नहीं होते वरन् ऐतिहासिक-सामाजिक परिस्थिति से उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति किसी न किसी निश्चित सामाजिक परिवेश मे होता है और उसी के अनुसार उसके विचार होते हैं। ये स्थापनाए साहित्य के उन विचारकों के लिए महत्वपूर्ण हैं जो साहित्य को एक ओर अनुभूति और विचारों का योग मानते हैं और दूसरी ओर उसकी क्रियात्मक शक्ति का भी ख्याल करते हैं जिसके अनुसार साहित्य और कला में व्यक्ति को प्रेरणा देने और उसके हितों की पूर्ति करने की शक्ति होती है। यही हित पूर्ति की बात या स्वार्थपूर्ण चिंतन ज्ञान के समाजशास्त्र के अध्ययन का मूल विषय है। भौतिक विज्ञान की वस्तु का सम्बन्ध स्वार्थों तथा मूल्यो से नहीं होता। मानव सम्बद्ध इसलिए हुआ है कि वह और उसका हित सामाजिक प्रतिरक्षा में सुरक्षित रहे। हित की भावना का मूल सुख पाना है। सुख की वृद्धि के लिए समाज और संस्सथाओं का निर्माण होता है। जब व्यक्ति अकेले सुख प्राप्त करने में असफल हो जाता है तो उसे समाज और संस्थाओं की शरण लेनी पड़ती है। संस्थाएं समाज में रहने वाले व्यक्तियों के हितों की पूर्ति की कार्य-प्रणाली हैं। साहित्य में स्वयं ही मानव हित (स + हित — साहित्य) का भाव जुड़ा हुआ है मनुष्य जन्म से मृत्यु

पर्यन्त समाज पर आश्रित रहता है। वह जो कुछ सीखता, अनुभव करता अथवा प्राप्त करता है उसका आधार समाज होता है। व्यक्ति का जो स्वरूप बनता है वह उसका अपना स्वरूप न होकर प्रायः समाज प्रदत्त होता है। कला और साहित्य भी मनुष्य को समाज से प्राप्त होता है। कला की ओर उन्मुख होने और रचना करने की प्रेरणा भी समाज से मिलती है। प्राचीन साहित्य और कला का आधार धर्म और आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य तथा आधुनिक साहित्य और कला का आधार विज्ञान और भौतिक परिप्रेक्ष्य है। इस दृष्टि से साहित्य व्यक्ति और समाज की मध्यवर्ती स्थिति में होकर दोनों के बीच सामन्जस्य की कड़ी बनता है। व्यक्ति साहित्य के आश्रय द्वारा अपने स्वार्थों को सामूहिक स्वार्थ के रूप में परिवर्तित कर समाज से सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास करता है। हर समाज का एक समूह मन होता है जो समाज के सभी व्यक्तियों की आकांक्षाओं की सामूहिक अभिव्यक्ति का प्रयास करता है। साहित्यकार या कलाकार इसी सामूहिक मन को पकड़ कर उसे पुनः नई रूप सज्जा देने का प्रयास करता है। साहित्यकार की इस प्रक्रिया में विस्तृत सामाजिक-चेतना निहित रहती है। साहित्यकार समाज के प्रचलित मनस्-प्रतिमान (Archetype) को इस प्रकार पहचानकर अपनी बुद्धि और कल्पना द्वारा उसे पुनः नये आयाम में प्रकट करता है कि वह सामूहिक चेतना का अंग बन जाता है। इस स्थल पर साहित्य नवीन निर्माण का रूप ले लेता है। इस प्रकार जहाँ तक हमारे विषय का सम्बन्ध है, ज्ञान का समाजशास्त्र हमें उस भूमि का ज्ञान कराता है जहाँ से किसी भी विषय की चिंतन प्रक्रिया आरम्भ होती है। मैनहीम ने चिंतन के दो आयाम बताए हैं, एक में व्यक्ति परिस्थितिबद्ध चिंतन करता है जिसमें वर्तमान परिस्थिति को ही (किसी स्वार्थवश) बनाए रखने की अपील करता है, इसे उसने 'आईडियोलाजी' (वैचारिकी) कहा। और दूसरा, वह चिंतन जो ऐतिहासिक-सामाजिक परिस्थितियों और स्वार्थ से मुक्त होकर किसी आदर्श, कल्पना, पुराणगाथा (मिथ), प्रतीक आदि को आधार बनाकर किया जाता है जिसमें नवीन समाज व्यवस्था की मांग रहती है। इसे मैनहीम ने यूटोपिया (स्वप्न चिंतन) कहा। संसार के समस्त विचारों को इन्हीं दो श्रेणियों के भीतर विभक्त कर अध्ययन किया जा सकता है। साहित्य, कला, धर्म, दर्शन आदि में अभिव्यक्त विचारों को इन्हीं आधारों पर समझा जा सकता है।

साहित्य का समाजशास्त्र मान्यता और स्थापना

'ज्ञान के समाजशास्त्र' पर अब तक विस्तार से काम हो चुका है और साहित्य आदि पर विचार के लिये इसके कुछ स्पष्ट लाभ दिखलाई पडते हैं। यह हमारा ध्यान केवल एक अनुमानित चिंतन स्थिति की ओर ही नही खींचता, वरन् हमे विषय की अतर्वस्तु तक ले जाता है। जिस प्रकार मैक्स वेबर द्वारा धर्म के समाजशास्त्र मे आर्थिक और सामाजिक कारकों को खोजन का प्रयास महत्वपूर्ण है उसी प्रकार साहित्य में सामाजिक गतिशीलता क पीछे कार्य करने वाली विचार परम्परा को भी ढूंढना, एक महत्वपूर्ण प्रयास सिद्ध होगा।

ज्ञान के समाजशास्त्र पर लिखने के साथ साथ मैनहीम ने संस्कृति के समाजशास्त्र में काफी योगदान किया है। उसके अनुसार हमे मात्र संस्कृति के समाजशास्त्र पर ही विचार नही करना है वरन 'संस्कृति के कारकों' पर भी विचार करना है। जीवन का क्या अर्थ है? क्या इसका अर्थ कला, विज्ञान, धर्म और दर्शन ही है या यह सम्पूर्ण मानव रचनाओं और सफलताओ का पुंज है? सम्भवतः इस प्रश्न का एक महत्वपूर्ण उत्तर टाइलर ने दिया है, जिसके अनुसार संस्कृति एक स्वीकृत योग है जिसमें ज्ञान, कला, विश्वास, नैतिकता, कानून, रीति-रिवाज और मानव के एक सामाजिक सदस्य के रूप मे अन्य सभी क्षमताएं निहित हैं। आधुनिक समाजशास्त्र में संस्कृति एक सामूहिक धारणा बन गई है जिसमे केवल नाटक, चित्रकारी, साहित्य, संगीत और ऐसी ही अन्य उपलब्धियां ही निहित नहीं हैं वरन् वे समस्त व्यवहार और उनका प्रयोग भी निहित है जो समाज से लिए और समाज को सौंपे जाते हैं। इनके भीतर भाषा, प्रतिनिधि कलाएं, संगीत, साहित्य, नाटक, धर्म, दर्शन नीति और यहाँ तक कि प्रतिदिन के जीवन की आदतें आदि तथा तकनीकी व्यवस्थायें, राजनीतिक क्रियायें, सामाजिक संस्थाए, उद्योग, व्यापार, कानून, शासन, खोज-अविष्कार और अन्य भौतिक उपलब्धियां आदि भी सम्मिलित हैं। यद्यपि संस्कृति का यह विस्तार आवश्यक से अधिक बड़ा मालुम पड़ सकता है और बहुत से क्षेत्रों में इसका प्रयोग करना भी असम्भव हो सकता है, फिर भी इससे कोई परेशानी नहीं होती। यह कभी भी अस्वीकार नहीं किया गया कि साहित्य संस्कृति का आंतरिक अंग है, किसी भी अर्थ में कोई इसका प्रयोग करे। इस प्रकार संस्कृति के समाजशास्त्र और साहित्य के समाजशास्त्र म घनिष्ठ सम्बन्ध है।

३ साहित्य का समाजशास्त्रीय विश्लेषण और दिशाएँ

रचनात्मक, क्रियात्मक एवं अभिनिर्देशात्मक शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण साहित्य को एक सामाजिक संस्था होने का गुण प्राप्त है। जिस प्रकार संस्थाओं की कुछ निर्धारित संरचना होती है, उसके कुछ मूल्य और आदर्श होते हैं और उसके सदस्य उन्हीं के अनुसार भूमिका अदा करते हैं, भूमिकाओं के प्रतिमान के अनुसार व्यवहार करने का प्रयास करते हैं उसी प्रकार साहित्य-संस्था की भी निर्धारित संरचना रहती है, सीमाएं होती हैं सभी लिखित सामग्री साहित्य नहीं होती, उसकी रचना में कुछ सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन और विघटन के मूल्यों का दिग्दर्शन होता है, निर्धारित मूल्यों के आधार पर सत्य, शिव और सौंदर्यमूलक आदर्शों की अभिव्यक्ति होती है और इन मूल्यों तथा आदर्शों के आधार पर साहित्य व्यक्ति के समक्ष भूमिका-प्रतिमान प्रस्तुत करता है। रामचरितमानस द्वारा कवि यह बताता है कि समाज कैसा था, उसमें पिता, पुत्र, माता, भाई, भार्या, राजा, मंत्री, प्रजा आदि की क्या प्रास्थिति (Status) थी, उनके सामाजिक मूल्य और आदर्श क्या थे और विभिन्न संबंधों में कौन कौन सी प्रतिमानित भूमिकाएं थीं। इस प्रकट रूप में ही नहीं, अनेक परोक्ष रूपों में भी साहित्य संस्था का कार्य करता है।

प्रश्न यह है कि समाजशास्त्र में जैसे विभिन्न सामाजिक संस्थाओं परिवार, विवाह, जाति आदि का विश्लेषण-अध्ययन सम्भव है, वैसे ही क्या साहित्य का भी विश्लेषण सम्भव है? उत्तर स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति ने समाजशास्त्रीय आधार पर साहित्य के संस्थात्मक स्वरूप को भली भाँति समझ लिया है, वह साहित्य का भी अन्य संस्थाओं की भाँति विश्लेषण कर सकता है। यदि यह विश्लेषण संभव है तो प्रश्न पुनः उठाया जा सकता है कि विश्लेषण की इकाइयाँ क्या हो सकती हैं इन प्रश्नों के हल के पूर्व साहित्य

साहित्य का संस्थात्मक स्वरूप

साहित्य एक ऐसी संस्था है जो शब्दों को माध्यम बनाकर मानव जीवन की विविध वृत्तियों (शृंगार, विनोद, उत्साह, क्रोध, भय, घृणा, शोक, आश्चर्य और निर्वेद आदि) का रागात्मक चित्रण कर मूल्य या दिशा की स्थापना करता है। इस चित्रण की तीन विशेषताएं हैं; एक. गहनता (Accuteness) अर्थात सामान्य से सामान्य बात को इस ढंग से कहना जिसमें वजन आ जाय, मर्मस्पर्शण का उभार आ जाय। विरह वेदना का अनुभव और अपनी वेदना का सम्प्रेषण किसी न किसी तरह प्रायः सभी प्रिय-प्रिया को होता है जो सामान्य बात है किन्तु 'मेघदूतम्' की नायिका ने जिस ढंग से विरह निवेदन किया वह साहित्य की गहनतापूर्ण चित्रण की विशेषता है जिसके कारण वह सभी के हृदय की महान सम्पत्ति बन गया। दो.यथार्थता (Accuracy) अर्थात अभिप्रेत बात की अभिव्यक्ति इतनी सच्चाई से होती है कि पूर्णता तक पहुँचने में गुन्जाइश नहीं रह जाती। 'लेडी मैकबेथ का चित्रण साहित्य की इसी यथार्थता की विशेषता में पूर्णता पा सका। तीन, मितव्ययिता (Economy) अर्थात थोड़े से थोड़े शब्दों के प्रयोग से अधिक से अधिक प्रभावशाली बात हो जाय। नादिरशाह दिल्ली मे निर्दयता से कत्ले आम करा रहा था और किसी में शक्ति नहीं थी कि उसे रोके। किंतु उसके एक मंत्री से, जो साहित्यिक था, यह हत्याकाण्ड न देखा गया। उसने साहस कर नादिरशाह से प्रार्थना की "आपकी प्रेम के तलवार ने अब किसी को जीवित न छोड़ा। अब तो आपके लिए एक ही उपाय है कि आप मुर्दों को फिर से जीवित कर उन्हे फिर से मारना आरम्भ कर दे।"

कसे न मांद कि दीगर ब तेग़ नाज कुशी।
मगर कि ज़िन्दा कुनी खल्क रा व बाज कुशी।

नादिरशाह पर यह थोड़ी सी बात इतनी लगी कि उसने सर्व वध की आज्ञा बन्द कर दी और समाज सर्वनाश से बच गया। तलवार को वाणी स हार खानी पड़ी। समाज की रक्षा साहित्य ने की।

इस संदर्भ में साहित्य की प्रक्रिया प्रतीकात्मक हो जाती है। प्रतीक समाज में संस्कृति के आदर्शों, मूल्यों और विचारों को प्रदर्शित और नियन्त्रित करने का माध्यम है। वैसे पूरी भाषा को 'प्रतीकों की प्रणाली' कहा गया है

किन्तु वस्तुतः साहित्य की भाषा ही सही अर्थों में प्रतीकों की प्रणाली है और प्रतीक साहित्य और विभिन्न कलाओं में पूर्ण अर्थवत्ता प्राप्त करता है। प्रत्येक संस्था अपने सदस्यों को कुछ मूल्य और दिशा निर्देश प्रदान करती है। इन्हीं मूल्यों के संदर्भ में सदस्य की प्रास्थिति का निर्णय होता है और वह उसी के अनुसार क्रिया और भूमिका अदा करता है। यह निर्देश या सम्प्रेषण कुछ संस्थाओं द्वारा सीधे और सरल तरीके द्वारा होता है जैसा कि परिवार,जाति, विवाह आदि प्रत्यक्ष ढग से दिशा निर्देश करते हैं। किंतु कुछ संस्थाएं मूल्यों का निर्देश सूक्ष्म या भावात्मक तरीकों या प्रतीकों से करती हैं। ऐसी संस्थाओं के अंतर्गत विभिन्न कलाएँ और साहित्य आते हैं। साहित्य प्रतीकों की वह विधा है जो परस्पर निश्चित अर्थों में सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक विकास का मूल्य प्रसारित करता है।

प्रसिद्ध अमरीकी समाजशास्त्री पारसन्स का कथन है कि "सामाजिक नियंत्रण के आधारभूत साधन संस्थागत रूप में संगठित एक समाज व्यवस्था की स्वाभाविक अंतः क्रिया में पाए जाते हैं।" इस कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार से किया जा सकता है कि प्रत्येक समाज में अनेक व्यक्ति होते हैं, ये सभी अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए आपस में स्वतः ही अंतःक्रिया करते रहते हैं। ऐसा करने के लिए वे बाध्य होते हैं क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अकेले नहीं कर सकता। इस कारण उसे दूसरों के साथ अंतःक्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। इसके दौरान अंतःक्रिया करनेवाले व्यक्तियों के विचार, भावनाएं और मनोवृत्तियाँ स्पष्ट हो जाती है और उनमें से कई अधिकतर लोगों द्वारा मान्य या स्वीकृत भी हो जाती हैं। यही सामाजिक संस्थाओं का रूप धारण कर लेती है। इस दृष्टि से साहित्य भी एक संस्था का रूप ग्रहण कर लेता है। क्योंकि साहित्य अपनी सीमा में प्रतिनिधि भावनाओं को व्यक्त कर कवि और व्यक्ति (पाठक), व्यक्ति और समाज के बीच अंतःसम्बन्ध स्थापित करता है। इसी अंतःसम्बन्ध को पारसन्स ने 'सामाजिक व्यवस्था' कहा है और भारतीय साहित्य में 'साधारणीकरण' कहा जाता है। इन संस्थाओं के आधार पर सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होता है जिसमें अपनी आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं की पूर्ति करने में लगे हुए अनेक व्यक्तियों की अंतःक्रिया सम्मिलित होती है। इस अंतःक्रिया का निर्माण करने में साहित्य

महत्वपूर्ण भावनात्मक संस्था का कार्य करता है। साहित्य वस्तुतः एक विशाल विश्वात्मक संस्था है जहाँ मानवता के विस्तार का सबसे अधिक योग होता है। इसी आधार पर डा० राधाकमल मुखर्जी की माँग है कि 'कला (साहित्य) का मुख्य उद्देश्य सामाजिक-सार्वलौकिक (Soical universal) बनना है।'

हिन्दी में 'साहित्य' शब्द का मूल स्वरूप 'स-हित' अर्थात 'हित की भावना के सहित, होने से सम्बद्ध है—"सहितस्य भावः साहित्यं"। शब्दश. अर्थ है —'सह' अर्थात साथ होना. हितेन सह सहितं' अर्थात हित के साथ होना अथवा जिसमें हित-सम्पादन हो। साहित्य की संस्थात्मक स्थापना यहीं से आरम्भ हो जाती है। संस्था का मुख्य कार्य अपने सदस्यों के स्वार्थ या हित (Interest) की पूर्ति है। मनुष्य जो कुछ करता है, किसी स्वार्थ से करता है। मनुष्य के 'सामाजिक' होने का मुख्य मनोवैज्ञानिक आधार हित' है। यह हित समूह को बनाता है। यही परिवार, संस्था, समिति तथा महासमिति को बनाता है। 'हित' तथा मनोवृत्ति ये दोनो आपस मे सम्बद्ध हैं। भय,प्रेम, सहानुभूति ये सब मनोवृत्तियां हैं। किन्तु हित और मनोवृत्ति सम्बद्ध होते हुए भी आपस में भिन्न हैं। मनोवृत्ति चेतना का आभ्यंतर गुण है, इस आभ्यंतर मनोवृत्ति का 'स्वार्थ' एक प्रकट रूप है। हित का आधारभूत तत्व मनोवृत्ति है। चोर का भी कानून जानने मे स्वार्थ है पुलिस का भी और जज का भी; तीनों का स्वार्थ कानून जानना है; परन्तु चोर की मनोवृत्ति कानून को जानकर उसके शिकंजे से बच निकलना है, पुलिस की मनोवृत्ति कानून जान कर चोर को पकड़ना है और जज की मनोवृत्ति कानून जानकर उसके अनुसार चोर को दण्ड देना है। मनोवृत्ति से स्वार्थ बनता है, और स्वार्थ से समूह, संस्था, समिति आदि का सगठन बनता है।

समाजशास्त्र मे 'समिति' और 'संस्था' ये दो शब्द बार-बार आते हैं, दोनो का आधार हित है। परन्तु समिति एक संगठित-समूह को कहते हैं, संस्था उस संगठित-समूह की अपने हितों को पूर्ण करने की 'कार्य-प्रणाली के रूप' (Form of procedure) को कहते हैं। परिवार एक संगठित समूह है इसलिए 'समिति' है; विवाह, दहेज, एक-विवाह, बहु विवाह की प्रथाएं आदि परिवार के हितों को पूर्ण करने के रूप हैं, कार्य-प्रणालियाँ है इसलिए संस्था है। राष्ट्र एक संगठित समूह है इसलिए समिति है चुनाव

प्रणाली, विधान-परिषद आदि राष्ट्र के हितो को पूर्ण करने के रूप हैं, कार्य प्रणालियाँ हैं, इसलिए संस्था हैं। इस प्रकार संस्था का कार्य समिति के उद्देश्यो को पूर्ण करना है। सामाजिक-प्रक्रिया की दिशा संगठित-समूहो के स्वार्थ या उद्देश्यो को पूर्ण करने की ओर उन्मुख रहती है।

ऊपर ही स्पष्ट कर चुके हैं कि साहित्य का भी मूलाधार 'स-हित' 'हित क साथ होना,' 'हित की पूर्ति करना,' 'मानव हित का सम्पादन' करना ही है और हितों का सम्पादन करने वाली कार्य-प्रणाली ही संस्था है। दुनिया का कोई भी साहित्य ऐसा नहीं है जिससे उसके समाज और विश्वात्मक समाज का लाभ न होता हो, हित न होता हो। पाठक साहित्य के रसास्वादन से सिर्फ आनन्द या शांति प्राप्त करने का दावा करे तो भी वह लाभ है, हित है। लाभ केवल व्यवसाय से ही सम्बद्ध नहीं होता, आत्मा के विस्तार, मनोवृत्तियो के परिष्कार से भी सम्बद्ध होता है। हित का आधारभूत तत्व मनोवृत्तियां होती हैं। अतः मनोवृत्तियों के परिष्कार से हित (स्वार्थ) का परिष्कार और विस्तार होता है और इससे मनुष्य की सामाजिकता का विकास होता है, 'व्यक्ति राम' 'व्यक्ति विशेष' न रहकर 'व्यक्ति सामान्य', 'व्यक्ति विश्व' होता है। यही साहित्य की चरम सफलता, साधारणीकरण माना गया है। साहित्य आत्मा के विस्तार, मनोवृत्ति के परिष्कार मानव मूल्यो के संचार की कार्य प्रणाली है, अतः संस्था है।

साहित्य एक अत्यन्त गतिशील और लोचदार संस्था है। समाज के हितों से सम्बद्ध होने के कारण सामाजिक गतिशीलता के साथ साहित्य में भी परिवर्तन और गति के तत्वों का विकास होता रहता है। समाज के अनुकूल नई भावना तथा मूल्यों का ग्रहण और प्रकटीकरण होता रहता है और जैसे-जैसे समाज के मूल्यों में परिवर्तन हुआ है, साहित्य के उपादान और मूल्य भी नए बिन्दु ग्रहण करते गए हैं और आगामी समाज को नए मूल्यो का संदेश देते गए हैं। प्राचीन समाज आध्यात्मिक भावनाओं पर आधारित था अत: साहित्य मे धार्मिक भावनाओं, धर्म-नायकों के चित्रण की परम्परा प्रमुख थी, आज के समाज में भौतिक यथार्थता अधिक है।. अतः साहित्य दैनदिन जीवन के सामान्य से सामान्य चरित्रों के चित्रण की ओर उन्मुख हो गया है। विज्ञानवाद ने अमरीकी साहित्य में वैज्ञानिक प्रणाली पर आधारित जीवन के चित्रण को भी आधार बनाया है।

साहित्य-संस्था का लम्बवत् विकास

एक बात और है; साहित्य की संस्थात्मकता का लम्बवत् विकास भी होता है। कृति मूलतः साहित्य रहते हुए तो साहित्य संस्था का कार्य करती ही है साहित्य-कृति कभी-कभी अपनी गहन सामाजिक मान्यता के कारण अन्य संस्था को भी अपने भीतर समेट लेती है। ऐसा अधिकार धर्म-संस्था पर प्राय देखा गया है। होमर रचित इलियड एक महान काव्य है जिसमें स्थापित साहित्य-मूल्यों का प्रभाव आज भी समाज पर है, किन्तु 'इलियड' ग्रीक समाज के लिए केवल काव्य ग्रन्थ ही नहीं है, वह उस समाज का धर्म-ग्रंथ तथा नीति और आचार का आदर्श भी माना जाता रहा। ग्रीक समाज अपने सम्पूर्ण जीवना-दर्श 'इलियड' महाकाव्य में प्राप्त कर सका था। इसी प्रकार वाल्मीकि का काव्य केवल साहित्यशास्त्रियों का काव्य-ग्रंथ ही नहीं, भारतीय जनता का धर्म-ग्रंथ भी है। तुलसीकृत महाकाव्य 'रामचरितमानस' साहित्य-ग्रंथ से बढ़कर हिन्दू जनता के धर्म-ग्रंथ के रूप में स्वीकृत हुआ है। हम जानते ह कि वाल्मीकि वर्णित समाज और आज के समाज में पर्याप्त भिन्नता है फिर भी वाल्मीकि के काव्य को पढ़कर हमें आज भी उन मूल्यवान् सामाजिक-धार्मिक आदर्शों का बोध होता है, जिन्हें भारतीय समाज अपनी स्थायी सम्पत्ति मानता है। वाल्मीकि के काव्य में तत्कालीन समाज की छाया के साथ मानव जीवन के कतिपय स्थायी मूल्यों का प्रभावशाली आलेख भी है। यही साहित्य की समाज-सापेक्षता है। समाज बदलता है, सामाजिक आदर्श, मूल्य बदलते हैं परन्तु मूल भूत जीवन तथ्यों में फरक नहीं आता। इन्हीं मूल भूत जीवन तथ्यों को मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना की स्थायी देन कहते हैं। साहित्य इसी स्तर पर पहुँचकर अपना विस्तार करता है और निज के कर्तव्य और सीमा निर्वाह के साथ दूसरी सीमा और दूसरों के कर्तव्य और उत्तरदायित्व अर्थात धर्म को भी स्वीकार कर उनकी महत्वपूर्ण भूमिका निबाहता है।

साहित्य-संस्था के संगठक तत्व—

यदि यह कहा जाता है कि किसी समाज की धर्म, वर्ग संघर्ष, सैद्धांतिक, दार्शनिक अथवा राजनीतिक विचार धाराएं उसके साहित्य की वस्तु निर्धारित करती हैं तो हमें यह दिखलाना पड़ेगा कि साहित्य में उन्हें किस प्रकार

अभिव्यक्त किया गया है। यद्यपि कलाकार अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रारूपों का निर्माण करता है और धर्म, विज्ञान और विचार विशेष के प्रसारण में उनका प्रयोग करता है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उस कला की व्याख्या का आधार भी एक मात्र वही धर्म, विज्ञान अथवा विचारधारा विशेष है। किसी समाज के धर्म, विज्ञान, इतिहास, अर्थनीति, राजनीति और दर्शन का ज्ञान हमें उसकी कला को समझने में सहायता पहुंचा सकता है। लेकिन इसकी पूर्णता तब तक नहीं हो सकती जब तक हम इसे कला-रूप के भीतर ही समझने का प्रयास नहीं करते। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समाजशास्त्री व्यापक परिप्रेक्ष्य अपनाता है और कर्त्ता, कारक (पाठक) और आलोचक, तीनों आयामों से कला की व्याख्या में प्रवृत्त होता है। इस स्थान पर साहित्य-संस्था अपने एक भौतिक रूप का निर्माण करती है जो लेखक, पाठक और आलोचक के संगठन से बनती है। यद्यपि तीनों का अलग-अलग व्यक्तित्व है, लेकिन इन तीनों के बीच में कृति के रूप में एक कड़ी होती है जो तीनों के मध्य परस्पर अंतःसम्बन्धों की क्रिया उत्पन्न कराती है और इस प्रकार इन तीनों का योग मिलकर एक संस्था का निर्माण करता है। लेखक कृति की रचना करता एवं समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है, पाठक कृति पढ़ता, रसास्वादन करता और मूल्यों को ग्रहण करता है तथा आलोचक कृति की व्याख्या-आलोचना करता है। डंकन का मत है कि प्रत्येक समाज में साहित्यिक संगठन के सामान्य तथ्यों का सम्बन्ध परस्पर लेखक, कवि या कलाकार अथवा कोई भी शाब्दिक, अनुमानित या दृश्यात्मक प्रतीकों को अभिव्यक्ति का रूप देने वाले तथा दर्शक, पाठक अथवा कोई भी सामाजिक जो कृतिकार के अभिव्यक्ति रूपों के उपयोग या रसास्वादन करनेवाले, एवं कृतिकार और भोक्ता (पाठक) की रूचि के बीच किसी भी प्रकार से मूल्यांकन-विवेचन करनेवाले आलोचक, निर्देशक या शास्त्रज्ञ के बीच होता है।[1]

प्रत्येक रचना में रचनाकार का व्यक्ति अपनी अंतर्दृष्टि और अनुभूतिशीलता के साथ बोलता है जिसकी आवाज को पहचान कर ही कृति के अध्ययन की सार्थकता सिद्ध की जा सकती है। प्रायः साहित्य और समाज

---

१. लैंगवेज एन्ड लिटरेचर इन सोसायटी पृष्ठ ६७।

के सम्बन्धों का विवेचन करते समय 'साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है' जैसी सामान्य उक्तियों का बहुत समय से उपयोग होता आ रहा है। लेकिन इसका अर्थ क्या है ? यदि इसका अर्थ यही है कि साहित्य अपने युग विशेष के समाज का दर्पण अथवा पैमाना है तो गलत है। अगर यह मात्र इसी तात्पर्य का बोधक है कि साहित्य सामाजिक यथार्थता का उद्घाटक है तो यह अति सामान्य, घिसा-पिटा और अस्पष्ट है। यह अत्यन्त अनिश्चित व्याख्या है कि साहित्य जीवन को प्रतिबिम्बित करता है। लेखक अपरिहार्य रूप से अपने अनुभव और जीवन की सम्पूर्ण अवधारणा को अभिव्यक्त करता है लेकिन यह कहना स्पष्ट ही असत्य होगा कि लेखक सम्पूर्ण जीवन अथवा काल विशेष के जीवन को सर्वतः रूप से प्रकट करता है। वस्तुतः साहित्य एक कला है जिसका मूल सौन्दर्य-बोधकता है। सामान्य मानव की अपेक्षा सौंदर्य-चेतना की अभिव्यक्ति की विशेष क्षमता से सम्पन्न होने के कारण साहित्यकार जो कुछ देखता, सुनता या करता है उसमें एक विशेष सज्जा (Configuration) या लालित्य होता है। इसी कारण साहित्यकार (या कलाकार) चाहे भयानक या करुण का चित्रण करे या शृंगार और हास्य का, सभी आनन्द की सर्जना करनेवाले होते हैं। इसीलिए साहित्यकार जिस सामाजिक यथार्थ का चित्रण करता है, सौन्दर्यानुभूति के संयोग से प्रत्येक चित्रण एक नई सृष्टि होता है। इस दृष्टि से यह माग निर्भ्रान्त हो जाती है कि लेखक को अपने युगीन जीवन को पूर्णतः अभिव्यक्त करना चाहिए और उसे अपने युग तथा समाज का प्रतिनिधि होना चाहिए। वस्तुतः कलागत प्रभाव बिलकुल वही नहीं होता, जैसा हम अपने साधारण जीवन में अनुभव करते हैं। कविता में आई अनुभूतियाँ, संवेग और भाव साधारण जीवन से कुछ विशिष्ट अर्थ रखते हैं। यह प्रतीकात्मक अर्थ कहलाता है। कवि स्वयं एक ऐसा ग्रहणशील प्रतीक है जिसमें अगणित संवेग, अनुभूतियाँ स्मृतियाँ तब तक सग्रन्थित होती रहती हैं जब तक वे सब मिलकर एक सर्जना का रूप नहीं ग्रहण कर लेती। श्रेष्ठ कलाकार का व्यक्तित्व इसी कारण उल्लेख्य है कि वह अतरनुभूत तथ्यों के संगठन का एक अधिक प्राणवंत माध्यम है जिसके कारण उसकी सृष्ट-वस्तु भी अधिक प्रभावशाली होगी। कलाकार को इसलिए प्रतिनिधि व्यक्ति कहा जा सकता है कि वह अपने युग की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को नवीन (वही नही) मधुर और सज्जा-

पूर्ण स्वर देता है। शेक्सपीयर ने अपने युग की मानवीय प्रवृत्तियों को ही मुखरित नहीं किया, वरन् कलाकार की चेतना द्वारा उन्हें नवीन आकांक्षाओं के साथ सज्जा युक्त कर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। इसी कारण उसकी समकालीन प्रवृत्तियाँ केवल उसके ही युग की नहीं रहीं, समस्त भूत और भविष्य की हैं।

किसी भी संस्था का औचित्य उसके सदस्यों द्वारा संस्था-मूल्यों के ग्रहण और निर्वाह में होता है। यदि सदस्य संस्था-मूल्यों से कोई मतलब न रखे तो संस्था टूट जाती है, मृत हो जाती है। साहित्य-संस्था का मूल-सदस्य पाठक होता है, जिसके लिए साहित्य रचा जाता है, जो रसास्वादन करता और मूल्यों को ग्रहण करता है। अतः किसी भी कृति का औचित्य पाठक अर्थात सामाजिक में होता है। अतः उस कृति का समाज के समक्ष लाया जाना और उस पर विवेचन होना आवश्यक होता है। किसी भी कृति का अधिक से अधिक प्रचार ही वर्तमान समाज में समृद्धि का कारण बन गया है। सामाजिक द्वारा कृति को ग्रहण कर लेने पर वे भाँति-भाँति की प्रतिक्रिया करते हैं, कभी-कभी कृतिकार की समग्रता का ध्यान रखे बिना भी सामाजिक अपनी विवेचना भिन्न-भिन्न ढंग से करते जाते हैं। इस स्थिति में यह देखना आवश्यक हो जाता है कि पाठक की सामाजिक विशेषताएँ किस प्रकार से साहित्यिक प्रतीकों के प्रयोग को प्रभावित करती हैं जो कि स्वयं समाज की अनेक प्रतीकात्मक व्यवस्था से उत्पन्न होते हैं। इस प्रयास की ओर बढ़ने पर यह भी स्पष्ट होने लगता है कि पाठक, लेखक और आलोचक के परस्पर अंतःसम्बन्धों का सही विवेचन तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक हम उसके स्वरूप (नाटक, कहानी, उपन्यास आदि) का भी भली भाँति अध्ययन नहीं कर लेते। यह भूमिका आलोचक को निबाहनी पड़ती है। आलोचक लेखक के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन, कृति, युग और पाठक के बीच शोधक का कार्य कर व्याख्या प्रस्तुत करता है। आलोचक प्रतीक-योजना करनेवाले कलाकार और ग्रहणकर्ता पाठक के बीच के अन्तर को अपने प्रतिनिधित्व से भरने का प्रयास करता है। ऐसी स्थिति में आलोचक अधिक वैयक्तिक हो जाता है। जो समाज सापेक्षतया सरल, छोटा और स्वयंपूर्ण है और अपनी शक्ति के औचित्य का नियंत्रण रख सकता है, उस समाज के लिए आलोचक की बहुत कम आवश्यकता होगी। कलाकार

द्वारा प्रस्तुत कृति का पाठकों में परिचय के लिए कोई भी माध्यम अनावश्यक होगा। लेकिन जो समाज जितना ही जटिल और विस्तृत होगा, सामाजिक अंतर जितने ही व्यापक होंगे, दृष्टिकोणों और अभिरूचियों की भिन्नता वहाँ अपने पूर्ण रूप में होगी, कलाकार और पाठक की इस भिन्नता के बीच मध्यस्थता आवश्यक हो जायगी, आलोचक का अस्तित्व स्वय ही विकसित हो जायगा। यह अन्तर जितना ही अधिक होगा, स्वतन्त्र आलोचक उतना ही शक्तिशाली होगा। जब कभी भी किसी संस्था में संघर्ष और प्रतियोगिता तीव्र होगी, आलोचक का महत्व स्वयं ही बढ़ता जायगा। इस प्रकार प्रतियोगिता और संघर्ष के मूल्यों के अनुसार आलोचक की निरंतरता चालू हो जाती है। इस प्रवाह में आलोचक कभी साहित्यिक कृति का निर्माण अपने मत के समर्थन में करता है और कभी साहित्य का मूल्यांकन उसी कृति के भीतर विद्यमान मूल्यों के आधार पर करता है, और कभी पाठक की आकांक्षा को प्रमुख आधार बनाकर आलोचना में प्रवृत्त होता है। इस दृष्टि से आलोचना साहित्य के लिए आवश्यक तत्व है, क्योंकि इसके द्वारा पुनः नवीन साहित्य का निर्माण, दिशाबोध और उपयोग होता है। पाठक के प्रतिनिधि के रूप में आलोचक उनकी आवश्यकता और आकांक्षा के प्रति लेखक को जाग्रत रखता है।

विश्लेषण की इकाइयां

संक्षेप में साहित्य के संस्थात्मक स्वरूप पर विचार करने के बाद पूर्व स्थापित प्रश्न, 'क्या साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन सम्भव है ? यदि हां तो विश्लेषण की इकाइयां क्या होंगी ?, पर आने में अब आसानी होगी। किसी भी विषय का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए तीन प्राथमिक बातों की आवश्यकता है– एक, अध्यस्तु विषय के आकार या सीमा का स्पष्ट परिचय। इसके लिए अध्येता के समक्ष विषय की एक उपकल्पना (Hypotheses) होनी चाहिए। सामान्य प्रयोग में इसे ही विषय प्रवेश कहा जाता है। विषय प्रवेश द्वारा अध्यस्तु विषय का परिचय, सीमा उद्देश्य आदि प्रस्तुत किया जाता है। इसमें अध्येता की अंतर्दृष्टि, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का परिचय, विवेच्य विषय की मूल-स्थापना होती है। दूसरी बात है, अध्ययन की इकाइयों का निर्धारण। उपकल्पना की स्थापना के साथ ही अध्येता को यह स्पष्ट करना पड़ेगा कि जिस विषय का अध्ययन कर रहा है उसकी समष्टि

के भिन्न भिन्न अंग क्या हैं, वे कौन-कौन से अंग या इकाइयां हैं जिन पर प्रकाश डालते हुए वह समष्टि का अध्ययन करना चाहता है। ऐसा करने से अध्येता को विषय की एक सीमा प्राप्त होती है और भटकाव की गुंजाइश समाप्त हो जाती है। विश्लेषण की इकाई के साथ ही 'इकाइयों के विश्लेषण की विधि (Methods of study of units) का भी प्रश्न जुड़ा हुआ है। विषय के अध्ययन के लिए जो विभिन्न इकाइयां स्थिर की गई हैं उनका अध्ययन किस विधि से हो, तथ्यों अथवा आँकड़ों का संचय कैसे हो और फिर उनकी व्याख्या कैसे हो, यह भी निर्धारित करना प्राथमिक प्रश्न है। प्रत्येक विषय के अनुसन्धान में, चाहे वह साहित्य या कला हो अथवा अन्य कोई भी विषय, इन तीन प्राश्निक प्रश्नों पर केन्द्रित होना आवश्यक होता है।

स्वभावत: साहित्य का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करने के समय भी उपरोक्त तीन प्राथमिक प्रश्नों पर केन्द्रित होना आवश्यक है। अभी तक के विवेचनों से स्पष्ट हो चुका है कि अन्य संस्थाओं की भाँति साहित्य भी एक संस्था है, संभवत: विशाल और जटिल संस्था। क्योंकि साहित्य का पेटा बहुत बड़ा है और स्वयं साहित्य की इतनी विविध अभिव्यक्ति-शाखाएं हैं, जो साहित्य की समष्टि का अंग होने के बावजूद भी स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं। कविता, निबन्ध, आलोचना, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि साहित्य के विभिन्न अभिव्यक्ति स्वरूप हैं। इनमें व्यक्त अंतर्वस्तुओं के विश्लेषण के लिए भिन्न-भिन्न इकाइयों की स्थापना और विश्लेषण विधि को अपनाना पड़ेगा। एक कविता द्वारा वस्तु का चित्रण, निबन्ध अथवा नाटक से भिन्न होता है। अत: भिन्न आयामों से इनका अध्ययन करने में सुविधा होगी। हम जानते हैं कि साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में इस प्रकार के विश्लेषण का प्रयास प्राय: रहता है। अत: यहां विधि की स्थापना का जो प्रयास किया जा रहा है उस पर भविष्य में विचार-विवेचन की बहुत गुंजाइश है। अभी तक साहित्य का समाजशास्त्र नाम से जो भी अध्ययन किया गया है उनमें से अधिकांश में साहित्य और समाज के सम्बन्धों का महत्व बताने और साहित्य के सामाजिक कार्यों का परिचय देने की प्रचलित रीति से बाहर निकलने का प्रयास नहीं हुआ है। लेकिन अब इस रूढ़ रीति से निकलकर समाजशास्त्र के क्षेत्र में आने पर यह निर्धारित करना होगा कि

साहित्य के अध्ययन या विश्लेषण की पद्धति (Methodslogy) कौन सी होनी चाहिए, वे कौन से बिन्दु हों जिनके आधार पर साहित्य का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन कर कुछ निश्चित बात कही जा सके। वस्तुतः साहित्य का दृश्य-फलक इतना विशाल है कि अभी तक इस तथ्य की ओर स्थिर होने में कठिनाई हो रही है। समस्या वहां और भी जटिल हो जाती हैं जहां साहित्य-समष्टि की भिन्न भिन्न अभिव्यक्ति शाखाएं रचना-शिल्प की भिन्नता के कारण किसी विषय को भिन्न भिन्न ढंग से प्रस्तुत करती हैं। किसी भी विषय के अध्ययन के लिए पद्धतियां के सम्बन्ध में मतभेद बराबर रहा है और यह मतभेद केवल यहीं तक सीमित नहीं है कि कौन सी पद्धति किस विषय विशेष के लिए उपयुक्त है वरन् यह समस्या उस स्थल पर और भी गम्भीर हो जाती है जहां सिद्धान्त और पद्धति दोनों एक दूसरे के विरोध में खड़े हो जाते हैं। फिर भी समाजशास्त्र का व्यावहारिक अनुभव बताता है। कि इस समस्या को गम्भीर नहीं समझना चाहिए। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह देखना चाहिए कि यह मतभेद कब और कहां उठता है और उन्हें उसी रूप में दूर करना चाहिए। साहित्य-समष्टि पर किसी एक विधि विशेष से नहीं वरन् अभिव्यक्ति स्वरूप और विषय वस्तु के अनुसार विचार करके ही समस्या का हल निकाला जा सकता है।

विधियों की दृष्टि से साहित्य के दो पक्ष हैं—एक तो स्वयं किसी विधि का अंग बनकर सामाजिक अनुसन्धान में योग देना, लिखित सामग्री और ऐतिहासिक-सामाजिक तत्वों के रूप में उपकल्पना के निर्माण अथवा 'केसस्टडी' में योग देना। दूसरा पक्ष है कि स्वय किन्ही विधियों द्वारा साहित्य-वस्तु का अध्ययन। किसी भी समाज की संस्कृति अथवा अन्य विषयों के अध्ययन के लिए साहित्य और कला में महत्वपूर्ण सूचनाएं संचित रहती हैं। हर साहित्य और कला, किसी न किसी रूप में कहीं न कहीं, अपने समाज का प्रतिनिधित्व करती है और किसी विशेष विषय के अध्ययन के लिए इनका योग लिया जा सकता है। जैसे, 'भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था के कारण होने वाला विघटन' विषय के अध्ययन के लिए मध्यकालीन कवियों की रचनाओं से महत्वपूर्ण सामग्री लेकर क्रमिक और क्रियात्मक विकास द्वारा वर्तमान का सुन्दर विवेचन किया जा सकता है। समाज वैज्ञानिक अनुसन्धानों में ऐतिहासिक तथ्यों का अध्ययन भी बहुत महत्वपूर्ण माना गया है और साहि-

न्य तथा कला बहुत ही सुन्दर ऐतिहासिक तत्वों की मंजूषा है। अनुसन्धानों के लिए अभी इस मंजूषा का प्रयोग बहुत ही थोड़ा हुआ है लेकिन इनका अपना महत्वपूर्ण स्थान है और जब सामाजिक अनुसन्धानों में इनका पर्याप्त उपयोग होने लगेगा तो इस क्षेत्र में नया मोड़ उपस्थित हो जायगा। समाज वैज्ञानिक अनुसन्धान में यह माना जाता है कि किसी समूह और संस्था के ऐतिहासिक जीवन से वर्तमान कालिक जीवन का किसी न किसी रूप में संबध अवश्य बना रहता है। इतिहास को वर्तमान की कुन्जी भी माना गया है। प्रत्यक्ष घटनाओं के ज्ञान की सीमा इतिहास के द्वारा बढ़ती है, संस्थाओं की परिवर्तन और विकासशीलता का पता चलता है और समकालीन जीवन के निर्णायक तत्वों की सूचना देता है साहित्य इतिहास का एक महत्वपूर्ण पक्ष है जिसमें ऐतिहासिक समाज की रागात्मक वृत्तियों और संस्कृतिक घटनाओं का सचय रहता है। अतः सामाजिक अनुसन्धान मे ऐतिहासिक तत्वो के रूप में साहित्य का महत्वपूर्ण योग लिया जा सकता है।
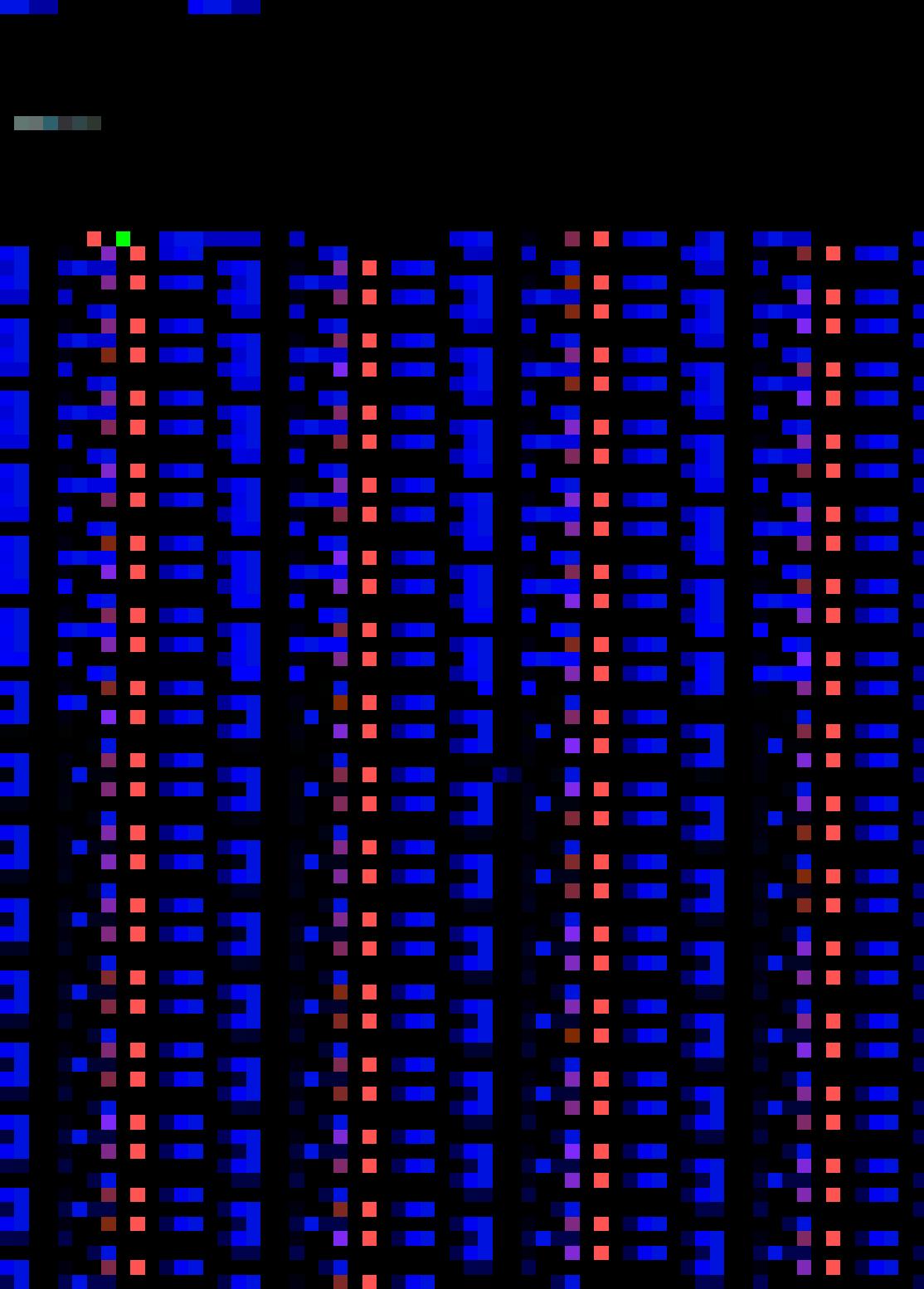
ऐतिहासिक तथ्यो को जानने के लिए साहित्य का आश्रय निम्नलिखित योग प्रदान कर सकता है—

१. इतिहास ग्रंथों में घटनाओं का जो कोरा विवरण रहता है उसकी अपेक्षा जनमानस की भावनात्मक एवं संवेगात्मक दशा का परिचय साहित्य और कला में ही संचित रहता है। घटनाओं का विवरण देकर इतिहास लिखा जा सकता है और सामाजिक अनुसंधान में उसका उपयोग किया जा सकता है किन्तु बिना साहित्य का आश्रय लिए अध्ययन अधूरा ही रहेगा क्योंकि मानव जीवन का सबसे बड़ा पक्ष-संवेगात्मक पहलू साहित्यिक कृतियों से ही ऐतिहासिक घटनाओं के साथ संचित रहता है।

२. ऐतिहासिक तथ्यों का उपयोग उपकल्पना के निर्माण में भी होता है। इस उपकल्पना का विस्तार साहित्य का सहारा लेकर और भी अधिक सम्भव है क्यों कि जिन बहुत सी बातों का अपनी सीमा के कारण इतिहास मे समावेश नहीं हो पाता वे साहित्य मे संचित रहती है।

३. अति प्राचीन युग की बहुत सी घटनाओं का कोई ऐतिहासिक संकलन नहीं हो सका किन्तु साहित्य ने उनका संरक्षण किया। महाभारत और रामायणकाल की घटनाओं का विवरण स्वयं इन ग्रंथों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

सामाजिक अनुसंधानवेत्ता जनैनिकी ने सामाजिक सर्वेक्षण के लिए साहित्य के योग पर बड़ा जोर दिया है। उनका विचार है, "साहित्यिक प्रतिभाओं के सहयोग से ऐसी अनेक महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय समस्याओं का पता चलता है जो सामाजिक सर्वेक्षकों द्वारा प्रायः सामान्य समझ कर उपेक्षित कर दी जाती हैं। साहित्यकारों द्वारा प्रस्तुत चित्रण की उपेक्षा मात्र इसलिए नहीं कर देनी चाहिए कि वह सर्वतः कल्पना और अनुमान की उत्पत्ति है। ध्यान इस बात पर देना आवश्यक है कि कोई भी कल्पना या अनुमान समाज सापेक्ष्य होता है। अतः उसमें तथ्य रहते हैं जिनका संकलन कर सामाजिक अनुसंधान किया जा सकता है।"[१] पी. वी. यंग का भी मत है कि "सर्वेक्षण के नए क्षेत्रों के निर्माण और सुझाव देने में साहित्यकार और कलाकार का महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है।"[२]

यह रहा पहले प्रश्न का हल, अर्थात स्वयं किसी विधि का अंग बन कर साहित्य द्वारा सामाजिक अनुसन्धान में योग देना। अब दूसरा प्रश्न विचारणीय है कि साहित्यिक कृतियों का अध्ययन किन विधियों से सम्भव है। साहित्य की अंतर्वस्तु के विश्लेषण की समस्या उसके रचना-शिल्प पर निर्भर करती है। ऐसी रचनाएं, जिसमें प्रायः किसी विशेष घटना अथवा चरित्र को केन्द्र मानकर एक समूह-जीवन के चित्रण का प्रयास हो, उसके अध्ययन के लिए समाजशास्त्रीय अनुसंधान की वस्तु-विश्लेषण पद्धति (Case Study) को अपनाना पड़ेगा। इस विधि के अंतर्गत एक सामाजिक इकाई के जीवन का (भले ही यह इकाई एक व्यक्ति, एक परिवार, एक संस्था संस्कृति समूह या पूरा समुदाय हो,) व्यापक अध्ययन किया जाता है। महाकाव्यों अथवा उपन्यासों में प्रस्तुत किया गया जीवन भी इसी प्रकार बहु-विध होता है। इससे संबधित अध्ययन के विषय को निश्चित करके वस्तु विश्लेषण की पद्धति अपनाया जा सकता है। इस पद्धति का लक्ष्य सामाजिक इकाई के उन जटिल व्यवहार प्रतिमानों के तत्वों का निर्धारण करना और इकाई को प्रभावित करने वाले तत्वों का आपस में संबन्ध दिखाना है। इस दृष्टि से इस पद्धति द्वारा एक इकाई के सम्पूर्ण जीवन का भी अध्ययन हो सकता

---

२. मेथड्स आफ सोशियोलाजी पृष्ठ १९७

३. साइन्टिफिक सोशल सर्वेज एन्ड रिसर्च पृष्ठ १५५

है या इकाई के किसी पूर्व निश्चित विषय का भी, लेकिन सदा ही उस इकाई के स्वाभाविक विकास और सामाजिक तत्वों तथा स्थितियों को ध्यान में रखना पड़ेगा। प्रेमचन्दकृत 'गोदान' के विश्लेषण के लिए उस पूरे उपन्यास में चित्रित जीवन को उसके पात्रों के चरित्र, चरित्रों के विकास, संघर्ष, सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक, व्यवसायिक राजनीतिक आदि इकाइयों के अध्ययन के द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'गोदान' उपन्यास अथवा प्रेमचन्द की दृष्टि मे समकालीन सामाजिक व्यवस्था का रूप क्या है, उनमें विघटन के तत्व कहां काम कर रहें है और उसके चित्रण द्वारा लेखक किन मूल्यों की स्थापना करना चाहता है। 'रामचरितमानस' में राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, कौशल्या, दशरथ, रावण, विभीषण आदि चरित्रों का उनके विकास और संघर्ष के आधार पर विश्लेषण और इस समस्त के आधार पर कवि की महत्वाकांक्षा—(अपेक्षित सामाजिक व्यवस्था) का चित्रण और अध्ययन किया जा सकता है। इस अध्ययन के संदर्भ में कृतिकार की जीवन दृष्टि का विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता होती है। इस सम्पूर्ण अध्ययन में इस प्रकार कृति और कृती की आन्तरिक चेतना, जीवन के प्रति दृष्टिकोण, उनकी आकाँक्षाओं के प्रेरणास्रोत जो उन्हें क्रियाशील रखते हैं, उनके संघर्ष, आशाए, निराशाएँ और अनुभूतिशीलता का परिचय मिलता है जो इन्हें अभिअभिप्रेरित रखती हैं। वस्तुत यह अध्ययन पद्धति विषय की अतर्वस्तु का विश्लेषण है। यह अंतर्वस्तु एक सीमित विषय भी हो सकती है और कृति में प्रदर्शित पूर्ण व्यवस्था भी। जैसे प्रेमचन्द के उपन्यासों में 'समकालीन भारतीय समाज' या फिर प्रेमचन्द के उपन्यासों में 'जमींदारी प्रथा', ये दोनों ही अंतर्वस्तु-विश्लेषण के विषय हो सकते हैं।

साहित्य में नाटक का क्रिया-पक्ष सर्वाधिक प्रबल रहता है क्योंकि नाटक में अभिनय द्वारा अभिप्रेत मूल्यों का जनता के समक्ष सीधा क्रियात्मक प्रदर्शन कर प्रभावानुभूति का उद्‌बोधन किया जाता है, जनता को मूल्यों के विकल्प का प्रत्यक्ष अवलोकन कराया जाता है। इस प्रदर्शन में अभिनेता-समूह और दर्शक-समूह भाग लेता है। अतः सामूहिक चेतना का उदय होता है। इस सम्पूर्ण चेतना और क्रियाशीलता का अध्ययन समाजशास्त्रीय अवलोकन पद्धति से किया जा सकता है। हम जानते हैं कि नाटक का एक दर्शक पक्ष होता है और दूसरा अभिनेता पक्ष दर्शक सामाजिक के रूप में नाटक

देखने आते हैं और अभिनेता किसी भी नाटक के अभिनय के द्वारा समाज या वर्ग-विशेष की भूत, वर्तमान या भविष्य की घटनाओं का दृश्य उपस्थित करता है। इस दृष्टि से दो समाज एक साथ उपस्थित होता है। एक दर्शकों का समाज जिनमें विभिन्न वर्ग, जाति, शिक्षा, व्यवसाय लिंग और क्षेत्र के लोग आते हैं और दूसरा समाज वह जिसका रंगमंच पर चित्रण-अभिनय हो रहा होता है। एक पूरी सामाजिक घटना की ईकाई अपने विभिन्न व्यवहारों का चित्रण प्रस्तुत करती है। इन दोनो ही समाजों का एक महत्वपूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन समाजशास्त्र की अवलोकन विधि से आसानी से किया जा सकता है। अभिनय के समय अवलोकन कर्ताओं के दल के प्रयोग से महत्वपूर्ण तथ्य निकाले जा सकते हैं। दर्शक नाटक देखने के लिए उपस्थित होते है जिनमें विभिन्न वर्ग, जाति, शिक्षा, व्यवसाय, लिंग, क्षेत्र आदि के व्यक्ति आते हैं ये व्यक्ति जब एक स्थान पर उपस्थित होते हैं तो उस समय उनके रहन-सहन, आचार-विचार, आपस में मिलने जुलने और शिष्टाचार व्यक्त करने के तरीके तथा भावनायें बोलचाल आदि का सामूहिक रूप देखने को मिलता है। एक अवलोकन दल अपेक्षित ढंग से इस समूह-स्थल पर व्यक्तियों के सामाजिक अंतःसम्बन्धो और व्यवहारों का अध्ययन कर महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाल सकता है। सिर्फ यही नहीं, व्यक्ति-व्यक्ति के रूप में समाज की मनोवृत्तियो के अध्ययन का भी यही महत्वपूर्ण स्थल है। नाटक देखते समय दर्शक उस अनुभूति स्थल पर पहुँच जाता है जहाँ अभिनीत पात्रों के चरित्र और दर्शकों के बीच का मानसिक अन्तर समाप्त हो जाता है और दर्शक चरित्र के साथ मानसिक रूप से सामन्जस्य स्थापित कर लेता है। ऐसी स्थिति में अपने मनोनुकूल स्थितियों के प्रदर्शन के समय दर्शक 'वाह-वाह' तथा प्रसन्नतासूचक अन्य शब्द, वाक्य अथवा भाव भंगिमा का प्रदर्शन करता है, कभी कभी रोने लग जाता है और प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न होने पर खल-नायक के प्रति रोष का भाव प्रकट करता है, रोषपूर्ण उच्चारण करता, मुट्ठी बाँधता या नायक की सहानुभूति में शब्दों का उच्चारण करता है। यह सब क्या हैं? यह सब उन सामाजिक मूल्यों और आकांक्षाओं का प्रदर्शन है जिनका दर्शक समाज स्वीकृति या निषेध चाहता है और ये ही शब्द और भाव भंगिमाएं अध्ययन-सूत्र हैं, अवलोकन कर्ता के लिए आँकड़े है जिनके आधार पर वह निश्चित निष्कर्ष निकाल सकता है कि जो अमुक

दर्शक समाज उपस्थित हुआ वह अमुक प्रकार के सामाजिक मूल्य चाहता है और उसकी आकांक्षाएं अमुक प्रकार की हैं। यदि एक ही नाटक कई दिनों तक खेला जा रहा हो तो हर रोज उपस्थित होने वाले दर्शक समाज का अध्ययन कर एक विस्तृत निष्कर्ष निकाला जा सकता है। यह याद रखना चाहिए कि समाजशास्त्रीय अध्ययन हमेशा औसत अध्ययन होता है और छोटी सी ईकाई का अध्ययन सम्पूर्ण इकाई पर लागू होता है।

डंकन द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण का स्वरूप–

साहित्य पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से स्वतंत्र विचार करनेवालों में डंकन (H. D. Duncan) का महत्वपूर्ण स्थान है। अपनी पुस्तक 'लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर इन सोसायटी'' के द्वारा उन्होंने साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की सशक्त भूमिका प्रदान की है और स्पष्ट दिशा निर्देश देने का भी प्रयास किया है। उन्होंने साहित्य को एक स्वयंभूत संस्था माना है और इसे सामाजिक जीवन में उसी प्रकार महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनेवाला कहा है जैसे धर्म, दर्शन, राजनीति आदि। किसी कृति के विश्लेषण का उन्होंने एक सुंदर आधार भी प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार लेखक पाठक और आलोचक–इन तीन इकाइयों के परस्पर अंतःसम्बन्धों पर विचार कर किसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। यह अध्ययन के लिए दिशा–निर्देश करनेवाला महत्वपूर्ण प्रयास है। अतः उनके दृष्टिकोण की पूरी विवेचना आवश्यक है।

साहित्य का एक अपना स्वतंत्र समाज होता है जिसके तीन वर्ग या इकाइयां होती हैं–लेखक, पाठक और आलोचक। इन तीनों के अन्तःसम्बन्ध स एक साहित्य-समाज का निर्माण होता है। इस समाज को डंकन ने निम्नलिखित रेखचित्र द्वारा समझाया है—
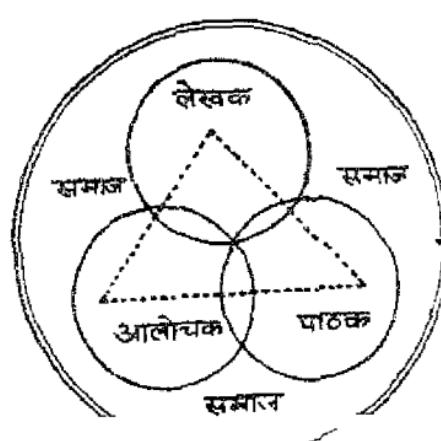
लेकिन समाज में स्वभावतः सत्ता के लिए संघर्ष होता है, एक वर्ग दूसरे के ऊपर प्रभुत्व जमाकर अन्य को कमजोर करने का प्रयास करता है। वैसा ही साहित्य-संस्था में भी होता है। लेखक, पाठक और आलोचक तीनों एक सामाजिक परिधि में होते हुए भी अपने व्यक्तित्व को दूसरे की अपेक्षा प्रभावशाली रखने का संघर्ष करते हैं। फलस्वरूप साहित्यिक सम्बन्धों की विभिन्न स्थितियों का उदय होता है। सामाजिक स्थिति के अनुसार कभी लेखक और पाठक का आपस में घनिष्ठ अंतःसम्बन्ध होता है, आलोचक का कोई महत्व नहीं रहता, कभी लेखक-आलोचक एक स्पष्ट सूत्र में होते हैं, पाठक का अस्तित्व गौण होता है,कभी आलोचक तथा पाठक प्रमुख हो जाते हैं और इसी प्रकार इनके बीच विभिन्न तरह के सम्बन्ध बनते बिगड़ते रहते हैं। साहित्य-संस्था की एक वह भी स्थिति होती है जब लेखक आलोचक और पाठक पूर्णतया अंतःसम्बन्धित हो जाते हैं तीनों परस्पर पूर्ति के रूप में प्रक्रिया करते हैं।.

जिस समाज का संगठन जितना ही सरल, स्वयं पूर्ण और परम्पराबद्ध होगा, संगठन के सदस्यों में जितना ही घनिष्ठ अंतःसम्बन्ध होगा और सामाजिक मूल्यों की स्वीकृति जितनी ही रूढ़ और अतार्किक होगी, वहां किसी भी प्रकार के विवेचक मीमांसक या आलोचक की आश्यकता का अनुभव नहीं किया जायगा। कलाकार द्वारा प्रस्तुत कृति का पाठकों में परिचय के लिए कोई भी माध्यम अनावश्यक होगा। छोटे, असभ्य, पिछड़े या आदिम समाजों में, जो स्वयं पूर्ण और समर्थ होते हैं, यह स्थिति विशेष रूप से देखने को मिलती है। उदाहरण के लिए जब एक छोटे से अंतःसम्बन्धी समूह के लिए कोई कहानी कह रहा होता है तो कहानी कहने का उद्देश्य प्रायः प्रत्येक सुनने वाला जानता है। वक्ता और श्रोता दोनों ही प्रस्तुत परस्पर संकेतों से एक दूसरे की प्रतिक्रिया तुरन्त जान जाते हैं, क्योंकि वे ऐसे प्रतीकों का प्रयोग करते हैं जिससे समूह के सभी लोग सामान्य रूप से परिचित होते हैं। वक्ता स्वयं यह भाव रखता है कि वह पूरे समूह के लिए कहानी कह रहा है। वहां कोई प्रत्यक्ष आलोचना पर नहीं जाता, वरन् उत्सुकतावश 'किसने क्या कहा' या 'फिर क्या हुआ' जानने के लिए वक्ता के कथन को सुनते रहते हैं और बिना किसी आलोचना के कहानी की परम्परा चलती जाती है। यदि कोई अनुभवी व्यक्ति बगल में बैठा कहानी सुन रहा हो और वक्ता द्वारा कही गई कहानी के प्रति कुछ आलोचनात्मक भाव रखता हो तो भी उसे कोई महत्व नहीं मिल पाता वक्ता

और श्रोता स्पष्ट सम्बन्ध बनाए रखते हैं। निम्नांकित रेखाचित्र में सीधी रेखा वक्ता और श्रोता (लेखक और पाठक) का सम्बन्ध प्रकट करती है, बिन्दु रेखा सम्बन्ध का अभाव या दुर्बल सम्बन्ध प्रकट करती है। लेकिन जब
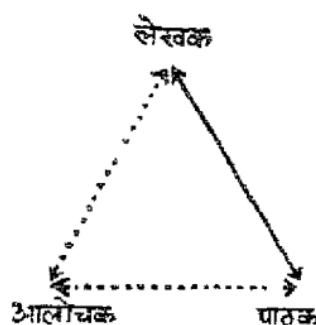
किसी समाज में पद और भूमिका के निर्वाह में जटिलता आ जाती है, एक वर्ग दूसरे को अपने प्रभुत्व या निर्देशन में ले चलना चाहता है, साहित्य-सर्जन किसी वर्ग, संस्था या कुशल-समूह के निर्देशन में आ जाता है, साहित्य उन्हीं के दिशा-निर्देश पर अनुशासित हो जाता है और लेखक भी यही सोचने लगता है कि उसे सामान्य सामाजिक (पाठक) के लिए लिखने से कोई मतलब नहीं वरन् निर्देशक के निर्देश का मूल्य अधिक है और उसी के अनुसार प्रभावशाली सर्जन सम्भव है तो लेखक वही सर्जन करता है जो आलोचक चाहता है। यहाँ प्रायः आलोचक ही उपयुक्त पाठक भी मान लिया जाता है। मार्क्सवादी साहित्य प्रायः इसी तरह का होता है। इसके अतिरिक्त आज हिन्दी में लिखी जानेवाली कविताएं और अ-कहानी भी ऐसी ही हैं। इस स्थिति में लेखक को यह चिंता नहीं होती कि उसका सामान्य पाठक वर्ग के प्रति क्या उत्तरदायित्व है, पाठक कृति के भाव को कितना ग्रहण कर रहा है। वह इस बात के प्रति अधिक सचेत रहता है कि आलोचक वर्ग उसकी कविता या अ-कहानी के प्रति क्या कहता है। लेखक आलोचक को ही योग्य पाठक मान बैठता है। संलग्न रेखा-चित्र लेखक-आलोचक के प्रभावशाली सम्बन्ध

को दर्शाता है। तीसरे तरह के सम्बन्ध में लेखक अपने को आलोचक और पाठक दोनों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित मानता है और दोनों का ध्यान रखकर साहित्य सर्जन करता है। लेकिन आलोचक और पाठक के बीच कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं हो पाता। प्रथम कोण पर आलोचक स्वयं को निपुण पथ प्रदर्शक और साहित्य (संस्था) का अधिवक्ता मानता है, या उससे भी आगे बढ़कर साहित्य-अध्ययन के लिए अपने को ही उपयुक्त महापुरुष, शास्त्रज्ञ, निर्देशक आदि मानता है। इन सभी रूपों मे पाठक आलोचक की दृष्टि सीमा से बाहर रहता है, वह केवल शास्त्रज्ञ वर्ग को ही किसी साहित्य का पाठक मानता है, बाकी सामान्य पाठक उसकी दृष्टि में हीन होते हैं सामान्य पाठक को स्तर बनाने की बात बताई जाती है या फिर आलोचक की ही बात सुनने-समझने को कहा जाता है। लेकिन वह साहित्य के प्रति पाठक का कोई भी सीधा उत्तरदायित्व नहीं मानता।

किन्तु भिन्न कोण पर लेखक यह सोचता है कि वह जो कुछ भी सर्जित कर रहा है वह पाठकों के लिए ही है। वह पाठक का हमेशा स्वागत करता है और साहित्य-सर्जन में पाठक की उत्तरदायित्वपूर्ण भूमिका मानता है। वह प्रत्येक स्थिति में अपने पाठक को बहुत गंभीरता से लेता है और बड़े से बड़े परिप्रेक्ष्य में पाठक को ध्यान में रखकर सम्प्रेषण के लिए अधिक से अधिक विस्तृत आधार ग्रहण करना चाहता है। इससे कुछ कदम और आगे बढ़कर लेखक पाठक के प्रति अपने को देवदूत, उपदेशक या नेता मानने लगता है। पोपकाल से लेकर विक्टोरिया युग के अंग्रेजी साहित्यिक जीवन में इसी प्रकार के लेखक आलोचक और पाठक के परस्पर सम्बन्ध दिखाई पड़ते है। निम्नांकित रेखा-चित्र लेखक-आलोचक और लेखक-पाठक के दृढ़ संबध को दिखाता है।
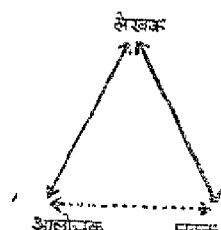
चौथे प्रकार के सम्बन्ध में लेखक और आलोचक दोनों ही सामान्य पाठक के प्रति अपनी भूमिका घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध और महत्व को समझते हैं किंतु लेखक और आलोचक का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत सामान्य रहता है। लेखक को आलोचक की चिंता बहुत कम रहती है और वह उसमें दूरी का अनुभव करता है। वह अपने कार्य को सीधे आलोचक के हाथों में जाने देना पसंद नहीं करता। आलोचक जनताके पक्ष को ध्यानमें रखकर विवेचन करता है जब कि लेखक भी जनता को ध्यान में रखकर सर्जन करता है। लेखक कभी-कभी आलोचक की उपेक्षा ही नहीं करता विरोधी भी बन जाता है, नतीजा यह होता है कि आलोचक सीधे जनता का पक्षधर हो जाता है। वह अपने को जनता की रुचि का विशेषज्ञ अथवा प्रतिनिधि मान बैठता है। बहुत सम्भव है कि वह इस तरह के मूल्य निर्णय में सही भी हो। वस्तुतः आलोचक मूल्य निर्णय नहीं देना चाहता, वरन् सूचना देना चाहता है कि पाठक क्या चाहता है। पाठक को किस वस्तु के प्रति रुचि रखनी चाहिए, सामाजिक किस तरह किसी अच्छी चीज का चुनाव करे और किस प्रकार लेखक को अच्छी चीजें सामाजिक के बीच सम्प्रेषित करनी चाहिए, इस तरह के तर्क लेखक के समक्ष आलोचक रखता है। विभिन्न समाज में युद्ध अथवा-क्रांति के समय रचा गया राष्ट्रीय साहित्य इसी कोटि में आता है। लेखक-जनता और जनता-आलोचक पूर्णतया सक्रिय सम्बन्ध रखते हैं। प्रस्तुत रेखा चित्र में यही स्थिति स्पष्ट की गई है।

पाँचवें प्रकार के सम्बन्ध में लेखक, आलोचक और पाठक एक दूसरे के प्रति अन्योन्य उत्तरदायित्व इस विश्वास के साथ स्वीकार करते हैं कि समाज में साहित्य की स्वतंत्र प्रक्रिया होनी चाहिए। समाज में लेखक का व्यक्ति और संस्था के रूप में वही महत्व वही स्तर होना चाहिए जो किसी

धर्म पुरुष, राजनीतिक या दार्शनिक आदि का होता है। लेखक को तर्कों के क्षेत्र में एक ऐसा अनुभूतिपूर्ण सर्जक मानना चाहिए जिसका मुख्य कार्य हमें यह बताने में सहायता करना है कि किसी भी क्रिया का कैसे सजगता पूर्ण निरीक्षण करें। यही साहित्य एक 'संस्था' के रूप में जन्म लेता है और उसी स्तर की शक्ति ग्रहण करता है जिस स्तर पर धार्मिक राजनीतिक और शैक्षणिक संस्थाएं। इस स्थिति में साहित्य जीवन का एक पथ बन जाता है। लेखक और आलोचक सोचते हैं कि मानव अनुभूति को प्रदर्शित करने की सर्वोत्तम विधा की खोज ही मनुष्य का सबसे बड़ा कार्य है। यह कार्य तभी सम्भव है जब लेखक, आलोचक और पाठक तीनों ही इस विचार के प्रति अपने को एकनिष्ठ कर लें और स्वयंभूत संस्था के रूप में कार्य करने लगें निम्नांकित रेखाचित्र साहित्य संस्था की तीनों इकाइयों—लेखक, आलोचक और पाठक के बीच घनिष्ठ और अन्योन्य सम्बन्ध दिखलाता है।[1]
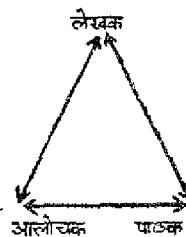
डंकन का सुझाव है कि साहित्य के सही अध्ययन के लिए साहित्य-संगठन की इसी प्रकार की कुछ ठोस क्रियाशील इकाइयों का पता लगाकर उस पर केन्द्रित होना होगा और तभी हमें उस साहित्य के विचारों की शैली विचारों की दिशा, मूल तत्व आदि का पता लग सकेगा।

साहित्य के अध्ययन की उपरोक्त वैज्ञानिक प्रक्रिया को अपनाने में संभव है अनेक अस्पष्टताएं सामने आएँ। लेकिन फिर भी बिना कुछ आधार बनाए और प्रयोग की ओर अग्रसर हुए बिना सम्भव नहीं कि हम नवीन पथ का निर्माण कर सकें। अभी तो इस क्षेत्र में कोई प्रयास ही नहीं हुआ है, प्रयास होने पर समस्यायें सामने आएंगी और उनका हल भी सम्भव है।

१ लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर इन सोसायटी पृष्ठ ६८ ७२।

साहित्य का समाजशास्त्रीय विश्लेषण और दिशाएं

समाजशास्त्रीय आलोचना की दिशाओं के सम्बन्ध मे ऊपर जो कुछ भी विचार हुआ है उससे हम इस आलोचना-प्रणाली के निम्नलिखित निष्कर्षो पर पहुंच सकते हैं —(१) इस प्रणाली द्वारा पर्याप्त तथ्यों के आधार पर किसी भी रचना के सम्बन्ध में निष्पक्ष होकर विवेचन करने की सम्भावना, को प्रोत्साहन मिलता है और अन्यथा रूप में अतिवादी प्रशंसात्मक या विरोधात्मक धारणाएं बनने की सम्भावना कम हो जाती है। (२) संदर्भ, के अध्ययन से रचना के विभिन्न संकेत-स्थल बिम्ब, प्रतीक इत्यादि भी अपना उचित अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। संदर्भ ज्ञान के अभाव में अनेक व्यंजनाए अर्थहीन सी लगने लगती हैं और वह प्रेषणीयता जो एक संगीत विशेष मे महत्वपूर्ण अर्थ रखती है, संदर्भ के अज्ञान के कारण अधिक स्पष्ट नहीं हो पाती। जैसे तुलसीदास की पंक्ति का अर्थ — 'मांग कै खैइबो सोइबो मसीतको" — उनके जीवन संदर्भ और ऐतिहासिक संदर्भ को ठीक-ठीक जाने बिना समझ में नहीं आ सकता। ठीक इसी प्रकार कई रचनाओं में भी कई स्थल ऐसे होते है, जिनका मूल्य बिना संदर्भ समझे स्पष्ट नहीं हो पाता। (३) प्रामाणिकता पर आग्रह करने से एक प्रकार की विश्लेषण वृत्ति स्वतः जागृत हो जाती है, जो अर्थ के विभिन्न आयामों के प्रति हमें परिचित करती है। प्रत्येक रचना और रचनाकार की भाव स्थिति और विचार पद्धति के लिए बिना प्रमाण के कुछ भी कहना गलत ही नहीं अन्याय पूर्ण भी हो सकता है, इसलिए समाजशास्त्रीय विश्लेषणात्मक प्रणाली प्रामाणिकता पर आग्रह करके बहुत से अनावश्यक विवादों को समाप्त करने मे सहायक होती हैं। (४) ऐतिहासिकता के साथ-साथ भाव बोध के विभिन्न स्तरो का ज्ञान भी इस प्रणाली के माध्यम से अधिक सरल और सुलभ हो सकता है। प्रत्येक देश-काल में ऐतिहासिक सीमाओं और विशेषताओं के कारण भाव बोध के विभिन्न रूप विकसित होते रहते है। इन विकसित भाव बोध के स्तरों को ऐतिहासिक संदर्भ के बिना समझने में कठिनाई हो सकती है अतः समाजशास्त्रीय समीक्षा प्रणाली द्वारा यह कठिनाई काफी सीमातक समाप्त की जा सकती है। भूषण के कई कवित्त बिना ऐतिहासिक संदर्भ के वह भाव-बोध स्पष्ट नहीं कर सकते जो उन कवित्तों को जानने के लिए अनिवार्य है। प्राचीन साहित्य के अनेक ग्रंथों के अध्ययन के लिए यह प्रणाली आवश्यक है। हो सकता है साहित्यिक स्तर से उनका बहुत महत्वपूर्ण स्थान न हो, पर ऐतिहासिक भाव

बोध की दृष्टि से उनका महत्वपूर्ण स्थान हो सकता है। (५) साहित्य की तीनों इकाईयों लेखक, पाठक, और आलोचक का स्वतंत्र और अंतः सम्बन्धी स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

कुछ समीक्षकों की ओर से ऐसी भी शंका उठायी जाती है कि 'समाजशास्त्रीय समीक्षा कर्म मे यह जानलेना भर काफी है कि कलाकार का युग और समाज किस प्रकार का था। दूसरे शब्दों में समीक्षक के युग आदि की जानकारी को ही साहित्यिक अभिरुचि तथा रसज्ञता का स्थानापन्न मान लिया जा सकता है। दूसरा खतरा यह है कि वह आलोच्य कृति मे केवल उन्हीं चीजों को देखे जिनकी व्याख्या स्थूल समाजशास्त्रीय जानकारी के आलोक में ही हो सकती है।,[1] स्पिनगार्न ने भी एक स्थान पर ऐसी ही शंका उठाई है कि ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक कोटियों की आलोचनाएं हमारे ध्यान को स्वयं कलाकृति से दूर हटाकर कलाकार के युग, परिवेश, कला-सम्प्रदाय, जीवनी आदि की ओर ले जाती हैं। इन उक्तियो के उत्तर में यदि हम अज्ञता का आरोप लगाएं तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। वास्तव में यह आवश्यक है कि समाजशास्त्र की अपनी सीमाएं हैं और जब भी कोई समाजशास्त्रीय समीक्षा करने बैठता है तो उसे उन सीमाओं का ध्यान रखना चाहिए। लेकिन फिर भी समाजशात्र युग, परिवेश, कला-सम्प्रदाय, जीवनी आदि तक ही तो सीमित ही नहीं है। वस्तुतः समाजशास्त्र का दायरा इनसे बड़ा है और यदि समाजशास्त्री से पूछा जाय तो वह कहेगा कि समाजशास्त्र में तो अब उक्त तत्वों का विवेचन तो रूढ़ और घिसा पिटा हो गया है वह तो सामान्य विवेचन की चीजें हैं और एक शुद्ध साहित्यक समीक्षक भी उसका आश्रय लेता है। विश्वास के लिए पं० रामचन्द्र शुक्ल लिखित हिन्दी साहित्य का इतिहास कोई देख सकता है। किन्तु समाजशास्त्र में विभिन्न अंतःसम्बन्धों और क्रियाओं तथा इन सम्बन्धों और क्रियाओं की इकाइयों, जिनमें कृति, कृति और पाठक—समाज सभी के वैयक्तिक पहलू का विवेचन स्पष्टतया इन इकाइयों की मनोदशाओं, मनोवेगों और अनुभूतियों अथवा अभिप्रेत विषय वस्तु विश्लेषण के परिप्रेक्ष्य में किया जाता है। मूलतः एक अर्थशास्त्री होने के बावजूद विलफ्रेडो पैरेटो ने व्यवस्था दी

---

१. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, डा० देवराज, पृष्ठ २४०।

थी कि व्यक्ति और समाज का एक आर्थिक आधार तो अवश्य होता है किन्तु यही सब कुछ नहीं है। एक सामाजिक प्राणी के रूप में एक व्यक्ति की केवल आर्थिक आवश्यकताएं ही नहीं, अन्य प्रकार की आवश्यकताएँ भी होती हैं। व्यक्ति के सम्बन्ध में उचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी मूल प्रवृत्तियों, कोमल भावनाओं, उद्वेगों, अनुभूतियों का भी ध्यान रखना होगा। यह कार्य पैरेटो ने भी समाजशास्त्र से ही सम्भव माना है।

यह बात अवश्य है कि समाजशास्त्रीय समीक्षा में विवेच्य विशेष को 'सम्पूर्ण की ईकाई' के रूप में मानना नहीं भूला जाता। इसे चाहे समाजशास्त्रीय समीक्षा की कमी कहा जाय या विशेषता। डा० देवराज या स्पिनगार्न यदि यह कहें कि समाजशास्त्रीय समीक्षा करते समय साहित्यिक सिद्धान्तों को नही भूलना चाहिए, उनकी अवहेलना नहीं की जानी चाहिए तो माना जा सकता था। अपेक्षा भी साहित्य के समाजशास्त्री से की जाती है कि दोनो विषयों के सिद्धान्तों के सहयोग से समीक्षा प्रणाली विकसित की जाय। समाजशास्त्री यह अवश्य मानकर चलता है कि कला या साहित्य का रूप सामाजिक परिस्थितियों से निर्धारित होता है लेकिन यह नहीं मानता कि 'सामाजिक मूल्य ही सब कुछ है। विषय की शैलीगत विशेषता, अलंकार आदि के विवेचन में समाजशास्त्री किसी प्रकार की उनके पीछे सामाजिक लीक पकड़ने की कोशिश नही करता। अलंकारों का विवेचन समाजशास्त्र की सीमा के भीतर अभी सम्भव नहीं। प्रकृति के विशुद्ध आत्मीय या दार्शनिक विवेचन को भी समाजशास्त्री अपनी सीमा के भीतर नहीं ले सकता। प्राय: विषय की अपनी स्थूलता के कारण हो सकता है कि समाजशास्त्री अनेक अनुभूतियों के उन धार्मिक स्थलों तक भी पहुँच पाने मे समर्थ न हो सके जो कलाकार के ऐकांतिक क्षणों की चरम अनुभूति हो, निगूढ़, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक या अन्य इसी प्रकार की कल्पनामूलक अभिव्यक्ति की व्याख्या न कर पाए। यदि समाजशास्त्री ऐसा नहीं करता तो बुराई नही, यह तो उसकी सीमा के बाहर है, वहां तक पहुँचना उसका कार्य नहीं। ऐसी बहुत सी अनुभूतियां हैं जिनको मनुष्य गुन सकता है, गा नहीं सकता, रस पा सकता है; रस का बखान नहीं कर सकता और बहुत से स्थलों पर कला की यही चरम सफलता मानी जाती है। इसमें मुझे भी कोई आपत्ति नही क्य कि मैं भी ऐसी ही प्राप्ति को कला की चरम मानता हूँ

४

प्रतीक और भाषा

प्रतीक

प्रतीक मानव क्रिया की उत्पत्ति है। मानव समूह प्राणी है। समूह हितो पर अनुबन्धित व्यक्तियों का एक योग है। यह योग एकता के कारण स्थिर रहता है। समूह और एकता सहवर्ती है। एकता एक अमूर्त भाव है जो 'एक से' स्वार्थवाले लोगों को एक (Unite) कर उनके स्वार्थ और हितों की पूर्ति करता है। इन भूतपूर्व भावो के मूल मे कई तत्वों का योग रहता है जिसके कारण मनुष्य सहज ही अपने समूह के प्रति अनुबन्धित रहता है। ये अमूर्त भाव हैं भाषा, धर्म, कला-दर्शन साहित्य आदि जो समूह के प्रत्येक सदस्य में विरासत के रूप मे एकता का भाव श्रंखलित करते चले जाते हैं। ये समस्त भाव जिनसे मनुष्य की सामूहिक एकता निर्मित और विकासशील होती है—मूलतः प्रतीकीकरण पर आधारित है। सभी समाज प्रतीकों के निर्माण से अपने क्रिया जगत की स्थापना करते हैं। मनुष्य प्रतीकों की प्रणाली में जीता है। वास्तव में मानव इसलिए मानव है कि वह प्रतीकों का निर्माता और प्रयोगकर्ता है। वह सृष्टि के अन्य प्राणियों (अमानव) से इसीलिए सर्वथा भिन्न हैं कि प्रतीकों की सहायता से उसने मानव सभ्यता और संस्कृति नाम की विशेष चीज अर्जित की है जो पशुओं के पास नहीं है। आधुनिक युग मानव ज्ञान के क्षेत्र में प्रतीकों के महत्व की स्वीकृति के साथ ही हजारों वर्षों की इस प्राचीन मानव परिभाषा और धारणा में अन्तर आ गया है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी (पशु Animal) है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू की इस साधिकार घोषणा को प्रतीकों का अध्ययन करने वाले अद्यतन समाजशास्त्रियों ने चुनौती दे दी है कि मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं है, केवल अंशों का भेद है।

सुसना के लैंजर (Susanna K. Langer) ह्वाईट (L. A white), कैसिरर (E. Cassirer) टी. एम. ग्रीन. (T. M Greene) सिमन ग्रीनवर्ग (Simon Greenberg) प्रभृत समाज के विचारकों ने अनेक तथ्यों द्वारा यह प्रमाणित करने का प्रयास

किया है कि मानव-मस्तिष्क गुणात्मक दृष्टि से अमानव (Non-man पशु) मस्तिष्क से सर्वथा भिन्न है और यह भिन्नता उसकी प्रतीकात्मक क्षमता के कारण है जो किसी अन्य अमानव प्राणी में नहीं पाई जाती। इस प्रयत्न के कारण सहस्त्राब्दियों से चले आने वाले विशेषण 'Social Animal' के स्थान पर 'Homo Symbolicus' विशेषण का प्रयोग होने लगा है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विचारक श्रीमती लैंजर का कथन है कि मानव प्रतीक-क्षमता के ही कारण पृथ्वी का स्वामी बना है।"[1]

समाजशास्त्र में प्रतीक का अध्ययन

प्रतीक मानव जीवन का इतना आवश्यक अंग है कि उस पर कई व्यापक दृष्टियों से विचार होता चला आ रहा है। दर्शन, अध्यात्म और साहित्य आदि के क्षेत्र में इस पर बहुत विस्तृत विचार हुआ है। किन्तु गत दशकों से यह मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के भी अध्ययन का महत्वपूर्ण विषय बन गया है। समाजशास्त्र में प्रतीकों का अध्ययन सामाजिक परिवेश को ध्यान में रखकर किया गया है। समाज-विज्ञान का विद्यार्थी प्रतीकों का अध्ययन इस उपकल्पना को ध्यान में रखकर करता है कि प्रतीक मानव समाज के आदर्शों, मूल्यों और विचारों को प्रदर्शित तथा नियंत्रित करते है। प्रतीक का संबन्ध मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति से है। जैसे-जैसे मानव समाज में प्रतीकों का विकास हुआ है, वैसे ही वैसे उसकी सभ्यता संस्कृति भी विकसित हुई है। मनुष्य वही था जो उसके प्रतीकों ने उसे बना रखा था। उसका वर्तमान भी उसके प्रतीकों के अनुरूप है और वह भविष्य में वैसा ही होगा जैसे उसके प्रतीक होंगे।

प्रश्न यह उठता है कि प्रतीक क्या है? इस सम्बन्ध में अनेक समाज शास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से प्रतीकों को समझाने का प्रयास किया है हम इन्हीं विचारकों के विवेचन के साथ प्रतीक की व्याख्या का प्रयास करेंगे।

व्हाइट के अनुसार "प्रतीक वह वस्तु है। जिसका मूल्य या अर्थ उसके प्रयोगकर्ता द्वारा प्रदान किया जाता है।" इस वक्तव्य से यह स्पष्ट होता है कि प्रतीक का स्वयं में कोई अर्थ नहीं होता वरन प्रतीकों का अर्थ उसके प्रयोग कर्ता द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए शलभ का दीपक

---

१. फिलोसफी इन ए न्यू की, पृ० २०।

पर प्राण निछावर करना सामान्य दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता किन्तु एक साधक या कवि शलभ का यह बलिदान उसके उच्च प्रेम और साधना के कठोर मूल्यों का प्रतीक मानता है। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रतीक किसी वस्तु को अर्थ देने की एक स्थिति है।

अल्फ्रेड सेहुट (Alfred sehut) का कथन है कि "प्रतीक वस्तुओं की अवधारणा का माध्यम है; प्रतीक वस्तु नहीं अवधारणा होते हैं।,[१] सेहुट ने वस्तु के स्थान पर मानसिक अवधारणा को प्रतीकीकरण के लिए प्रमुख माना है। इस मानसिक अवधारणा को उसने सह उपस्थिति प्रसंग (Appresentational Reference) कहा है। वस्तु, तथ्य, या घटना जिन्हें प्रतीक की संज्ञा दी जाती है, कुछ ऐसी चीजों को बताती है जो स्वयं नहीं होती। धुँआ एक भौतिक वस्तु है जिसका हम संवेदनात्मक प्रत्यक्षीकरण करते हैं या देखा जा सकता है, इसके रासायनिक रूप का विश्लेषण भी किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि इसका अपना एक अस्तित्व है किन्तु सामान्य जीवन में इसे सदैव आग के संकेतक के रूप मे ग्रहण किया जाता है, ऐसी स्थिति मे वह स्वयं जो कुछ है उससे भिन्न मानसिक अवधारणा का निर्माण करता है। इसमें धुएं और आग का एक युग्म बनता है जिसमें दोनो की साथ साथ उपस्थिति प्रासंगिक होती है। यही सह उपस्थिति-प्रसंग है। सह उपस्थिति प्रसंग की प्रक्रिया ही वस्तुतः प्रतीकीकरण है।

कैसिरर ने चिन्ह और प्रतीक का अलग-अलग विवेचन करते हुए बताया कि "चिन्ह भौतिक जगत की वस्तुओं का एक अंग और चालक (Operator) है और प्रतीक मानव के अर्थ-जगत का प्रकाशक और भाग है। प्रतीक चिन्ह के प्रकार्यात्मक मूल्य होते हैं।"

वास्तव में प्रतीक एक माध्यम है। प्रतीक किसी दृश्य (अथवा गोचर) वस्तु का अर्थ है जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करता है। यह व्यक्ति द्वारा

---

१. विज्ञान, दर्शन और धर्म की चौदहवीं अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी में वाचित निबन्धों का संकलन। सेहुट का निबन्ध "सिम्बल रियलिटी एंड सोसायटी'

प्रतीक और भाषा

किसी वस्तु, घटना अथवा तथ्य को अपनी भावना, आकांक्षा अथवा उद्देश्य अभिव्यंजना के निमित्त किया गया संज्ञारोपण अथवा अर्थारोपण है जो उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र की अभिव्यक्ति प्रणाली के अनुरूप होता है जिसका वह व्यक्ति सदस्य होता है। मस्तिष्क के अन्दर की अवधारणा ही प्रतीक है और जब यही अवधारणा मन के बाहर प्रकट स्वरूप पर आरोपित होती है तो चिन्ह बन जाती है। जैसे राष्ट्रीयता का प्रतीक हमारे अन्तर में है और झण्डा उसका चिन्ह है। चिन्ह प्रतीकों का स्थिरीकरण करते हैं। झण्डे का मानसिक अर्थ ही हमारे लिए प्रतीक है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो सकती है। जैसे कोहिनूर हीरा लाया जा सकता है लेकिन अङ्कगणित क १,२,३,४ आदि नहीं लाए जा सकते किन्तु फिर भी मनुष्य के मस्तिष्क में इनका अस्तित्व है और ये विश्व की बहुत बड़ी वास्तविकता है। इन्हीं पर आज विश्व का सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान आधारित है। यह प्रतीकात्मक क्षमता मानव की अपनी विशेषता है जो विश्व के किसी अन्य प्राणी में नहीं पाई जाती। प्रतीकों ने हमारी सम्पूर्ण यथार्थता को नियन्त्रित कर रखा है। इसलिए हम जैसा सामाजिक संगठन चाहते हैं वैसे वैसे प्रतीकों का निर्माण कर लेते हैं। जैसे अङ्कगणित में १,२,३,४ आदि के प्रतीक हैं वैसे ही जीवन में कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि भी प्रतीक हैं जो भिन्न-भिन्न समाज में उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप भिन्न-भिन्न है। मनुष्यों के अतिरिक्त किसी अन्य प्राणी में प्रतीक नहीं होते। मनुष्य के भावी समाज में जो कुछ सम्भावनाएं हैं वे सब प्रतीक पर आधारित हैं। प्रतीकों की रचना मनुष्य बड़े प्राचीन काल से करता आ रहा है। असभ्य या आदि मानव को आज की विकसित अवस्था तक पहुँचाने का श्रेय मनुष्य की प्रतीकात्मक क्षमता को ही है। विश्व की समस्त भाषाएं तथा लिपियाँ प्रतीक प्रणाली का समुच्चय रूप हैं। विशुद्ध या मूल कोशीय अर्थ के रूप में शब्द का कोई महत्व नहीं है। ये तो तभी महत्व पाते हैं जब अर्थवान हों और वस्तु अथवा विषय का आरोपित अर्थ प्रतीक है। मनुष्य का समस्त जीवन प्रतीकों से परिपूर्ण है। प्रत्येक शब्द प्रयुक्त होते ही पूर्वापरता, परम्परा, विशिष्ट भाव, संवेदना और जीवन उद्बोधन का एक बृहद् संसार सामने लाता है। पूर्व संदर्भों या पूर्वानुभूत संवेदनाओं को उभार कर वह तात्कालिक अनुभूतियों या संवेदनाओं को विस्तृत गम्भीरता या मार्मिकता

प्रदान करता है। धार्मिक संस्कार और कर्मकांड, प्रतिमाओं, मदिरों आदि का निर्माण एवं रूपाकार तथा साहित्य, कला, संगीत आदि का एक विशिष्ट अर्थ और महत्व होता है। अल्बर्ट सोलोमन का कथन है कि 'प्रतीक सामाजिक एकता का सृजन करता है और परिसीमित व्यक्ति और असीमित अर्थों के बीच (जिसमे व्यक्ति भाग लेता है) बन्धों (Bonds) को एकीकृत करता है, ब्रह्माण्ड में व्यक्ति की स्थिति के ज्ञान को हस्तगत करता है और समूह के संगठन में व्यक्ति की भूमिका को जोड़ता है।'

सम्पूर्ण जीवधारियों में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जिसके पास प्रतीक निर्माण और प्रयोग की क्षमता है। अतः प्रश्न उठता है कि क्या यह क्षमता केवल मनुष्य तक ही सीमित है? यदि केवल मनुष्य ही प्रतीकों का प्रयोग कर सकता है तो वह किसी विशेषता के कारण। इन प्रश्नों पर भी विचार करना आवश्यक है।

मानव और अमानव मस्तिष्क में अन्तर

'मानव' संबंधी विचार धारा के दो प्रवाह हैं; विचारधारा का एक प्रवाह मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नही मानता, पशु और मनुष्य प्रायः समान ही हैं, केवल उनकी बौद्धिक क्षमता में कुछ अंशों के अन्तर होने से उनमें स्तर का अन्तर है। इस विचारधारा के लोग मनुष्य में दानवत्व का ही गुण देखते हैं। विचारधारा के दूसरे प्रवाह में मनुष्य को पशु से सर्वथा भिन्न सिद्ध कर देवत्व के गुणों को देखने का प्रयास किया जाता है। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य में कुछ ऐसी विशेषताएँ या क्षमता है जिनके कारण वह अन्य प्राणियों से भिन्न है और यह क्षमता है प्रतीक-निर्माण और प्रतीक-प्रयोग की जो पशुओं में नहीं पाई जाती। इस विचारधारा के मुख्य प्रतिपादक एल० ए० ह्वाइट, सुसना लैंजर, कैसिरर आदि हैं और पहली विचारधारा के प्रतिपादकों में हाब्स, लॉक, फ्रायड आदि प्रमुख हैं।

हाब्स मनुष्यों मे दानवत्व या पशुवत्व के ही गुणों को देखता था, और पशु और मनुष्य मे केवल बौद्धिक अंशों (Degrees) का अन्तर मानता था। बीसवीं शताब्दी में डार्विन ने इस सिद्धांत का विकास किया और धीरे-धीरे यह विचारधारा बलवती होती गई। डार्विन का कहना है कि मनुष्य और पशुओं में किसी तरह का कोई अन्तर नहीं है बुद्धि का भी अन्तर नहीं है अन्तर है केवल बुद्धि के अंशो का डार्विन के इस कथ्य को बहुत से जीव

होता है। लेकिन मनुष्य रचनात्मक भूमिका अदा कर स्वयं रचनाकार (Creator) हो जाता है। व्हाइट का मत है कि वस्तुओं को मूल्य प्रदान करना मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है। अमानव उस बेतार के तार के समान है जो सूचना ग्रहण तो कर सकता है, भेज नहीं सकता। किन्तु मानव दोनों कर सकता है और यह अन्तर गुणों का है, अंशों का नहीं। समस्त मानव व्यवहार का आरम्भ प्रतीक के प्रयोग से होता है।

एस० के० लैंजर का मत

प्रतीक पर गहन अध्ययन करनेवाली विदुषी महिला स्वर्गीय श्रीमती लैंजर ने मानव और अमानव मस्तिष्क में भेद के जो आधार प्रस्तुत किए हैं उसके कारण बड़े प्राचीन काल से चली आ रही मानव और मानवता की रूढ़ अवधारणा में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हो गया है। इनके ही प्रयास से मनुष्य अब मात्र सामाजिक प्राणी (Social animal) न माना जाकर सामाजिक के साथ प्रतीकात्मक 'Homo-Symbolicus'—माना जाने लगा है। इनकी प्रसिद्ध कृति 'Philosophy in a New key' में प्रतीक संबंधी इनके विचारों का बड़ा सुन्दर विवेचन मिलता है। अपनी दूसरी पुस्तक—"Feeling and Form" में प्रतीक-प्रणाली—कला, धर्म, साहित्य आदि के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किया है।

लैंजर ने मानव और अमानव में अन्तर के स्पष्टीकरण के लिए मुख्य आधार उनकी आवश्यकताओं को बताया है। इनके अनुसार पशु की आवश्यकताओं और मानव आवश्यकताओं में भेद है जो दोनों के मस्तिष्क में भी अन्तर होने का प्रतीक है।

पशुओं की आवश्यकताएँ सामान्यतया मूल प्रवृत्तियों से निर्देशित होती है। पशु सामूहिक प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करते हैं किंतु मनुष्य की आवश्यकताएं मूल प्रवृत्ति से तो निर्धारित होती ही है; साथ ही मूल प्रवृत्तियों से भी ऊँची भूमि का वह अधिष्ठाता है जिसके कारण वह ऊँची और नई-नई आकांक्षाओं, उद्देश्यों और आदर्शों के प्रति प्रयत्नशील रहता है। इस बात में पूरा संदेह है कि कोई पशु भी किसी प्रकार के ऊँचे आदर्श आदि रखते है, अभी तक किसी ऐसे अमानव समूह का पता नहीं लग सका है। आदर्शों और उद्देश्यों की

प्रदान करता है। धार्मिक संस्कार और कर्मकांड, प्रतिमाओं, मंदिरों आदि का निर्माण एवं रूपाकार तथा साहित्य, कला, संगीत आदि का एक विशिष्ट अर्थ और महत्व होता है। अल्बर्ट सोलोमन का कथन है कि 'प्रतीक सामाजिक एकता का सृजन करता है और परिसीमित व्यक्ति और असीमित अर्थो के बीच (जिसमें व्यक्ति भाग लेता है) बन्धों (Bonds) को एकीकृत करता है, ब्रह्माण्ड मे व्यक्ति की स्थिति के ज्ञान को हस्तगत करता है और समूह के संगठन में व्यक्ति की भूमिका को जोड़ता है।'

सम्पूर्ण जीवधारियो में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जिसके पास प्रतीक निर्माण और प्रयोग की क्षमता है। अतः प्रश्न उठता है कि क्या यह क्षमता केवल मनुष्य तक ही सीमित है ? यदि केवल मनुष्य ही प्रतीकों का प्रयोग कर सकता है तो वह किसी विशेषता के कारण। इन प्रश्नों पर भी विचार करना आवश्यक है।

मानव और अमानव मस्तिष्क में अन्तर

'मानव' संबधी विचार धारा के दो प्रवाह हैं; विचारधारा का एक प्रवाह मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं मानता, पशु और मनुष्य प्रायः समान ही हैं, केवल उनकी बौद्धिक क्षमता में कुछ अंशों के अन्तर होने से उनमें स्तर का अन्तर है। इस विचारधारा के लोग मनुष्य में दानवत्व का ही गुण देखते हैं। विचारधारा के दूसरे प्रवाह में मनुष्य को पशु से सर्वथा भिन्न सिद्ध कर देवत्व के गुणों को देखने का प्रयास किया जाता है। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य में कुछ ऐसी विशेषताएँ या क्षमता है जिनके कारण वह अन्य प्राणियों से भिन्न है और यह क्षमता है प्रतीक-निर्माण और प्रतीक-प्रयोग की जो पशुओ में नहीं पाई जाती। इस विचारधारा के मुख्य प्रतिपादक एल० ए० ह्वाइट, सुसना लैंजर, कैसिरर आदि हैं और पहली विचारधारा के प्रतिपादकों में हाब्स, लॉक, फ्रायड आदि प्रमुख हैं।

हाब्स मनुष्यों में दानवत्व या पशुवत्व के ही गुणों को देखता था, और पशु और मनुष्य में केवल बौद्धिक अंशों (Degrees) का अन्तर मानता था। बीसवीं शताब्दी में डार्विन ने इस सिद्धांत का विकास किया और धीरे-धीरे यह विचारधारा बलवती होती गई। डार्विन का कहना है कि मनुष्य और पशुओं में किसी तरह का कोई अन्तर नहीं है बुद्धि का भी अन्तर नहीं है अन्तर है केवल बुद्धि के अंशों का डार्विन के इस कथ्य को अन्त से बोध

होता है। लेकिन मनुष्य रचनात्मक भूमिका अदा कर स्वयं रचनाकार (Creator) हो जाता है। व्हाइट का मत है कि वस्तुओं को मूल्य प्रदान करना मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है। अमानव उस बेतार के तार के समान है जो सूचना ग्रहण तो कर सकता है, भेज नहीं सकता। किन्तु मानव दोनों कर सकता है और यह अन्तर गुणों का है, अंशों का नहीं। समस्त मानव व्यवहार का आरम्भ प्रतीक के प्रयोग से होता है।

एस० के० लैंजर का मत

प्रतीक पर गहन अध्ययन करनेवाली विदुषी महिला स्वर्गीय श्रीमती लैंजर ने मानव और अमानव मस्तिष्क में भेद के जो आधार प्रस्तुत किए हैं उसके कारण बड़े प्राचीन काल से चली आ रही मानव और मानवता की रूढ़ अवधारणा में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हो गया है। इनके ही प्रयास से मनुष्य अब मात्र सामाजिक प्राणी (Social animal) न माना जाकर सामाजिक के साथ प्रतीकात्मक 'Homo-Symbolicus'—माना जाने लगा है। इनकी प्रसिद्ध कृति 'Philosophy in a New key' में प्रतीक संबंधी इनके विचारों का बड़ा सुन्दर विवेचन मिलता है। अपनी दूसरी पुस्तक—"Feeling and Form" में प्रतीक-प्रणाली—कला, धर्म, साहित्य आदि के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किया है।

लैंजर ने मानव और अमानव में अन्तर के स्पष्टीकरण के लिए मुख्य आधार उनकी आवश्यकताओं को बताया है। इनके अनुसार पशु की आवश्यकताओं और मानव आवश्यकताओं में भेद है जो दोनों के मस्तिष्क में भी अन्तर होने का प्रतीक है।

पशुओं की आवश्यकताएं सामान्यतया मूल प्रवृत्तियों से निर्देशित होती हैं। पशु सामूहिक प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करते हैं किंतु मनुष्य की आवश्यकताएं मूल प्रवृत्ति से तो निर्धारित होती ही हैं; साथ ही मूल प्रवृत्तियों से भी ऊँची भूमि का वह अधिष्ठाता है जिसके कारण वह ऊँची और नई-नई आकांक्षाओं उद्देश्यों और आदर्शों के प्रति प्रयत्नशील रहता है। इस बात में पूरा संदेह है कि कोई पशु भी किसी प्रकार के ऊँचे आदर्श आदि रखते है, अभी तक किसी ऐसे अमानव समूह का पता नहीं लग सका है। आदर्शों और उद्देश्यों की

महत्वाकांक्षाओं ने मनुष्य को सभ्यता-संस्कृति के निर्माण की ओर प्रेरित किया। इस प्रकार मस्तिष्क, उद्देश्यों और महत्वाकांक्षाओं की दृष्टि से अंतर होने के कारण पशुओं और मनुष्य की क्रियाओं में भी अंतर होता है।

लैंजर का मत है कि उन मनोवैज्ञानिकों या प्राणिशास्त्रियों ने बड़ी भूल की है जिन्होंने मनुष्य को पशु-नमूने (Zoological model) का माना है। इन विचारकों के अनुसार मानव की सभी क्रियाएँ पशुवत् होती है। इसका खंडन करते हुए लैंजर ने कहा कि मनुष्य के लिए मूल प्रवृत्त्यात्मक आवश्यकताएँ ही सब कुछ नहीं हैं, वरन् आदर्शों, मूल्यों एवं सभ्यता-संस्कृति के कारण मानव आवश्यकताएं अमानव आवश्यकताओं से भिन्न हैं। आवश्यकताओं का अंतर दोनों के मस्तिष्क में भिन्नता सिद्ध करता है जिसका प्रमाण है मानव की प्रतीकीकरण की शक्ति। सुसना लैंजर मनुष्य को 'होमो सिम्बोलिकस' कहती है।

कैसिरर का मत

कैसिरर मूलत: दार्शनिक है और मुख्यत: सांस्कृतिक दर्शनशास्त्र से संबंध रखते हैं किंतु समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी अपना विचार प्रस्तुत किया है। उन्होंने मानव और अमानव को प्रतीकात्मक अस्तित्व के आयाम (Dimenson of Symbolic reality) पर भिन्न बताया है। उनका कहना है कि यद्यपि मनुष्य और अमनुष्य जैविकीय संगठन की दृष्टि से प्राय: समान हैं किंतु अमानव के पास केवल दो ही आयाम है—(१) ग्राहक संस्थान और (२) प्रभावक संस्थान। शरीर का एक पक्ष संवेदना ग्रहण करता है, जैसे आलपीन चुभने पर दर्द होता है। दूसरा पक्ष दर्द के साथ इससे बचने का, हाथ हटाने का प्रयास करता है। ये दोनों पक्ष पशु और मनुष्य दोनों में एक से हैं। लेकिन मनुष्य में एक तीसरा पक्ष भी है जिसके कारण उसका आयाम न केवल अंशों में ही पशु से विस्तृत है वरन् गुणों की दृष्टि से भी विस्तृत और भिन्न है। यह तीसरा पक्ष मनुष्य में उसकी जैविकीय क्षमता के अतिरिक्त अपनी स्थितियों से सामञ्जस्य की एक नई प्रतीक प्रणाली की व्यवस्था (Symbolic System) है। यह तीसरी प्रणाली सम्पूर्ण मानव जीवन को परिवर्तित कर पशु से सर्वथा भिन्न कर देती है। इस शक्ति के कारण मनुष्य न केवल विशाल वास्तविकता प्राप्त करता है वरन् ता के नए आयाम

(New Dimenson of reality) में रहता है। मानव ने प्रतीकात्मक जगत के रूप मे भाषा-रूपों, कला-बिम्बों, पौराणिक प्रतीकों या धार्मिक संस्कारों में अपनी जैविकीय आवश्यकताओं को इस प्रकार आवेष्टित कर लिया है कि वह अपनी हर बात के लिये इन्हीं के भीतर से सब कुछ सोचता और करता है। ऐसा मान लेने पर 'मानव' की रूढ़ (Classical) परिभाषा मे सुधार और विस्तार किया जा सकता है। मनुष्य अभी तक विचारवान प्राणी (Animal rationale) माना गया है किंतु प्रतीकात्मक आधार का स्वीकार कर लेने पर प्रतीकवान प्राणी (Animal Symbolicum) ही मानना पड़ेगा।

इन मतों पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि मानव और अमानव मस्तिष्क में गुणों की दृष्टि से मौलिक अन्तर है और इस अन्तर का कारण मनुष्य की प्रतीकीकरण की क्षमता ही है। मनुष्य के प्रतीक ही उसकी सभ्यता, संस्कृति और युग विशेष का निर्माण करते हैं। जिस युग में मनुष्य जैसे प्रतीकों की रचना करता था, वैसी ही उसकी सभ्यता थी। प्राचीन युग में उनके प्रतीकों का संबंध मुख्य रूप से धार्मिक था, इसलिए वह युग और संस्कृति धार्मिक तथा अध्यात्मवादी थी। आज हमारे प्रतीक औद्योगिक और विज्ञान संबंधी हैं, इसलिए प्राचीन से भिन्न आज हमारी सभ्यता औद्योगिक है और युग वैज्ञानिक। इसका अर्थ यह है कि भविष्य भी प्रतीकों पर निर्भर है, जैसे हम भावी प्रतीकों का निर्माण करेंगे, वैसी ही हमारी भावी सभ्यता भी होगी। अर्थात् हमारी आशा हमारी प्रतीकीकरण की क्षमता में ही निहित है। प्रतीकीकरण की विशेषताओं को स्वीकार कर लेने पर कैसिरर का मत है कि हम मानव और अमानव अन्तर को समझ जाएँगे[1]।

किसी देश की संस्कृति, रीति-रिवाज और प्रचलित रूढ़ियों के अनुसार ही प्रतीक की सृष्टि होती है। प्रकृति मे ३ प्रकार की प्रक्रियाएँ सृष्टि, पालन और संहार—होती हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार ये तीनों प्रक्रियाएँ ईश्वर के भिन्न गुणों की प्रतीक हैं और इस प्रतीक की सूचक यह

---

१. ऐन एसे आन मैन, पृ० ४३।

त्रिमूर्ति है जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश के चिह्न द्वारा प्रकृति की प्रतीकात्मक शक्ति की व्याख्या की जाती है। ईसाई मतवालों का क्रॉस भी उसी प्रकार का महत्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रतीक है। वह ईसा के जीवन से संबंधित इस बात का प्रतीक है कि मनुष्य में ईसा की भाँति दुःखों को सहन करने की असीम शक्ति होनी चाहिए। प्रकृति की शक्ति के समक्ष मनुष्य तुच्छ है इसलिए उसे प्रार्थना में विश्वास रखकर प्राणों की बलि दे देनी चाहिए।

चिह्न और प्रतीक

प्रतीक की परिभाषा और अर्थ को स्पष्ट करते समय उसके साथ चिह्न (Sign) शब्द का भी प्रयोग करना पड़ा। इसलिए प्रतीक के स्वतन्त्र अस्तित्व को समझने के लिए चिह्न से उसकी भिन्नता को समझना आवश्यक है। बहुत से लोग सामान्य भाषा में चिह्न और प्रतीक शब्द में कोई भेद नहीं समझते लेकिन वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर चिह्न और प्रतीक पर्याप्त रूप से एक दूसरे से भिन्न हैं। यद्यपि चिह्न और प्रतीक अन्त: परिवर्तित शब्द हैं और एक दूसरे के पूरक भी हैं किंतु दोनों के बीच सबसे बड़ा अंतर यह है कि चिह्न किसी निश्चित वस्तु या विषय का पूर्ण संदर्भ है और प्रतीक तर्क एवं अर्थबोध का संदर्भ है।

प्रतीक स्थिति (Symbol Situation) को दो भागों में बाँटा जा सकता है—पहला भौतिक रूप और दूसरा अर्थ रूप। किसी भी वस्तु का एक तो अपना यथार्थ प्राकृतिक रूप होता है किंतु उससे एक भिन्न रूप भी होता है जो प्रयोगकर्त्ता द्वारा प्रदत्त अर्थ में निहित रहता है। व्यावहारिक रूप में शायद यह बात कुछ सीधी न मालूम पड़े किंतु तार्किक आधार पर यह बात स्पष्ट है कि जो वस्तु है वह अपने स्वतन्त्र रूप में एक अलग वस्तु है और उस वस्तु के ऊपर जो अर्थ आरोपित होता है वह उसकी स्वतन्त्रता से भिन्न स्वरूप निर्धारित करता है। वस्तु का अर्थबोध मस्तिष्क की चीज है, मस्तिष्क में होता है और स्वरूप बोध मस्तिष्क के बाहर उपस्थित वस्तु का भौतिक रूप होता है। जब अर्थबोध को किसी वस्तु पर आरोपित कर देते हैं तो वह चिह्न बन जाता है। ह्वाइट का कथन है कि जब तक यह अर्थ मस्तिष्क में रहता है, तब तक प्रतीक है और वही अर्थ जब किसी वस्तु पर आरोपित

ो जाता है तो चिह्न बन जाता है। अर्थ जब तक वस्तु से पृथक् अस्तित्व रखता है तब तक प्रतीक है।

ह्वाइट ने संवेदना के आधार पर दो अंतर बताए हैं—संवेदनाशील ौर असंवेदनाशील। जो असंवेदनाशील है वह प्रतीक है, केवल इसका संबंध ानसिक प्रक्रिया से होता है। यह संवेगों से संबंधित नहीं होता। लेकिन चह्न संवेगात्मक होते हैं। उदाहरण के लिए तिरंगे झंडे के भीतर कहीं ाष्ट्रीयता छिपी नहीं है। ग्रामोफोन से आवाज निकलकर जैसे हम तक हुँचती है, वैसे ही झंडे से निकलकर राष्ट्रीयता हम तक नहीं पहुँचती। किंतु ाष्ट्रीयता का भाव अपने भीतर प्रतीक रूप से रहता है और वह प्रतीक झंडे की लहर से संबंधित होता है तो हमारे भीतर एक संवेग उत्पन्न ोता है जिससे हम उसे राष्ट्रीय मर्यादा का प्रतीक समझने लगते हैं।

कैसिरर ने चेतना को आधार मानकर चिह्न और प्रतीक के अंतर को समझाने का प्रयास किया है। उसने चेतना के दो गुण बताए हैं—पहला, ेतना से वस्तुओं का प्रतिनिधित्व (Representation) होता है; दूसरा, ेतना में मूर्तिकरण (Configuration) की शक्ति होती है। इसी को पने सिद्धांत का आधार बनाकर उन्होंने चिह्न और प्रतीक के अंतर को समझाने का प्रयास किया है। शीशे के समक्ष जो वस्तु जिस रूप में रखी ाती है उसका वैसा ही प्रतिबिम्ब उसमें पड़ता है। मनुष्य के समक्ष भी ो वस्तु जैसी होती है, वैसा ही उसके मस्तिष्क-चेतना में उसका प्रतिबिम्ब ड़ता है। लेकिन समस्या यह है कि मनुष्य-चेतना न तो शीशे की तरह ही ार्य करती है और न ही मानव मस्तिष्क टाइपराइटर की भांति है जो उतनी ही ्रिया करता है जितनी उसे संवेदना प्राप्त होती है, जैसे टाइपराइटर के अक्षर तना ही छापते हैं जितना उन्हें दबाया जाता है। फिर ऐसी क्या चीज है ो मनुष्य में शीशे अथवा टाइपराइटर के प्रतिनिधित्व से भिन्नता स्थापित रता है? वह वस्तु है मूर्तिकरण या चेतना-सज्जा की। जिस प्रकार कलाकार कसी वस्तु के यथार्थ रूप को अपनी कल्पना और तूलिका से रंग कर एक ाकर्षक रूप दे देता है वैसे ही हमारी चेतना वस्तु की संवेदना को ग्रहणकर पनी इच्छानुसार उसमें बेल-बूटे बनाकर विशेष रूप में उपस्थित करती । इसी 'Configuration' की शक्ति के कारण संस्कृतियों का निर्माण ोता है।

कैसिरर संसार की वस्तुओं को दो भागों में बांटता है। पहला सत्ता-जगत और दूसरा चेतना-प्रक्रिया का जगत। कैसिरर ने चेतना प्रक्रिया में प्रतीक चेतना का अर्थ लिया है। मानव चेतना मूलतः प्रतिनिधित्व पूर्ण होती है। मानव चेतना की क्रिया प्रतिनिधित्व करने की प्रक्रिया है। यह चेतना सभ्यता और संस्कृति के मूल्यों से प्रभावित होती है। जब हम चिह्नों का अपनी संस्कृति के अनुसार अर्थ लगाते हैं तो वही चेतना-प्रक्रिया बन जाता है। संस्कृति की विषय सामग्री समय समय पर बदला करती है जिससे चिह्नों के अर्थ में भी परिवर्तन आता रहता है। इसका सारांश यही है कि प्रतीक गतिशील होते हैं और यह गतिशीलता सांस्कृतिक गतिविधियों से निर्धारित होती है। चिह्न वस्तुओं में होते हैं और प्रतीक चेतना में।

श्रीमती लैंजर ने चिह्न को किसी वस्तु, घटना या स्थिति के भूत, वर्तमान या भविष्य के अस्तित्व का बोध करानेवाला माना है। चिह्न उस वस्तु की स्थानापन्नता (Proxies) है जो प्रयोगकर्त्ता के लिए होता है। चिह्न तीन पक्षों—प्रयोगकर्त्ता, चिह्न और वस्तु से संबंधित होता है। प्रतीक इन ३ पक्षों के साथ (वस्तु में) संप्रत्यय के योग से उत्पन्न होता है। संप्रत्यय (Conception) ही प्रतीक की अर्थवत्ता के लिए मुख्यतः उत्तरदायी है। इस प्रकार प्रतीक-स्थिति ४ पक्षों की अंतः प्रक्रिया से संबंधित है—प्रयोगकर्त्ता, चिह्न, वस्तु और संप्रत्यय।

लैंजर ने प्रतीक के निम्नलिखित गुण बताए हैं—

१. प्रतीक वस्तु नहीं, अवधारणा होते हैं।

२. झंडे के लहराने से हमारे अन्तर में जो संवेदना उत्पन्न हो रही है वह प्रतीक नहीं है वरन् उस संवेदना से जो अर्थ-प्रत्यय आदि उत्पन्न होते हैं, वे प्रतीक है।

३. विचार से पहले प्रतीक उत्पन्न होते हैं।

अस्तु समाजशास्त्र के क्षेत्र में प्रतीकों के इस गहन विवेचन के कारण मानव और अमानव मस्तिष्क में भेद की बात मान लेने पर प्राचीन व्याख्याओं पर आधारित मानव-स्वरूप में परिवर्तन आ जाता है। यह स्वीकार कर लेने पर कि 'मनुष्य प्रतीक उत्पन्न करनेवाला प्राणी है', उस उत्पत्ति-मनोविज्ञान की प्राचीन और रूढ़ धारणा में भी परिवर्तन आ जायगा जो मानव

मस्तिष्क को पशु-रूप का मानकर मानव ज्ञान को निष्क्रिय सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं और हमेशा मानव मस्तिष्क को संवेदना का यथा तथ्य छाप पड़नेवाला (Tabula Rasa) कहा है। लेकिन प्रतीक की समाजशास्त्रीय स्थापना करनेवाले विचारकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य क्रियाशील और रचनात्मक प्राणी है। संवेदना का कार्य प्रतीकों का निर्माण करना है। मनुष्य-मस्तिष्क निरन्तर संवेदनाओं को प्रतीकों में परिवर्तित करने का कार्य करता है, इसलिए समस्त मानव ज्ञान प्रतीकात्मक है।

कला तथा साहित्य के क्षेत्र में दो ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं जिनका लोग भ्रमवश प्रायः प्रतीक के पर्यायवाची रूप में प्रयोग करते हैं—१. बिम्ब (Image) और २. रूपक तथा रूपक कथा (Metaphor & Allegory)। संक्षेप में इनका भी अन्तर समझना आवश्यक है।

प्रतीक और बिम्ब में अन्तर

बिम्ब का स्वरूप और प्रभाव प्रधानतः ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होता है। कला अथवा साहित्य में जब ऐसी विशेषता विद्यमान हो जिससे मन पर स्पष्ट और मूर्त चित्रों की अवतारणा हो तब हम कहते हैं कि उस कला अथवा काव्य में सफल संमूर्तन अथवा बिम्ब-विधान हुआ है। चित्रों का स्पष्ट अंकन और मूर्त रूप में होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रतीकों में इस प्रकार चित्रांकन अपेक्षित नहीं है। उसका कार्य मन को अन्य प्रकार से प्रभावित करना है। प्रतीक किसी पदार्थ का चित्र नहीं खींचता, केवल संकेत द्वारा पदार्थ से भिन्न अर्थारोपण या अवधारणा उत्पन्न करता है। उसकी अपनी निजी व्यवस्था में अनेक प्रभावों, प्रयोजनों तथा अर्थों का सूक्ष्म सम्मिश्रण विद्यमान रहता है। बिम्ब और प्रतीक का भेद स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि पहले का संबंध शिल्प तथा वास्तुकला के अधिक निकट है और दूसरे का दर्शन, साहित्य, विज्ञान और सूक्ष्म विषयों के। प्रतीक बिम्ब से एक सोपान आगे की योजना है। बिम्ब अथवा प्रतिमा वस्तु का पूर्व रूप होती है; जैसे, ताजमहल के स्रष्टा द्वारा उसके वास्तविक निर्माण से पूर्व उसकी मानससृष्टि। किंतु यही प्रतिमा या सृष्टि जब विशेष अर्थारोपण प्राप्त करती है तो प्रतीक बन जाती है। ताजमहल मुमताज बेगम की स्मृति की एक प्रतिमा है किंतु

वही समस्त जगत के लिए अविकल प्यार का प्रतीक है। बिम्ब से प्रतीक को अर्थ विस्तार की क्षमता प्राप्त होती है।

प्रतीक, रूपक और रूपककथा में अन्तर—

रूपक और रूपककथा (Metaphor & Allegory) भी प्रतीक से भिन्न हैं। रूपक में वस्तु अथवा विषय की अति साम्यता के कारण प्रस्तुत अथवा विषय में अप्रस्तुत का आरोप करके अभेद दिखाया जाता है। इस शब्द का अर्थ है, एकता अथवा अभेद की प्रतीति। इस कारण रूपक में दो पक्षों की अनिवार्यता आवश्यक होती है। जैसे 'मानव जीवन बहती सरिता है।' इसमें 'मानव जीवन' और 'बहती सरिता' दो पक्ष है, किन्तु दोनों मे अभेद की प्रतीति कराई गई है। किन्तु प्रतीक में न तो दो प्रत्यक्ष पक्षों की अनिवार्यता होती है और न ही वस्तु से एकता अथवा अभेद प्रकृति। प्रतीक तो वस्तु पर प्रयोगकर्त्ता द्वारा आरोपित स्वानुभूति मूलक अर्थ है। बच्चे को गोद में लिए हुए मोनोलिसा एक मूर्ति है। किंतु विभिन्न व्यक्तियों के लिये वह विभिन्न भावनाओं की प्रतीक है; मातृत्व गौरव महिमा की भी प्रतीक है। यहां रूपक और प्रतीक से भेद समझा जा सकता है।

'रूपककथा', जिसके लिए अंग्रेजी में 'एलेगारी' शब्द का प्रयोग होता है, वह कथात्मक चित्रण या अन्योक्ति है जिसमें प्रस्तुत कथा के भीतर कोई अन्य अप्रस्तुत कथा भी अंतः सलिला की भांति छिपी रहती है। परन्तु प्रतीक रूपककथा से भिन्न है। प्रतीक में प्रस्तुत (वर्ण्य वस्तु) नगण्य होता है, इसका अप्रस्तुत या प्रतीयमान अर्थ ही साध्य होता है। वह कोई कथा अथवा वर्णन नहीं, वरन् उसका संकेत होता है। 'एलेगारी' में प्रतीकात्मकता के प्रयोग द्वारा उसका अर्थ विस्तार किया जाता है किन्तु सारी रूपक कथा प्रतीक नहीं होती।

प्रतीक के प्रयोग

मानव ने अपने विकास के साथ प्रतीक का इस प्रकार आश्रय ग्रहण किया कि जीवन का कोई भी क्षेत्र इससे असम्पृक्त नही है। सभ्यता के अनेक प्रतीक है, हर मनुष्य के अपने प्रतीक हैं, हर क्षण मनुष्य नवीन प्रतीकों का निर्माण करता है, जिन्हें गिनना असंभव है। इसलिए प्रतीकों को प्रकारों में बांट पाना संभव नहीं क्योंकि है ये अनियंत्रित

है और मनुष्य जीवन में इनका व्यापक प्रयोग है। अतः प्रयोग के ही आधार पर इनके विवेचन का प्रयास किया जा सकता है। जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जहां प्रतीक का प्रयोग न हो। लोक संस्कारों और कथाओं, धर्म, दर्शन, कला, साहित्य और यहां तक कि विज्ञान तथा गणित में भी प्रतीकों का प्रयोग ही उन्हें पूर्णता प्रदान करता है। मनुष्य की स्पष्ट अवधारणाओं अथवा इन्द्रिय चेतना के अतिरिक्त कुछ विषय ऐसे होते हैं जिसका हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। किन्तु इनकी कल्पना हम बहुधा अपने तर्क, विश्वास अथवा परम्परा द्वारा कर लिया करते हैं। समस्या यह खड़ी होती है कि हम इन्हें अभिव्यक्त कैसे करें। ऐसे स्थलों पर जहां भाषा की सामान्य शब्द शक्ति अशक्त हो जाती है व्यक्ति प्रतीकों के प्रयोग द्वारा अर्थारोपण कर अपने भाव की अभिव्यक्ति करता है। 'आत्मा' और 'परमात्मा' शब्द ऐसे ही हैं। बचपन से ही इनके बारे में हम तरह तरह की बातें सुनते आए हैं लेकिन किसी ने इन्हें देखा नहीं है अतः किसी को इनकी कोई निश्चित धारणा नहीं है। इसी कारण भिन्न भिन्न समय और भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा इनकी प्रतीकात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई। दर्शन का अधिकांश प्रतीकात्मक ही है। उसके अनेक विषय ऐसे हैं जहां सामान्य भाषा पंगु हो जाती है। ऐसे विषयों को कवि-समयों या अलंकारों की सहायता से भी बोधगम्य कर पाना संभव नहीं हो पाता। 'रूपक', 'समासोक्ति' या 'अन्योक्ति' अलंकारों की सहायता से हम किसी अप्रस्तुत या प्रस्तुत को सामने लाकर विषय को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। इन प्रस्तुत या अप्रस्तुत विषयों का हमारा ज्ञान इन्द्रिय जन्य रहता है। परन्तु जब हम किसी अगोचर विषय या वस्तु का चित्रण करते हैं तो इन अलंकारों का ज्ञान भी हमारी सहायता नहीं कर पाता, वहां हमें सिर्फ प्रतीकों के प्रयोग का आश्रय लेना पड़ता है। कुछ विषय तो ऐसे हैं जिनका सम्पूर्ण कार्य व्यापार प्रतीकों पर ही निर्भर है। जैसे गणित में प्रयुक्त होने वाले सभी अंक। विज्ञान का भी एक बड़ा अंश प्रतीकों पर आश्रित है। विभिन्न देशों के राष्ट्रीय एकता के भिन्न भिन्न प्रतीक, भाषा, लिपि आदि भी ऐसे हैं जो निश्चित अवधारणाओं के आधार पर प्रतीकों पर ही निर्भर हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से प्रतीक ऐसे हैं जो अनुभूति और कल्पना द्वारा निर्मित हैं और आवश्यक रूप से विषय की प्रकृति को प्रतीकात्मक ही बनाए रखते

है। जैसे, समस्त धार्मिक कृत्य (Rituals), पुनीत प्रतीक (Secraments), पुराण गाथाएँ (Myths), साहित्य, कला, स्वप्न आदि। इस प्रकार मानव जीवन में प्रतीकों का व्यापक प्रयोग है।

मनुष्य केवल विद्यमान के प्रति ही नहीं सोचता, वह संभावनाओं, कल्पनाओं में भी अपना मन उतना ही रमाता है। वह लगातार सामाजिक तथा भौतिक परिवेश को अपने हितों के अनुकूल बनाने की चेष्टा करता रहता है। अपने परिवेश को इस प्रकार बदलने की क्षमता मनुष्य की उस शक्ति से सहचरित होती है जिसे प्रत्याहरण (Absrtaction) कहते हैं। यह प्रत्याहरण की क्रिया प्रतीकों द्वारा सरल हो जाती है। वस्तु की समग्रता मनुष्य के लिए महत्वपूर्ण नहीं होती, मनुष्य सदैव वस्तुओं के विभिन्न पहलुओं में रुचि लेता है। किसी समय वस्तु का कोई पक्ष आकर्षित करता है, कभी कोई। मनुष्य-शब्द प्रतीकों का प्रयोग वस्तुओं के विभिन्न पहलुओं को संकेतित करने के लिए करता है। इसके उपरान्त वह उन प्रतीकों को एक दूसरे से संबंधित करके व्यापक कल्पनाओं में अपने अनुकूल ढालने लगता है और इस प्रकार अपनी रचनात्मक बोध-क्रिया द्वारा मनुष्य यथार्थ के विविध प्रतीक मूलक संस्थान (Symbolic Pattern) उत्पन्न करता है। ये संस्थान मूलत उसकी कल्पना में प्रकट होते हैं और उनसे मनुष्य का संबंध भी कल्पना के धरातल पर घटित होता है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि यथार्थ का अर्थ केवल भौतिक वस्तुएँ ही नहीं है। यथार्थ के भीतर नर-नारियों, देवी-देवताओं, तथा दैत्यों आदि का भी, जिनके भीतर हम रुचि लेते हैं, समावेश है और उन विभिन्न मनोभावों, आवेगों आदि का भी, जो हमारे ऊपर प्रभाव डालते हैं। कल्पना द्वारा गढ़े हुए संस्थानों का प्रयोग मनुष्य अपने हितों के के लिए करता है। इन काल्पनिक संस्थानों की सृष्टि विभिन्न क्षेत्रों में नियमों के अनुसार घटित होती है। मानव के विभिन्न प्रतीक-मूलक संस्थान—कर्मकाण्ड, पुराण गाथा, लोकगाथा, साहित्य, कला आदि ऐसी ही काल्पनिक भूमि पर निर्मित हैं जो उनके हितों के लिए विभिन्न नियमों के अनुसार घटित होते हैं। कुछ महत्वपूर्ण प्रतीक प्रयोग या प्रतीक-संस्थानों की नीचे व्याख्या की जा रही है।

कर्मकाण्ड (Rituals)

आदिम मनुष्य को दो चीजें सदा परेशान करती थीं—मौत और जिंदगी।

मौत की आकस्मिकता और जिन्दगी की क्षणभंगुरता से व्यक्ति इतना घबड़ा जाता था कि वह ऐसी स्थितियों की कल्पना (Fantacy) करने लगता था जिससे जीवन का सुख मिले और मृत्यु का भय समाप्त हो। ऐसी अनुकूल इच्छाओं ने कुछ संबंधित काल्पनिक कथाओं और क्रियाओं को जन्म दिया जिनकी पूर्ति से उसे यह संतोष होता, कि संकट टल गया। वह मानता, मृत्यु कोई प्राकृतिक घटना नहीं, अवश्य ही किसी देवी, देवता, भूत-प्रेत आदि का प्रकोप है, अतः इससे बचने के लिए पूजा-अर्चना आवश्यक है। यह पूजा अर्चना ही कर्मकाण्ड हैं। सम्पूर्ण कर्मकाण्ड प्रतीकों के पुञ्ज हैं जिनके प्रतिपादन से मनुष्य को जीवन का सुख और मृत्यु पर अधिकार की कल्पना का आनन्द मिलता था। इसी कल्पना ने एक ओर गाथाओं और दूसरी ओर गाथाओं में आये संदर्भों की पूर्ति के लिए विभिन्न क्रियाओं को जन्म दिया। ये गाथाएँ और क्रियाएँ वस्तुतः पुराणगाथा और कर्मकाण्ड (Rituals) है। इन्हीं के आधार पर व्यक्ति अपने समूह के सदस्यों को विभिन्न प्रतिषधात्मक या निषेधात्मक (Tabooed) क्रियाओं के प्रति सावधान करता था जिनसे देवी-देवता प्रसन्न या असंतुष्ट होते थे और धर्म का पालन या उल्लंघन होता था। समस्त विश्व का आरंभिक साहित्य इसी प्रकार की निषेधात्मक-प्रतिषेधात्मक व्यवस्थाओं—प्रार्थनाओं, क्रियाओं आदि के वर्णन से भरा है। इस प्रकार सभी कर्मकाण्डों का संबंध प्रायः जीवन रक्षा की भावनाओं से रहता है। कर्मकाण्डों को मनुष्य मृत्यु से बचने का और जीवन रक्षा का साधन मानता है। कर्मकाण्ड वस्तुओं या स्थितियों के संबंध में बार-बार किए जानेवाले ऐसे प्रतीकात्मक कार्यों को कहते हैं जो जीवन रक्षा के लिए आवश्यक समझे जाते हैं। ये कर्मकाण्ड विशेष स्थितियों के लिए बहुत ही स्थिर, अभ्यस्त और पहले से जानने योग्य उपाय होते हैं। आधुनिक मनुष्य के लिए भी कर्मकाण्ड उतने ही आवश्यक होते हैं जितने कि आदिम मनुष्य के लिए। जिस प्रकार लोग अपने समाज में स्वीकृत कल्पनाओं को कल्पना नहीं समझते वैसे ही अपने कर्मकाण्ड को प्रतीकात्मक कार्यमात्र ही नहीं समझते वरन् व्यावहारिक जीवन का आवश्यक अंग मानते हैं।

कर्मकाण्डों का संबंध पुनीत-प्रतीकों (Sacraments) से होता है। ये पुनीत-प्रतीक मृत्यु और जीवन की भावनाओं से जुटे होते हैं। सर्प मृत्यु का प्रतीक है। मौत के भय से जब साँप को पूजने लगा तो वह एक पुनीत-

प्रतीक बन गया। पीपल थके आदमियों को छाया देता है और तरह तरह की जड़ी-बूटी के रूप में जीवन प्रदान करता है, वह हमारी जीवन रक्षा का पुनीत-प्रतीक है। सांप की जीवन लेने की शक्ति और पीपल की जीवन देने की शक्ति के साथ मनुष्य के भावों का तादात्म्य हो गया और मनुष्य ने अपने भावों के प्रकटीकरण के लिए निश्चित-क्रियाएँ की। इन भावों का प्रकटीकरण और क्रियाएँ ही कर्मकाण्ड (Rituals) हैं। इस प्रकार कर्मकाण्ड मानवीय भावों का बाह्य प्रदर्शन या प्रकाशन है जो निश्चित क्रियाओं से व्यक्त होते हैं।

जीवन-मृत्यु के स्वार्थ के कारण मनुष्य में नैतिकता की भावना जन्म लेती है और जब यह भावना किसी प्रतीक में केन्द्रित हो जाती है तो वह हमारे लिए कर्मकाण्ड हो जाती है, हम उनके समक्ष नत-मस्तक हो जाते हैं। मनुष्य सम्प्रत्यय से प्रतीकों का निर्माण करता है। ये सम्प्रत्यय जीवन, मृत्यु या नैतिकता से संबंधित होते हैं। इस धारणा के लिए वह प्रतीकों का निर्माण करता है, जब प्रतीक सामने आते हैं तो भाव उत्पन्न होते हैं और जब इन भावों को वह प्रकट करता है तो वही कर्मकाण्ड हो जाते हैं। कर्मकांड मानव की जीवन-मृत्यु संबंधी भावनाओं पर नैतिकता का आरोपण है। मानव की आदिम भावनाओं के अनुसार पुनीत-प्रतीक जीवन दे सकते हैं, जीवन ले सकते है, वर्षा या भूकम्प से सर्वनाश कर सकते हैं। इसलिए उन्हें अपने अनुकूल बनाने के लिए मनुष्य कर्मकांड करता है।

कर्मकाण्ड में भाव प्रदर्शन अनियंत्रित नहीं होता वरन् अनुशासित होता है। जहां मन्दिर दिखाई पड़ता है वहां हम हाथ ही जोड़ते हैं, पैर नहीं पटकते। राजा के सम्मान में पगड़ी उतारते और सर झुकाते हैं, क्योंकि उसके साथ मर्यादा और अनुशासन अपने आप जुटा है। लैजर के अनुसार मानव को विवेकशील और नियंत्रित बनाने में इन कर्मकाण्डों का बड़ा महत्वपूर्ण हाथ रहा है।

मनुष्य में अधिकार जमाने की मूल भावना है। इस भावना के कारण वह कभी कभी ईश्वर को भी अपने अनुकूल कार्य करने के लिए बाध्य करना चाहता है। इस कारण वह बहुत से पुनीत-प्रतीकों और कर्मकाण्डों का सम्पादन अपनी इच्छानुकूल करता है। इस दृष्टि से कर्मकाण्ड दो क्षेत्रों में विकसित हो जाते हैं: एक वह जो प्रभाव डालने का कार्य करते हैं, देवी-देवता की कृपा पाने के लिए प्रार्थना, यज्ञ, आदि से उन्हें बाध्य करने का प्रयत्न करते हैं।

पानी न बरसने पर गांव वाले सामूहिक पूजा, यज्ञ, गान आदि करते हैं जिससे इन्द्रदेव प्रसन्न होकर पानी बरसा दें। कभी कभी प्राकृतिक प्रकोप रोकने के लिए देवी-देवताओं से बहुत दीन होकर प्रार्थना की जाती है। इसमें प्राकृतिक घटनाओं, बाढ़ आदि को रोकने की दुवा मांगता है। इसके लिए यदि कर्म-कांडीय-विधान के अनुसार मानव-बलि चढ़ाने का भी स्वप्न मिला हो तो उसे भी पूरा करता है। लैंजर ने इसे मूर्खतापूर्ण कर्मकांड (Absurd Rituals) कहा है।

आदिम समाज का धर्म जादू से ही प्रारम्भ होता है। जादू भरे कर्मकांडो से ही आदिम समाज में धर्म का उदय हुआ। जॉन डिवे (John Dewey) का मत है कि आदिम समाज में कर्मकांडों के पीछे मनोरंजन की मूल भावना छिपी रहती है। मनुष्य कर्मकांडों के सम्पादन में एक प्रकार के मनोरंजन की भावना की तुष्टि पाता है। लैंजर इस मत की विरोधी हैं। जॉन डिवे शिक्षा शास्त्री और दार्शनिक हैं। वह मानते हैं कि व्यक्ति में खेल की मूल प्रवृत्ति होती है। कर्मकांड एक प्रकार के विधान हैं। सम्प्रदाय या पंथ और कर्मकांड की क्रियाएँ गंभीर कार्य नहीं वरन् मनोरंजन की क्रियाएँ हैं जैसे देवता को रिझाने के लिए नाचना-गाना, प्रार्थना आदि मनोरंजन ही है। लेकिन लैंजर कहती है कि ऐसे भी तो कर्मकांड आदिम समाजवाले या सभ्य समाजवाले करते हैं जिनमें कहीं मनोरंजन नहीं दिखाई पडता। पुत्र की बलि चढ़ाना, जीभ काट कर चढ़ाना आदि भी तो प्रायः सुना जाता है, इसमें कहां और कौन सा मनोरंजन है। लैंजर का कथन है कि कर्मकांड मनोरंजन न होकर आदिम समाज के गंभीर चिंतन के परिणाम हैं। इस गंभीरता में जो बात छिपी है वह है नैतिकता का बोध। कर्मकाण्ड की प्रत्येक क्रियाएँ, चाहे वह नाचना-गाना हो अथवा बलि चढ़ाना, सभी देवता या उपास्य की इच्छा-पूर्ति की ओर केंद्रित रहती है जिसके कारण वह सदा निश्चित आधारों पर क्रिया करता है।

कर्मकांड केवल धार्मिक क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं है वरन् राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक क्षेत्रों में भी ये सम्पादित होते हैं। इसमें संदेह नहीं कि अधिकांश कर्मकांड स्पष्ट रूप से धार्मिक या अलौकिक होते है किंतु हमारे व्यावहारिक जीवन में भी ये महत्वपूर्ण है। आदिम समाज में लौकिक और अलौकिक क्रियाओं का भेद बहुत कम होता है, व्यावहारिक कार्य तथा कर्मकांड

आदि सभी कुछ मिले-जुले रहते हैं। उदाहरण के लिए वनस्पतियों के उत्पादन से संबंध रखनेवाली कल्पनाएँ और कर्मकांड अनेक जातियों में प्रचलित हैं। आदिम समाजवाले तथा आज के सभ्य समाज के कृषक लोग मिट्टी को उपजाऊ बनाने के लिए और अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए केवल खाद का ही प्रयोग नहीं करते वरन् मंत्रों और अनुष्ठानों का भी प्रयोग करते हैं। बवेरिया के किसान अपने न फलने वाले वृक्षों को स्त्रियों के कपड़े पहनाते थे जिससे उनका विश्वास है कि वृक्ष फिर से फलने लगेंगे। लौकिक कर्मकाण्डों का अस्तित्व जब प्रायः क्षीण होता जा रहा है फिर भी शिष्टाचार की बहुत सी क्रियाएँ हाथ जोड़ना, हाथ मिलाना, टोपी उतारना आदि भी इन बातों को सिद्ध करते हैं कि आधुनिक समाज में भी इनका महत्व बना हुआ है। इससे समाज के व्यक्तियों में स्थिरता और एकता की भावना उत्पन्न होती है। साधारण शिष्टाचार भी एकता को बढ़ाते हैं। मिलने और अलग होने के समय नमस्कार, साथ मिलकर खाने आदि के तरीके निरर्थक नहीं हैं। उनसे एक ऐसा पारस्परिक सम्पर्क थापित होता है जिससे एकता और परिचय की भावना बढ़ती है।

पुराणगाथा (Myth)—

संसार की प्राकृतिक शक्तियाँ मनुष्य से सदा सहयोग नहीं करतीं, वरन् मानव जीवन की शृङ्खला को भंग करने का प्रयास करती हैं। जैसा कि स्पष्ट हो चुका है, आदि मानव की मुख्य इच्छाएँ मृत्यु और जीवन के साथ संबंधित हैं। मनुष्य ऐसे वातावरण में रहता है जहां प्राकृतिक परिवेश भी उसके प्रतिकूल रहते हैं और प्रायः सामाजिक बंधन और मूल्य उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अंकुश लगाते हैं। तो क्या मनुष्य इन्हीं विरोधों में रहता है। नहीं, वरन् वह उनको अपनी इच्छाओं में बदल लेता है, उन असन्तुष्ट इच्छाओं तथा विरोधों को कल्पना का महत्तम रूप देकर उन्हें अपने आदर्शों के अनुरूप बनाने के लिए आदर्श प्रतिरूप प्रदान करता है, जिससे पुराण गाथाओं का जन्म होता है। प्रतिकूल प्रकृति को आदिम मानव ने सर्वथा अपने प्रयत्नों के प्रतिकूल पाकर उनसे समझौता करने के प्रयास में कल्पना का सहारा लेना आरंभ किया। इसके लिए उसने प्राकृतिक-शक्तियों की अनेक देवी-देवताओं के रूप में कल्पना करना आरम्भ किया, उनकी प्रशंसा में गाथाएँ गढ़ना, उन्हें प्रसन्न करने के लिए नाचना-गाना, बलि चढ़ाना आदि आरम्भ किया ताकि इन कार्यों से देवी-देवता

प्रसन्न हो जाएँ और प्रकृति मानव की इच्छा के अनुकूल वर्षा कर दे, बाढ़ रोक दे। मनुष्य की इन्हीं आकांक्षाओं के फलस्वरूप पुराण गाथाओं का जन्म हुआ। प्रत्येक समाज अपनी प्राकृतिक स्थितियों के अनुसार कल्पना करता है। इन कल्पनाओं या गाथाओं को प्रायः एक संस्कृति-नायक (Cultural Hero) के साथ जोड़ा जाता है। जो उनकी चेतना या इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। इस संस्कृति-नायक का संबंध अति मानव या देव वंशजों में होता है। रामायण के नायक राम ऐसे ही संस्कृति-नायक हैं। संस्कृति-नायक में जन-शक्तियों के वे सभी गुण पाए जाते हैं जिनकी लोकादर्श के रूप में मनुष्य आकांक्षा करता है। संस्कृति-नायक अपने समाज की सामाजिक शक्तियों का प्रतीक है उन्हीं का नेतृत्व करता है। यद्यपि नायक अतिमानव माना जाता है लेकिन जो भी साहसपूर्ण कार्य करता है वह मानवीय समस्याओं से ही संबंधित रहता है। संस्कृति-नायक दो बातों को आवश्यक रूप से जानता है—एक, अपने देश की प्राकृतिक रचना और दो, जन नैतिकता का उसे खूब ज्ञान होता है अर्थात अपने देश की परिस्थितियों के अनुकूल नैतिक आदर्शों का वहन करता है। शीरीं-फरहाद के प्रेम की शर्त उसके देश में एक ठंडे पानी की नहर निकालना मात्र की थी क्योंकि उसके देश में पीने के ठंडे पानी और सिंचाई के साधनों की सबसे बड़ी समस्या है। यह देश की प्राकृतिक रचना और वहां की जनता की आवश्यकता के अनुसार है। संस्कृति के नायक के समक्ष कठोर सामाजिक स्थितियां रखी जाती हैं लेकिन वह उन सबका साहस और नवीन नैतिकता से हल करता है।

इन्हीं आधारों पर लेवीज स्पेन्स ने "ऐन इन्ट्रोडक्सन टु माइथोलाजी" में पुराण गाथा की व्याख्या इस प्रकार की है "यह किसी देवता या पराप्राकृत सत्ता का एक विवरण होता है, इसे साधारणतः आदिम विचारों की शैली में लाक्षणिकता से अभिव्यक्त किया जाता है। यह वह प्रयत्न है जिसके द्वारा मनुष्य का विश्व से संबंध समझाया जाता है और जो इसे दुहराते हैं उनके लिए प्रमुखतः पौराणिक महत्व रखता है। इसका जन्म किसी सामाजिक संस्था, रीति-रिवाज अथवा परिस्थितियों की किसी विशेषता की व्याख्या करने के निमित्त होता है। पुराण गाथा के निर्माण के दो कारण हो सकते हैं, १ मनुष्य की शेष-सृष्टि के साथ संबंधों की व्याख्या और २, सामाजिक संस्था-प्रथा आदि की व्याख्या।

आदिम समाज में पौराणिक गाथाएँ उनके सामाजिक जीवन का एक अंग होती है। पुराण गाथाएँ मनुष्य के विश्वास को व्यक्त करती हैं, बढ़ाती हैं और नियमबद्ध करती हैं; वे नैतिकता की रक्षा करती हैं और प्रेरणा देती हैं; वे कर्मकाण्ड की सफलता का विश्वास दिलाती है और मनुष्य के पथ-प्रदर्शन के लिए व्यावहारिक नियमों का निर्माण करती हैं। इस प्रकार पौराणिक गाथाएँ मानव सभ्यता का एक अंग और सक्रिय शक्ति हैं।

रुथ बेन्डिक्ट (Ruth Bendict) ने अपनी "पैटर्न आफ कल्चर" पुस्तक में प्रतिपादित किया है कि लोक गाथा (Folktale) और पुराण गाथा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जिस तरह पुराणगाथा जन आदर्श और जन-कामनाओं की पूर्ति करती है उसी तरह लोकगाथाएँ भी जनता की इच्छाओं की पूर्ति करती है। कल्पनाशीलता और धर्म दोनों मिलकर पुराण-गाथा को जन्म देते है। मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकताएँ भोजन, निवास, काम-तृप्ति तथा सामान्य विपत्तियों से रक्षा की होती है। इन मूल प्रेरणाओं की तृप्ति में असफल होकर मनुष्य बार-बार उन्हें तृप्त करने की चेष्टा कार्य रूप में ही नहीं करता वरन् ऐसे स्वप्नों के रूप में भी करता है जो उस अधिक संतोषप्रद स्थिति का चित्रण करते है जिसमें मनुष्य या तो किसी पूर्वकालीन पूर्णावस्था को प्राप्त करता है अथवा भविष्य में किसी पूर्ण तथा स्थायी समाज और संस्कृति की सृष्टि करता है। ये दोनों कल्पना और धर्म की युग्म भावना के साथ मिले-जुले होते हैं। इसीलिए पुराणगाथा और लोक-गाथा दोनों के लक्ष्य में कोई अंतर नहीं, सिर्फ विषय वस्तु में सामान्य अन्तर होता है। समाज मे राजनीतिक कल्पनाएँ—वीरगाथाएँ भी उतनी ही प्रचलित हैं जितनी धार्मिक और आर्थिक कल्पनाएँ। वास्तव में ये तीनों प्रायः मिली-जुली रहती है। प्लेटो का 'गणतंत्र' एक पूर्ण समाज की मूर्तिमान इच्छा का एक बहुत अच्छा उदाहरण है। उसमें हम न्याय, सुख तथा सामाजिक एकता की प्राप्ति का प्रयास देखते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सुधार संबंधी विस्तृत उपायो का उल्लेख पाते हैं। प्लेटो की कल्पना ने दर्जनों धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक कल्पनाओं को प्रेरणा दी है।

कुछ विचारकों का मत है कि संसार की समस्त पुराणगाथाएँ चन्द्रमा से संबंधित हैं क्योंकि चन्द्रमा को वे मानव जीवन का प्रतीक मानते है, उनके

बढ़ने-घटने के साथ मनुष्य भी बढ़ता-घटता है। अतः मानव जीवन के साथ उसका साम्य होने के कारण मानव की प्रतीकीकरण शक्ति ने चंद्रमा को अपने जीवन का प्रतीक मानकर अनन्त पुराण गाथाएं उसी के साथ आरंभ की।

लैंजर ने इस मत का विरोध किया। उसका कहना है कि पुराण गाथाओं को इस प्रकार एक तत्व पर केन्द्रित करना उचित नहीं। मनुष्य का मस्तिष्क रचनात्मक और क्रियाशील है। ऐसा मस्तिष्क क्या केवल एक वस्तु पर केन्द्रित रह सकता है? नहीं। सीता का जन्म पृथ्वी से हुआ, अत पृथ्वी भी पुराण गाथा की विषय वस्तु है; सूर्य का पुत्र कर्ण किरण से उत्पन्न माना जाता है, कादम्बरी के प्रेम से विवश होकर चन्द्रमा को पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ा। इस प्रकार पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा आदि सभी सामाजिक भावनाओं और जीवन को स्पर्श करते हैं। अतः ये सभी प्रतीक पुराण गाथाओं के विषय वस्तु हैं। इस प्रकार पुराणगाथाओं की विषय-वस्तु बड़ी भिन्न है।

कैसिरर का भी यही मत है कि पुराण गाथाओं का आधार प्राकृतिक शक्तियां होती है लेकिन वह यह भी कहता है कि लोकगाथाओं का विश्लेषण नहीं किया जा सकता क्योंकि इनका संबंध बुद्धि से नहीं, भावना से है। अत इसका कोई सिद्धांत नहीं बनाया जा सकता।

फ्रायड ने भी पुराण गाथाओं पर विचार व्यक्त किया है। हमारी वासनाएं मूलतः काम भावनाओं से संबंधित रहती है। जो काम भावना पूरी नहीं हो पाती उसे वह पुराण गाथाओं और लोकगाथाओं में व्यक्त कर पूरा करता है। शकुन्तला का जन्म मेनका से हुआ। आज मेनका नृत्य सबसे उत्तम माना जाता है जिसकी स्वीकृति में मनुष्य की अप्रकट कामवासना छिपी रहती है। अहिल्या की कहानी भी ऐसी ही है। इस आधार पर फ्रायड का मत कुछ हद तक ठीक है लेकिन कैसिरर ने इस प्रकार किसी एक भावना को ही पुराणगाथा का केन्द्र मानने को गलत ठहराया है।

दुरखीम समाज को पुराणगाथाओं का स्रोत ठहराता है। उसका सिद्धांत सामूहिक चेतना (Collective Consciouness) पर आधारित है। वह समाज को ही सब कुछ मानता है और समाज को व्यक्ति से परे सबसे बड़ी सत्ता, ईश्वर तक मानता है। जो काम ईश्वर के है वही समाज के है। जो लोग प्राकृतिक शक्तियों में पुराणगाथाओं का स्रोत

देखते हैं, वे भ्रम में हैं। पुराणगाथाओं का स्रोत सामाजिक है, सामाजिक शक्तियां, सामाजिक द्वंद्व और आदर्शों, आकांक्षाओं का ही अभिव्यक्तिकरण पुराणगाथाओं में होता है।

पुराणगाथाओं का देश की कला और साहित्य के साथ घनिष्ठ संबंध है। विभिन्न कलाओं और साहित्य द्वारा अभिव्यक्ति प्राप्त कर ही पुराणगाथाएं स्थायित्व पाती हैं। विभिन्न मंदिरों के भित्ति चित्र, मूर्तियां अथवा महाकाव्य पुराणगाथा के मूल को संचरित करते और स्थायित्व प्रदान करते हैं। बिना कला और साहित्य के पुराणगाथाओं की रक्षा नहीं की जा सकती। अजन्ता की गुफाएं, सारनाथ की पुरानी बुद्ध मूर्तियां अथवा रामायण, महाभारत, इलियड आदि पुराणगाथाओं की परम्परा के संरक्षक और वाहक हैं। कला और काव्य के माध्यम से प्रेषित तथ्य बहुत शक्तिशाली होता है, इसलिए भी पुराणगाथाओं को इनका आश्रय लेना आवश्यक होता है। युद्ध और वीर भावनाओं तथा समाज की आकांक्षाओं का इस प्रभावशाली ढंग से वर्णन होता है कि वह मृतप्राप्य व्यक्ति को भी अपने देश की रक्षा के लिए प्रेरित कर देता है। लैंजर का कहना है कि पुराणगाथाओं का आधार नैतिक प्रतीक होता है। पुराणगाथाओं द्वारा सामाजिक आदर्शों और दर्शन की अभिव्यक्ति की जाती है।

कर्मकाण्ड और पुराणगाथा के उपर्युक्त विवेचन से मुख्य दो निष्कर्ष निकलता है १—मनुष्य का मस्तिष्क रचनात्मक है और इस क्षमता के कारण वह तरह-तरह के बल बूटे की सज्जा करता है। २—कर्मकाण्ड और पुराण गाथा उसी सज्जा का प्रतीक है। पुराणगाथा और कर्मकाण्ड की धारणा जीवन, मृत्यु और प्रकृति से संबंधित है।

साहित्य में प्रतीकों की भूमिका—

साहित्य से प्रतीकों का आदि संबंध है। किसी भी देश या युग का साहित्य रहा हो, साहित्य प्रतीकों की ही व्यवस्था बना रहा। किंतु गत शताब्दी से जो प्रवृत्ति साहित्य में प्रतीकवाद के नाम से प्रचलित हुई है वह उस प्रतीक पद्धति का, जिसका यहां विवेचन किया गया है, वाचक न होकर स्वच्छंदतावाद, प्रगतिवाद, छायावाद, प्रयोगवाद आदि की तरह एक विशिष्ट पद्धति की रचना के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यह शब्द योरप के "सिम्बालिज्म"

का रूपान्तर है जिसकी जन्मभूमि साहित्य के अन्य वादों की भांति फ्रांस रही है।

साहित्य में एक विशेष प्रवृत्ति का प्रवेश और प्रचार कराने की दृष्टि से एक सशक्त आन्दोलन के रूप में 'प्रतीकवाद' का आविर्भाव सन् १८८५ के लगभग फ्रांस में हुआ। इसका जन्म एक ओर वैज्ञानिक बुद्धिवाद और दूसरी ओर परनेशियनिस्म और रियलिस्म के कलाकारों की यथातथ्य निरूपण पद्धति के प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। कलात्मक अनुभूति के दो पक्ष होते हैं। प्रतिमा द्वारा सीधा प्रत्यक्षीकरण तथा प्रतीक के द्वारा आलंकारिक व्याख्याकरण। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक विज्ञान पूर्ण प्रगति पर पहुँच चुका था और उसमें पश्चिम की मनीषा गंभीर रूप से प्रभावित और चिंतित हो रही थी। अतएव १९ वीं शताब्दी में सभी यथार्थवाद की ओर उन्मुख थे। इसके परिणाम स्वरूप चित्रकला में प्रभाववाद (Impressionism) और साहित्य में प्राकृतवाद (Naturalism) का जन्म हुआ। इन दो वादों के विरुद्ध आदर्शवादी प्रतिक्रिया के रूप में साहित्य और कला दोनों के क्षेत्र में प्रतीकवाद (Symbolism) का विकास हुआ। कवियों और चित्रकारों ने वाह्य जगत का यथातथ्य चित्रण करना छोड़कर प्रतीकात्मक सन्दर्भों और प्रचुर अलंकरणों के माध्यम से अपने स्वप्नों के कल्पनात्मक संकेतों को प्रस्तुत करना आरंभ किया। मानव जाति की आदि काल से आज तक की दीर्घ यात्रा में प्रतीकों ने सदैव मौन भाषा का कार्य किया है। प्रारम्भ से ही यह माना गया है कि भौतिक यथार्थ की पृष्ठभूमि में रहस्यवादी भावना प्रच्छन्न रहती है। इस रहस्य या अध्यात्म-जगत् के सूक्ष्म और पारलौकिक अनुभव, जो साधारण शब्दों से परे हैं, प्रतीकों द्वारा ही किसी अंश में व्यक्त किए जा सकते हैं, क्योंकि प्रतीकों में शब्दों की अपेक्षा संकेतात्मकता कहीं अधिक रहती है। यही कारण है कि सर्वत्र आध्यात्मिक साहित्य में प्रतीकों की प्रधानता रहती है। मूलतः प्रतीकों का प्रयोग काव्य में रहस्य-पक्ष को अधिक बल प्रदान करता है। इसका प्रारम्भ भौतिक संसार से परे किसी उच्चतम यथार्थ की अभिज्ञता से होता है। कवि उसी आध्यात्मिक यथार्थ की व्यक्तिगत एवं तीव्र अनुभूति को प्रेषित करता है। इस प्रकार की प्रेषणीयता के लिये शब्द अशक्त और भाषा को सौंदर्य प्रदान करनेवाले अलंकार

अपर्याप्त सिद्ध हुए हैं और इसीलिए प्रतीकों की योजना होती है। ये प्रतीक तीव्र आध्यात्मिक भावनाओं को व्यक्त करने में सर्वाधिक समर्थ हैं। कार्लाइल ने लिखा है कि प्रतीकों में एक साथ ही गोपन और प्रकाशन की क्षमता रहती है जिसके फलस्वरूप मौन और वाणी के सम्मिलित कार्य से दोहरे अर्थ की अभिव्यंजना होती है। शब्द केवल अर्थ की व्याख्या कर सकते हैं अतः उनका प्रभाव केवल हमारी प्रज्ञा पर पड़ता है, किन्तु प्रतीक संयोग और संकेत की शक्ति से परिपूर्ण रहते हैं और उस यथार्थ को इंगित करते हैं जिसका वर्णन शब्दों द्वारा संभव नहीं है। यही कारण है कि आदि युग से धार्मिक और आध्यात्मिक अनुभवों का प्रकाशन प्रतीकों द्वारा होता आया है। उन्नीसवीं शती के फ्रांसीसी प्रतीकवादी आचार्यों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि जिस परम सत्ता को उन्होंने अपने काव्य का विषय बनाया उसका संबंध अध्यात्म की अपेक्षा सौन्दर्य से हो गया था। मलार्मे का विश्वास था कि जो सिद्धि भक्त को आराधना में उपलब्ध होती है, वही कला-प्रेमी कला द्वारा प्राप्त कर सकता है। इसी धारणा से हेनरी ब्रीमण्ड के इस मत का सूत्रपात हुआ कि काव्य आराधना का ही एक प्रकार है। मलार्मे का भी यही विश्वास था कि कविता में मंत्र की शक्ति होती है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग (Yung) की स्थापनाओं से प्रतीकों की विशेषताओं को समझने में बहुत सहायता मिली है। फ्रायड ने भी स्वप्नों के विश्लेषण के संदर्भ में प्रतीकों की काफी चर्चा की है, किन्तु काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों की जानकारी के लिए युग के विचारों की उपादेयता कहीं अधिक है। युंग महोदय ने साइकी (Psyche) अर्थात् चित्त के तीन खण्ड माने हैं—(१) चेतन मन, (२) व्यक्तिगत अचेतन मन और (३) समष्टिगत अचेतन मन। प्रतीकों का सम्बन्ध अचेतन मन की दोनों अवस्थाओं से है किन्तु अधिकांश प्रतीकों का मूल समष्टिगत अचेतन मन में रहता है। चित्त के इस गहरे खण्ड में अनंतकाल से चले आनेवाले परिवारगत, समूहगत एवं जातिगत प्रभाव और स्मृतियां दबी पड़ी रहती हैं और समय-समय पर वे चेतन मन की ओर अग्रसर होती हैं। अनेक प्रतीकों को हम इसी अचेतन मन की अवस्था के सम्बन्ध में रखकर समझ सकते हैं। दूर-दूर स्थलों में रहने वाले लोगों के लोक-काव्य, लोक-कथा और कल्पित कथा में जो साम्यता और एक रूपता लक्षित होती है

उसके कारणों को भी हम युंग के विचारों के सहारे समझते हैं। युंग ने मनोवैज्ञानिक काव्य और रहस्यवादी काव्य का भेद अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया है। मनोवैज्ञानिक काव्य चेतन मन की क्रियाओं से संबंध रखता है। कल्पना चेतन मन की शक्ति है और उसका संबंध अचेतन मन से नहीं है। रहस्यवादी काव्य का उत्स अचेतन मन होता है। अतएव उसमें रहस्यात्मकता एवं अस्पष्टता बनी रहती है।

प्रतीकों का परम्परा और युग के मूल्यों के साथ गहरा संबंध है। परंपरा और युग के मूल्यों में परिवर्तन के साथ प्रतीकों के अर्थ और प्रयोग में भी परिवर्तन हो जाता है। हिंदी के रीतिकालीन कवियों के लिये पुष्प (कमल) का तात्पर्य मुख आदि की सुन्दरता के बोध से था। किंतु आज पुष्प सामाजिक स्थिति के अनुसार बहुत ही भिन्न अर्थ में प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए 'निराला' ने गुलाब को पूँजीपति अथवा अभिजात वर्ग के प्रतीक के रूप में खड़ाकर 'कुकुरमुत्ता' अर्थात् सर्वहारा मजदूर द्वारा फटकार बताकर वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के प्रति गहरा व्यंग किया है—

> **सुन बे अबे गुलाब,**
>
> **भूल मत गर पाई खुशबू रंगोआब**
>
> **खून चूसा तूने गैर का अशिष्ट**
>
> डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट।

भाषा

यहाँ दो दृष्टियों से भाषा पर विचार अपेक्षित है—प्रथम, भाषा सामाजिकों के बीच परस्पर (विभिन्न प्रकार से) संबंध स्थापित करानेवाली एक प्रतीक प्रणाली है, अतः समाजशास्त्र के विषय के अन्तर्गत विवेच्य है। भाषा की उत्पत्ति, परिवर्तन और विकास समाज सापेक्ष है। अतः दोनों का अध्ययन एक दूसरे के पूर्ण परिचय के लिए परस्पर पूरक है। इसीलिए कई देशों में भाषा विज्ञान को समाजशास्त्र के एक अंग के रूप में पढ़ाया जा रहा है। एच० डी० डंकन के विचार से 'एक अच्छा समाजशास्त्री बनने के लिए भाषा के आवश्यक स्रोतों का ज्ञान आवश्यक है। भविष्य के पथ-प्रदर्शन के लिए

अतीत के गर्भ में छिपे हुए भाषा प्रतीकों को समझना पड़ेगा। जन-सम्प्रेषण के आधार पर ही भाषा के स्वरूप का निर्माण होता है। भाषा के इस स्वरूप के अभाव में सामुदायिक जीवन अस्तित्वहीन हो जायगा।"[1] द्वितीय, साहित्य के ज्ञान पक्ष के रूप में भाषा का रूप ही सर्वप्रथम सामने आता है। अतः साहित्यिक कृति की आलोचना के लिए भी भाषा के अस्तित्व पर विचार करना आवश्यक है। बहुत समय तक भाषा को कविता (साहित्य) का माध्यम माना गया। लेकिन आधुनिक विचारधारा ने इस तथ्य को अस्वीकार कर प्रतिपादित किया है कि भाषा कविता का माध्यम नहीं वरन् कविता भाषा की ही एक विधा है। आज कविता भाषा की एक सशक्त और प्रभावशाली शैली के रूप में स्वीकार की जाती है। आज का समाज कविता में प्रयुक्त शब्दों के इर्द-गिर्द चक्कर लगाकर यह सुनना और जानना चाहता है कि खुद में ये शब्द क्या बोलते हैं। अतः अब साहित्य के आलोचक यह स्वीकार करने लगे हैं कि कविता या साहित्य भाषा का ही एक विशेष रूप है।

भाषा में प्रतीकीकरण—

क्लिफटन जोन्स (Clifton Jones) का मत है कि "भाषा सार्थक प्रतीकों की वह प्रणाली है जिसके द्वारा मनुष्य परस्पर आदान-प्रदान करते हैं।" इसका अर्थ यह हुआ कि भाषा का मूल रूप मानव की प्रतीकीकरण की क्षमता में निहित है। पहले ही बता चुके हैं कि विश्व की समस्त भाषाएं तथा लिपियां प्रतीक प्रणाली का समुच्चय रूप है। विशुद्ध या मूल कोशीय रूप में शब्दों या भाषा का कोई अर्थ या महत्व नहीं होता। कोई भी शब्द या भाषा तभी अर्थवान होती है जब उसके प्रयोग के साथ ही हमारी अवधारणा का प्रकटीकरण हो जाय। 'गाय' स्वयं में शब्द की दृष्टि से कोई मतलब नहीं रखता यदि इसके उच्चारण से वह अवधारणा स्पष्ट नहीं हो जाती जिसका मनुष्य सम्प्रेषण करना चाहता था। भाषा मनुष्य का निज आरोपित गुण है जो उसके विकास के साथ विकसित हुआ। यह एक सामूहिक क्रिया है जिसमें भावों को व्यक्त करना और समझना सहज और अनिवार्य है। मनुष्य जिन प्रतीकों में सोचता है और अपने को अभिव्यक्त करता है उसमें

---

१ लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर इन सोसायटी, प्रिफेस पृ० ४।

और वस्तुओं या स्थितियों में कोई तार्किक संबंध नहीं है। प्रयोग और परम्परा से ही भाषा अर्थ ग्रहण करती है। शब्द का अर्थ एक संदर्भ, एक स्थिति में उसका प्रयोग है। एक व्यक्ति, एक समूह, एक देश विकास के जिन सोपानों से गुजरता जाता है, उसके अनुसार उसकी स्थितियाँ भी बदलती जाती हैं। चूँकि भाषा का समाज की स्थितियों से जन्म का संबंध है, इसलिए भाषा भी बदलती जाती है। बहुत से शब्द या अर्थ जो पहले गौण थे अब महत्व-पूर्ण हो जाते हैं और जो महत्वपूर्ण थे, पीछे चले जाते हैं। तात्पर्य यह कि सामाजिक विकास के साथ हमारे चिंतन की सामग्री बदलती है, अतः भाषा भी। भाषा अपने संदर्भों के साथ पूरा तादात्म्य रखती है।

भाषा सम्प्रेषण (Communication) अथवा भाव प्रकाशन (Expression) के माध्यम के रूप में प्रतीकों का एक ऐसा समूह है जो श्रोता अथवा पाठक के मन में ऐसी अवस्था उत्पन्न करता है जो वक्ता के मन की अवस्था के अनुरूप हो। इस प्रकार भाषा का प्रतीकत्व वक्ता और श्रोता के बीच एक अविकल्प मानसिक व्यापार का सूत्रपात करता है। भाषा-प्रतीकों में तथ्यों की सूचना के साथ ही वक्ता की मानसिक प्रवृत्तियों का संकलन भी मिलता है। भाव प्रकाशन अथवा सम्प्रेषण के ही निमित्त स्थापत्य, चित्र, मूर्ति, संगीत आदि का भी प्रयोग किया जाता है किन्तु साहित्य भाव प्रकाशन का सर्वश्रेष्ठ माध्यम माना गया है क्योंकि अन्य की अपेक्षा साहित्य में जिस प्रतीक-प्रणाली का प्रयोग किया जाता है वह सबसे सूक्ष्म प्रणाली है। भाषा जीवन में सामान्य रूप से और साहित्य में विशेष रूप से अर्थवहन का कार्य करती है। किसी भी अन्य सम्प्रेषण विधा की प्रतीक-व्यवस्था का जीवन के सामान्य और विशिष्ट, दोनों क्षेत्रों में इतना विस्तार संभव नहीं है जितना भाषा-प्रतीक का। अतः भाषा-प्रतीक जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और आवश्यक तत्त्व है। सामाजिक व्यवहार और मानसिक विचार बिना भाषा के संभव ही नहीं। दोनों की रीढ़ भाषा ही है। भाषा पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा सामाजिक-संगठन का निर्माण करती है और संस्कृति के तत्वों को परम्परित, संचित और सुरक्षित रखती है। भाषा सम्पूर्ण संस्कृति को या सांस्कृतिक आवश्यकताओं को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त होती है। इस अर्थ में भाषा सम्पूर्ण संस्कृति को अपने में छुपाए या सुरक्षित रखती है। इस

कारण संस्कृति के रहस्य को जानने के लिए भाषा के द्वार को पहले खोलना होगा। भाषा में संचय की शक्ति होती है और साहित्य भाषा के पेटे में पूर्ण सुरक्षित संचय प्राप्त करता है। भाषा के अतिरिक्त अभी तक संदेशवाहन का कोई दूसरा ऐसा समर्थ माध्यम नहीं प्राप्त हो सका है जिससे अतीत की सुरक्षा, वर्तमान को आगे बढ़ाने और भविष्य की भूमिका प्रदान करने की भाषा से अधिक क्षमता हो। भाषा के अतिरिक्त विचारों को प्रकट करने का कोई दूसरा साधन भी नहीं। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि विचार या अनुभूति स्वतः ही भाषा की आभारी होती है, सोचने की क्रिया वस्तुतः स्वयं से बातें करने का स्वरूप है।

समाजीकरण और भाषा—

बालक की शब्द शक्ति और अपने संदर्भ में आनेवाले बड़े लोगों के वाचिक (Vocal) और हाव-भावपूर्ण भाषा (Gesture) को समझने लगने की उसकी प्रक्रिया उसके समाजीकरण में योग देती है, उसे जैवकीय प्राणी से प्रतीकों और संस्कृति-प्रतिमानों (Culture pattern) के समूहों का सदस्य बनाती है। यद्यपि वह बड़े लोगों के भाषा-प्रतीकों का प्रयोग करने में तुरंत समर्थ नहीं भी हो सकता, उन प्रतीकों को सामाजिक स्थितियों में समझने में समर्थ हो जाता है। छोटे बच्चे या बड़े युवक उन बहुत से शब्द-प्रतीकों को समझ जाते हैं जिन्हें या तो वे जानते नहीं या प्रयोग नहीं कर सकते। इस प्रकार अनेक संस्कृति-प्रतिमान को जिनकी सामाजिक नियंत्रण (Social Control) में महत्वपूर्ण भूमिका होती है किसी अन्य माध्यम की अपेक्षा भाषा-प्रतीकों से व्यक्ति आसानी से ग्रहण कर लेता है। व्यक्ति अपने समूह की रीतियाँ (Folkways), निषेध (Taboos), नैतिक मूल्य (Morales) आदि अपने समूह के व्यक्तियों के परिवार, पड़ोस, खेलकूद और मनोरंजन-समूहों, पाठशाला, धर्म-समूह, राजनीतिक दलों, व्यावसायिक समूहों आदि के भाषा-प्रतीकों के प्रयोग से ही सीखता है। जीवन की दार्शनिक और वैज्ञानिक धारणाएं प्रतीकों द्वारा ही व्यक्ति ग्रहण करता है। ये भाषा-प्रतीक उत्तेजना (Stimuli) का कार्य करते हैं जो किसी वस्तु, स्थिति या संप्रत्यय का संकेत करते है।

संस्कृति और भाषा—

संस्कृति के विकास के लिए भाषा आवश्यक शर्त है। प्रत्येक मानव और मानव-समूह की सबसे पहली विशेषता भाषा है। भाषा मानव संस्कृति की सबसे पुरानी सम्पत्ति है, संभवतः आग से भी पुरानी। मनुष्य ने इसे अपने समुदाय से सीखा है। यह मनुष्य की संस्कृति की देन है, उसी प्रकार जिस प्रकार धर्म, कला आदि। केवल भाषा ही ऐसी है जो मनुष्य मात्र में सर्वत्र फैली है, धर्म या कला के विस्तार से भी विस्तृत। एडवर्ड सपीर (A. Sapir) का कथन है कि 'कोई भी मानव समाज, जिसकी जानकारी हम लोगों को है, ऐसा नहीं मिला जिसके पास भाषा न हो। इससे यह पता चलता है कि भाषा और मानव का सामूहिक जीवन अनिवार्य रूप से संबंधित है।' सपीर का कहना है कि यदि हमें किसी समाज के विषय में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना है तो उस समाज की भाषा का ज्ञान पहले प्राप्त करना होगा क्योंकि जब तक भाषा का ज्ञान न होगा तब तक उस समाज के लोगों के मूल विचारों तथा भावनाओं, विश्वासों, लोक कथाओं, पौराणिक गाथाओं आदि के संबंध में भी हमें कोई भी जानकारी प्राप्त न हो सकेगी। इसका कारण यह है कि लोक जीवन के इन पक्षों का परिचय हमें भाषा के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। इन्हें वैज्ञानिक रूप से जानने का और कोई रास्ता नहीं है।

मनुष्य ने मानवता के विकास में जो सबसे महत्वपूर्ण गुण अर्जित किया वह भाषा है। बहुत से प्रयोगो से यह सिद्ध हो चुका है कि भाषा सामाजिक वस्तु है जो सीखने से प्राप्त होती है, उसका मूल प्रवृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है वरन् वह एक बौद्धिक प्रक्रिया है। मनुष्य की बौद्धिक क्रियाओं का मूल प्रतीकात्मक है, उसका प्रयोग चाहे जैसे किया जाय। मनुष्य में यह क्षमता पाई जाती है कि वह अपने अनुभवों का प्रतीकात्मक रूपांतरण कर सकता है। इस क्षमता का प्रकाशन वह सामान्य आदान-प्रदान के ढग से भी करता है और कला रूपों में भी करता है। अनुभवों के प्रकाशन के लिए जब ध्वनि संकेतों (शब्दों) का प्रयोग करता है। इस भाषा का प्रयोग मनुष्य सामान्य व्यवहार के लिए भी करता है और कलात्मक रचना (साहित्य) के लिए भी। होरेशियो हाल (Horatio Hall) प्रभृत कुछ विद्वानों ने भाषा

को मनुष्य की मूल प्रवृत्ति माना है। किन्तु लैंजर ने इसका खंडन किया है। जिन बच्चों को भेड़िया उठा ले जाते हैं और किसी कारण मार कर खा नहीं जाते वे बड़े होकर मनुष्य की भाषा नहीं बोल पाते। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य कोई भी भाषा माँ के पेट से जन्मजात सीखकर नहीं आता, वरन् वह इसे अपने समुदाय, अपने पूर्वजों से सीखता है। लैंजर का कहना है कि मानव समाज से कटकर न तो मनुष्य में सामाजिकता नाम की कोई मूल प्रवृत्ति रह जाती है और न ही भाषा की कोई मूल प्रवृत्ति। सन् १६२० में मिदनापुर ग्राम में भेड़ियों के झुण्ड से छुड़ाये गए बच्चों को भाषा सिखाने का प्रयास किया गया। किन्तु वे कुछ थोड़े से शब्दों को छोड़कर और कुछ सीख न सके। यदि उन बालकों में मूल प्रवृत्ति होती तो वे सीख गए होते। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा सामाजिक वस्तु है।

भाषा विचार विनिमय का साधन है, यह विचार-विनिमय मनुष्य समाज मे ही होता है, समाज ही अपने समुदाय के सदस्यों पर भाषा थोपता है, व्यक्ति को भाषा जैसी है वैसी ही स्वीकार करनी पड़ती है वह उसमें आना-कानी नहीं कर सकता, इसमें अपनी इच्छा के अनुकूल बिना समूह की सम्मति के कोई विकार भी प्रविष्ट नहीं कर सकता। भाषा-विकास के अध्ययन के लिए समाजशास्त्र अथवा समाज विकास की दशाओं का ज्ञान आवश्यक है। समाज के किन मूल्यों-आदर्शों के कारण भारतीय नारी अपने पति का नाम नहीं लेती, किन प्रभावों के कारण साँप को कीड़ा और लाश को मिट्टी कहा जाता है; क्यों नारी बियाती है, स्त्री नहीं, क्यों पाखाना (वस्तुत. पैर रखने की जगह) कहा जाता है और उस क्रिया का नाम नहीं लिया जाता जो इस स्थान पर की जाती है, इन सब बातों का अध्ययन समाजशास्त्र के सूक्ष्म अध्ययन से मिल सकता है। भारतीय समाज में अशुभ या लज्जाजनक अथवा घृणास्पद बातों को स्पष्ट न कहकर घुमा-फिरा कर प्रतीकात्मक ढंग से कहने की परम्परा है। एक जन समुदाय का दूसरे जन समुदाय के प्रति जो सामान्य मनोभाव होता है उसका प्रभाव भाषा प्रयोग पर भी पड़ता है। संस्कृत में 'देव' शब्द जितना ही महान् के लिए प्रयुक्त होता है ईरानी में वह उतना ही निम्न कोटि के व्यक्तित्व के लिए प्रयोग किया जाता है। क्योंकि भारतीय आर्यों ने ईरानियों को सदा अनार्य समझा और ईरानियों ने भारतीयों को इसका

उलटा, जिसके कारण ऐसा हुआ। ऋग्वेद के कुछ प्राचीन अंशों में 'असुर' शब्द देवता वाचक है और इसी अर्थ में ईरानी (अहुर) भी है किन्तु बाद में संस्कृत में यही शब्द राक्षस, दैत्य आदि का द्योतक हो गया और 'अ' को निषेधात्मक मानकर 'सुर' शब्द देवता वाचक समझा गया। इसका अर्थ यह कि यह भेद कभी आपस के सांस्कृतिक संघर्ष के परिणाम का सूचक है जिसके कारण एक दूसरे से गंभीर विरोध प्रकट करने के लिए ऐसा किया गया है। इसी तरह 'देवानां प्रियः' शब्दों का प्रयोग अशोक की महानता प्रकट करने के लिए उनके लेखों में प्रयुक्त हुआ है किन्तु बाद में उसका अर्थ 'मूर्ख' हो जाना पंडितवर्ग के ब्राह्मणमत और उसके महापुरुषों के प्रति द्वेष का ही सूचक हो सकता है। इसी प्रकार के बहुत से भाषागत उदाहरण हैं जिनका विकास या परिवर्तन स्पष्ट सामाजिक कारणों पर निर्भर करता है। हिन्दी में जो शब्द 'पिल्ला' कुत्ते के अर्थ में रूढ़ है वही द्रविड़ भाषाओं में भले आदमियों के 'चिदम्बरम् पिल्लइ' आदि नामों से आता है। इन सबसे विशेष देश और काल की मनोवृत्ति और अवस्थाओं का पता चलता है।

सामाजिक विकास और भाषा—

भाषा एक सामाजिक सम्पत्ति और समाज सापेक्ष है अतः सामाजिक संगठन की अवस्थाओं, विकास, परिवर्तन, राजनीतिक स्वतंत्रता-परतंत्रता आदि सभी कुछ का उस पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। जनसमुदाय जितना ही संगठित होगा, उसकी भाषा भी उतनी ही गठी हुई, सुश्लिष्ट होगी और संगठन जितना ही ढीला होगा, भाषा के अंगों में उतनी ही विभिन्नता होगी। एक सुश्लिष्ट परिवार की भाषा एकरूप होती है और इससे कम मात्रा में कई कुटुम्बों के संगठित समुदाय—ग्राम में होती है। गाँव में यदि जातियों के अनुसार मुहल्ले-टोले बसे हों, जैसा कि बहुधा होता है, तो विभिन्नता के मौके अधिक रहते हैं। पूजा-व्रत में लीन पण्डित-पुजारी व्यवहार में कुछ न कुछ संस्कृत शब्दों का प्रयोग करेंगे ही; पटवारी साहब उर्दू का कागज रखते-रखते कुछ अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग करते ही होंगे। गाँव के कुछ लोग यदि शहर में कहीं चपरासी हों तो दस-पाँच अंग्रेजी शब्द लाकर गाँव वालों पर रोब गाँठेंगे। इस प्रकार सामाजिक संगठन और विभिन्न समुदायों के संसर्ग के अनुसार भाषा के स्वरूप में भी विभिन्नता आ ही जाती है।

समाज की गति और परिवर्तन भी भाषा को प्रभावित करती है, इसका ज्ञान किसी भी भाषा के सौ दो सौ वर्ष पूर्व के रूप के साथ तुलनात्मक अध्ययन से हो सकता है। भाषा की देश-काल के अनुसार जिस अनेकरूपता का हमें अनुभव होता है वह भाषा की समाजगत परिवर्तनशीलता की सिद्धि करता है। इस परिवर्तन को कोई उन्नति, कोई अवनति के नाम से पुकारते हैं। कोई कहते हैं कि अमुक रूप घिस कर ऐसा हो गया और किसी के अनुसार अमुक रूप ने बढ़कर ऐसी शकल ले ली। किन्तु ये सारे परिवर्तन विकास और गति के सूचक हैं और समाजशास्त्र में विकास के साथ उन्नति और अवनति का कोई प्रश्न नहीं उठता वरन वह समाज का एक स्वाभाविक गुण माना जाता है। स्वयं भाषाविज्ञानी भी यह मानने को तैयार नहीं कि आज जो भाषा एक समुदाय बोलता है वह दो पीढ़ी पूर्व या उपरांत बोली जानेवाली भाषा से अच्छी या बुरी है। सामाजिक विकास के आधार पर कोई भी भाषा अच्छी या बुरी नहीं है।

समाज की राजनीतिक-सांस्कृतिक स्वतंत्रता या परतंत्रता की स्थिति का भी भाषा पर गंभीर प्रभाव पड़ता है। समाज सादृश्य के अनुसार भाषा का कोई भी तत्व सामाजिक स्थितियों से असपृश्य नहीं है। सामाजिक स्थिति की अनुरूपता के आधार पर भाषा परिवर्तित ही नहीं, नष्ट भी हो सकती है। अमेरिका में नीग्रो लोगों की भाषा इसका प्रमाण है, उनमें से कुछ अब भी अपने थोड़े से प्राचीन शब्द बचाए हैं और उन्हें अंग्रेजी में मिलाकर बोलते है, लेकिन ये अपवाद हैं। किसी समाज की भाषा में बाह्य प्रभावों से कितना परिवर्तन होता है, यह उस प्रभाव की शक्ति पर निर्भर है, साथ ही समाज के संगठन, उसके प्रतिरोध और सदस्यों के भाषा प्रेम पर भी निर्भर है। यह देखा जाता है कि विजेता वर्ग (शासक वर्ग) या अभिजात्य वर्ग का समाज की भाषा और संस्कृति पर विशेष प्रभाव पड़ता है। ब्रिटेन के मूल निवासी केल्ट थे। इन पर जर्मन भाषी ऐंगल और सैक्सन जनों ने विजय पाई। अब अंग्रेजी में मूल निवासियों के केवल लगभग एक दर्जन ही मूल शब्द मिलते हैं। इनमें गधे का पर्यायवाची 'ऐस' (Ass) शब्द भी हैं जो अपने स्थान से टस से मस नहीं हुआ। भाषाविद् यस्पर्सन के अनुसार "ब्रिटेन जनों (मूल आदिवासियों) का समूल

नाश नहीं हो पाया वरन् वे सैक्सन विजेताओं में घुल गए। उनकी सभ्यता और भाषा गायब हो गई, लेकिन नस्ल बनी रही। विजित जाति प्रयत्न करती रही कि विजेताओं की ही भाषा बोले। आगे चलकर डेनमार्क के लोगों ने इंगलैंड पर आधिपत्य जमाया। उनके कारण बहुत से न्याय सम्बन्धी शब्द अंग्रेजी में प्रचलित हुए। तत्पश्चात् फ्रांसवासियों ने इंगलैंड पर राज्य किया और शासन व्यवस्था के बहुत से शब्द ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिए गए। जैसे, स्टेट, गवर्नमेन्ट, कन्ट्री, पावर, मिनिस्टर, कौंसिल, पार्लमेंट, डीपुटेशन आदि शब्द अंग्रेजी में फ्रेंच से ज्यों के त्यों अपना लिए गए। फ्रेंच लोगों के साथ शासन में सहयोग करनेवाला आभिजात्य ब्रिटिश वर्ग तो फ्रेंच भाषा बोलना ही सभ्यता का प्रतीक समझने लगा। वस्तुतः इसका कारण राजनीतिक पराधीनता उतना न था जितना सांस्कृतिक पराधीनता। इंगलैंड का आभिजात्य और बौद्धिक वर्ग मानसिक रूप से फ्रांस का गुलाम था। शब्दों के आदान-प्रदान के पीछे सांस्कृतिक मूल्य निहित रहते हैं। आदान-प्रदान दोनों समूह के सामाजिक संबंधों पर निर्भर होता है। कोई अंग्रेज इस बात पर गर्व नहीं कर सकता कि पशुओं के नाम—Ox, Cow, Calf, Sheep, Swine, Bore, Dear आदि तो अंग्रेजी हैं लेकिन उनके मांस के नाम—Beaf, Veal, Mutton, Pork, Bekan, Bron, Venisan आदि फ्रांसीसी हैं। इसका कारण यह है कि गाय, बैल चराने का काम अंग्रेज करते थे, उनका मांस भक्षण फ्रांसीसी करते थे, अथवा फ्रांसीसी पाक-शास्त्र में अधिक निपुण थे इसलिए डिनर और सपर की तरह खाद्य पदार्थों के नाम भी फ्रांसीसी रखे गए। जो भी हो, इन शब्दों का व्यवहार अंग्रेज की सांस्कृतिक पराधीनता ही सिद्ध करता है। यदि इसी तरह के शब्द इंगलैंड से फ्रांस भी पहुँचे होते तो कहा जा सकता था कि यह दो जातियों के सामान्य आदान-प्रदान का फल है किन्तु ऐसा नहीं हुआ क्योंकि अंग्रेज न फ्रांसीसियों की श्रेष्ठता अंध रूप से स्वीकार कर ली थी। अंग्रेज अपने ही समाज, अपनी ही जाति में जनसाधारण से ऊँचा सिद्ध होने के लिए फ्रांसीसी शब्दों का अंधाधुंध प्रयोग करते थे। आज भी अभिजातवर्गी 'गराज' या 'मदाम' कहता है जब कि ड्राइवर और सामान्य जन 'गैरिज' या 'मैडम' कहते हैं।

दांते और चौसर के युग में यूरोपीय नवजागरण आरम्भ हुआ। नई

जातियां, नई भाषाएँ रंगमंच पर आईं। इस समय लैटिन शब्द उधार लेने में अंग्रेजी ने यूरोप की सभी भाषाओं को मातकर दिया। इतालवी और फ्रांसीसी लैटिन की पुत्रियाँ कहलाती हैं। लैटिन से शब्द लेना उनके लिए स्वाभाविक था किन्तु अंग्रेजी इनसे पीछे रहने के लिए तैयार नहीं थी। इस समय इंगलैंड राजनैतिक रूप से पराधीन न था। फिर भी उसकी सांस्कृतिक पराधीनता समाप्त न हुई थी। अंग्रेजी में अपने शब्दों, शब्द निर्माण करनेवाले तत्वों को धता बताई गई। फ्रांसीसी से प्रत्यय तक उधार लिए गए। कुछ मूल तत्वों के तो इतने नए-नए रूप इंगलैंड में गढ़े गए जितने फ्रांस में भी प्रचलित न थे। इसी मनोवृत्ति के कारण अंग्रेजियत कम करके भाषा को लैटिनियत में ढाला गया। इसका कारण यह न था कि योरप की अन्य जातियों की तुलना में अंग्रेजों को लैटिन साहित्य से विशेष प्रेम था। कारण था जातीय आत्म सम्मान का अभाव, भाषा-प्रेम की कमी। जर्मन भी फ्रेंच की पड़ोसी है लेकिन उसमें फ्रांसीसी के शब्द उधार नहीं लिए गए क्योंकि जर्मन लोगों को अपनी भाषा की पूर्णता और उच्चता पर जातीय गर्व था। यदि उन्होंने फ्रांसीसी के कुछ शब्द लिए तो उसे बहुत से शब्द दिये भी जो सिर्फ सामाजिक आदान-प्रदान का द्योतक है, किसी पराधीनता का नहीं। अंग्रेज कहते हैं कि उनके कोश में जर्मन और फ्रांसीसी भाषाओं से अधिक शब्द हैं, इसलिए वह सबसे समृद्ध है। इस पर योरप के विद्वान् हँसते हैं। यस्पर्सन ने अंग्रेज लेखक शेल्डन की यह उक्ति उद्धृत की है, "हमारे पास जितने शब्द हैं उतने विचार नहीं है। एक ही बात के लिए आधे दर्जन शब्द हैं।" स्पर्सन का कहना है कि "शब्द ऐसी भौतिक वस्तु नहीं है जिसका अन्न, वस्त्र या रुपयों पैसों की तरह ढेर लगा दिया जाय और जब जरूरत पड़े तब उसमें से निकाल लिया जाय। शब्द को अपना बनाने के लिए उन्हें सीखना पड़ता है। अपना बनाने का अर्थ है, उसका व्यवहार कर सकना। कुछ शब्दों का व्यवहार सरल होता है, कुछ का कठिन। इसलिए महत्व इस बात का नहीं है कि तुम्हारी भाषा में शब्दों की संख्या कितनी है। उनके गुणों पर भी विचार करना चाहिए कि वे जिन विचारों के प्रतीक हैं उन्हें सरलता से व्यक्त कर सकते हैं कि नहीं और दूसरे शब्दों से उनकी पटरी बैठती है या नहीं।"[1]

---

१. ग्रोथ एन्ड स्ट्रक्चर आफ इङ्गलिश लैंग्वेज, पृ० ३५।

प्रतीक और भाषा

वस्तुतः यह एक उदाहरण था इस बात का की भाषा और सामाजिक जातीय संस्कृति का बड़ा घनिष्ठ संबंध होता है। यदि जाति में सांस्कृतिक तत्वों के संरक्षण की शक्ति है तो भाषा कभी नहीं मरती। अन्यथा सांस्कृतिक पराधीनता स्वीकार करनेवाली जाति के लिए वह निश्चय ही मरणशील हो जाती है। जैसे कि अंग्रेजी भाषा में मूल अंग्रेज आदिवासियों के आज मुश्किल से अपने दो दर्जन शब्द भी नहीं है। यदि ब्रिटेन का सामन्त और वाणिक वर्ग नार्मन आक्रमणकारियों का सामना करता या उसे अपनी जातीय संस्कृति से अधिक प्रेम होता तो भाषा की यह गति कभी न होती। अंग्रेजी में वर्तनी (Spelling) की जो अराजकता दिखाई पड़ती है उसका बहुत कुछ श्रेय फ्रांसीसी प्रभाव को ही है जिसके कारण लिखा कुछ जाता है और पढ़ा कुछ और। भारत में फारसी लगभग ६०० वर्षों तक राज करती रही, उसके बाद अंग्रेजी आ धमकी। फिर भी अंग्रेजी या फारसी के शब्द उस तरह हिन्दी में नहीं घुस पाए जिस तरह अंग्रेजी में फ्रांसीसी शब्द इसका कारण यह है कि राजनीतिक पराधीनता के बावजूद जातीय या सांस्कृतिक उत्पीड़न के खिलाफ यहाँ की जनता जम कर लड़ी और उसमें अपनी जातीय संस्कृति के लिए प्रबल अभिमान था।

प्रतीक और भाषा का उपरोक्त विवेचन साहित्य और समाजशास्त्र दोनों संदर्भ में समान रूप से महत्व का स्पष्ट करता है। साहित्य भाषा प्रतीकों की कलात्मक विधा है और समाजशास्त्र संस्कृति के आवश्यक तत्वों के रूप में प्रतीक और भाषा का अध्ययन करता है। समाजशास्त्रीय स्तर पर साहित्य अथवा अन्य कलाओं के अध्ययन के लिए सर्जन के माध्यम (भाषा, रंग-रेखा ध्वनि आदि) और व्यक्त भाव की प्रणाली का सामाजिक भूमिका में अध्ययन आवश्यक है। साहित्यकार वस्तुतः अपनी चेतना में उठे तनावों का प्रतीकात्मक प्रयोग करता है। ये प्रतीक साहित्यकार की सामाजिक पीठिका का प्रतिनिधित्व करते हैं। भाषा प्रतीकों की प्रणाली होने के कारण साहित्यकार की सामाजिक अनुभूतिप्रवणता से संबंधित हो जाती है। जो साहित्यकार समाज के साथ जितना गूढ़ और व्यापक संबंध रखता है उसकी भाषा उतनी ही सफलता से उसकी भावना को सामाजिकों में संप्रेषित करने में सफल

होती है। साहित्य की भाषा ही समाज की वास्तविक सांस्कृतिक स्थिति की द्योतक होती है। राजनीतिक-सांस्कृतिक स्वतंत्रता अथवा परतंत्रता का स्पष्ट प्रभाव समाज की भाषा पर पड़ता है और समाज की सामान्य व्यवहार की भाषा की अपेक्षा कलात्मक अभिव्यक्ति की भाषा पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। अतः साहित्य के अध्ययन से समाज की राजनीतिक, सांस्कृतिक स्थिति का विश्लेषण भली भाँति हो सकता है।

५

कला-संश्लेषण

हिरण्यगर्भ से मानव समाज कब उत्पन्न हुआ, विश्व-वाङ्मय में ललित-कलाएँ कब विकसित हुईं और मानव ने कब अपने को सुसज्जित और सुसंस्कृत होने की बात सोची, यह कहना कठिन है किन्तु समाज और कला के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को देखते हुए कहा जा सकता है कि जब से मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर समूहगत स्वार्थ की बात सोचने लगा तभी से उसमें जीवन के प्रति लालित्य जागृत हुआ। इसी लालित्य-बोध की भावना को महत्त्वपूर्ण आकार की अभिव्यक्ति प्रदान करने के प्रयास ने कला को जन्म दिया। भाव पक्ष के साथ-साथ जीवन के अमूर्त प्रत्यय को अभिव्यक्ति प्रदान करने के कारण कला मानव समाज से इस प्रकार गुँथ गई जैसे माला की प्रत्येक मनका सूत्र में। अर्थात जहाँ कला के द्वारा मनुष्य अपने विचारों और अभिप्रेरणाओं को संगीत अथवा काव्य के माध्यम से भावना प्रधान रूप में अभिव्यक्त करता है वहीं उस भावनात्मक अभिव्यक्ति को स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, काव्य नाट्य कला आदि के द्वारा आमूर्त आकार प्रदान कर चिरंतन भी बना सकता है।

'कला' के समाज शास्त्रीय स्वरूप पर विचार करते समय हमें पिछले अध्याय में विवेचित 'प्रतीक–स्थिति, को ध्यान में रखना होगा। मनुष्य पशु से इस कारण भिन्न है कि उसमें प्रतीक-योजना की क्षमता और आवश्यकता है। पशुओं की भाँति मनुष्य में भी मूल प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे अभिप्रेरित हो कर वह क्रिया करता है लेकिन (पशु की भाँति) मनुष्य के लिए मूल प्रवृत्यात्मक आवश्यकताएँ ही सब कुछ नहीं हैं वरन् आदर्शों, मूल्यों एव सभ्यता-संस्कृति के कारण मानव आवश्यकताएँ अमानव आवश्यकताओं से भिन्न हैं। मानव की भौतिक और शारीरिक आवश्यकताएँ ही सब कुछ नहीं वरन् मानसिक आवश्यकताएँ भी होती हैं। इन मानसिक आवश्यकताओं के प्रतिमान 'प्रतीक' हैं और प्रतीक -- कला, संस्कृति, धर्म, भाषा, साहित्य आदि हैं जिनके मूल्यों को धारण कर मनुष्य पशु से भिन्न सामाजिक

होता है। इस दृष्टि से कला की निहिति मनुष्य की प्रतीक-योजना का प्रतिफल है।

कला-प्रक्रिया

प्रतीक एक मानसिक अवधारणा अथवा उद्वेग है जिसके द्वारा मनुष्य वस्तुओं में अर्थारोपण करता है। इस अर्थारोपण का प्रतिफल 'कला' है। हम जिस प्रकार से वस्तुओं पर अर्थारोपण का प्रयास करते हैं उसी प्रकार की कला—संगीत, साहित्य, चित्र, नाटक, स्थापत्य आदि उत्पन्न होती है। इस अर्थारोपण की विशेषता है 'सौंदर्यपूर्ण उद्वेग'। अर्थारोपण की क्रिया सामान्य जीवन मे हर व्यक्ति द्वारा होती रहती है। लेकिन जब अर्थारोपण की क्रिया एक विशेष दृष्टि या आयाम सौंदर्य या लालित्य-बोध (Aesthetie Sense) द्वारा 'सचय' और 'सम्प्रेषण' की दृष्टि से सम्पन्न की जाती है तो वह 'कला-रूपों' मे प्रकट होती है। लालित्यपूर्ण अर्थारोपण की क्रिया का कला होना तभी सम्भव है जब उसका किसी रूप (Form) में संचय किया जाय। बिना कोई रूप दिए भी अर्थारोपण की क्रिया की 'अनुभूति' हो सकती है लेकिन रूप के अभाव में वह कला नहीं हो सकती। जब सचय किया हुआ कला-रूप निहित अर्थों का सम्प्रेषण कर सके तभी कला को 'सच्चाई' प्राप्त हो सकती है। सच्चाई' का अर्थ है कि 'कला' तभी कला होती है जब उसका कोई, श्रोता, दर्शक या पाठक अर्थात आस्वादक हो। 'आस्वाद्य' की क्षमता (जो सम्प्रेषण में ही निहित है) के बिना कोई कला कला नही है। कला की सार्थकता किसी न किसी प्रकार के 'भोग' में ही निहित है, यह भोग चाहे मात्र ऐकांतिक और आध्यात्मिक 'आनन्द' के अनुभव तक सीमित हो अथवा किसी विशेष 'स्वार्थ' की ओर अभिप्रेरित हो।

उपरोक्त विवेचन से जो बातें सामने आई उनसे स्पष्ट होता है कि कला के चार मूलभूत आधार हैं जिन पर कला प्रक्रिया का निर्माण होता है—सौंदर्यपूर्ण उद्वेग, सचय सम्प्रेषण और भोग। कला-प्रक्रिया का सम्बन्ध इन्हीं चार तत्वों पर आधारित है।

कला-प्रकिया द्वारा हमें जो पहली चीज मिलती है, वह है आनन्द। चित्रण-वर्णन चाहे प्रिय घटना—राग, प्रेम, हास्य, शृंगार का हो अथवा

अप्रिय जीवन व्यापार–करुण, वीभत्स, भयानक का हो–कला अपने आस्वादक को एक आनन्द प्रदान करती है। रंगशाला में चाहे परिणय की पूर्णता को देखकर दर्शक बाहर आ रहा हो, अथवा करुण का दृश्य देखकर आँसू पोंछते सिसकियाँ भरते आ रहा हो, उसका हृदय दोनों प्रकार के दृश्यों को देखकर जो अनुभूति लिए हुए लौटता है वह अपने स्वरूप में आनन्दपूर्ण होती है। यह आनन्द क्या है? यह आनन्द है आत्मा का विस्तार और सौंदर्य का बोध। अर्थात आनन्द-भोक्ता की अनुभूति का स्पर्श उस स्तर पर होता है जहाँ उसका 'स्व' उस दृश्य के साथ घुल-मिलकर व्यापक (सामाजिक) बन जाता है। इस आत्म या 'स्व-विस्मृति' में उसकी अनुभूति सामान्य-सामाजिक की हो जाती है। यह अनुभूति जिसमें 'स्व' का विस्तार होता है, 'आनन्द' है। ऐसा होने का कारण यह है कि दृश्य का चित्रण और दृश्य का ग्रहण, दोनों एक समान सौंदर्य-बिन्दु पर होता है अर्थात कलाकार वस्तु को 'सुन्दर कर' सम्प्रेषित करता है और कला-भोक्ता 'सुन्दर ढंग' (आत्म-विस्तार) से उसे ग्रहण करता है। कोई आवश्यक नहीं कि सम्प्रेषित विषय अथवा वस्तु देखने-सुनने में सुन्दर ही हो, मन को भाने वाली हो वरन् वस्तु के 'सुन्दर ढंग' (शैली) में प्रस्तुत करने में भी सुंदरता होती है। युद्ध-क्षेत्र में योद्धाओं द्वारा निर्ममता से दुश्मन का रक्त-पिपासु होना तो कोई सुन्दर दृश्य अथवा विषय नहीं लेकिन कवि या कलाकार इस प्रकार उसका चित्रण करता है कि हम वही दृश्य बार-बार देखने या पढ़ने की ओर प्रेरित होते हैं। और आज की कला के विभिन्न वादों की अंतर्वस्तु तो ऐसे ही दृश्यों को उभारने, चित्रित करने में लगती है जिसे कभी सुन्दर नहीं माना गया, जिनमें सामान्य-सुन्दरता का बिल्कुल अभाव रहता है, फिर भी वे हमें सुन्दर लगने लगीं क्योंकि उसे कला के सौंदर्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अर्थात प्रस्तुतीकरण, अर्थारोपण में भी सौंदर्य है। एक नर-कंकाल के बोझ को ढोने वाले भिखारी में क्या सुन्दरता हो सकती है, लेकिन कवि ने जिस ढंग से उसकी अनुभूतियों का संचय कर चित्रण-सम्प्रेषण किया वह अत्यन्त सुन्दर हो गया है क्योंकि वह हृदय के मर्म को स्पर्श करता है, हमें वह मूल्य दिखलाता है जिसने भिखारी के लिए अपनी ही हड्डियाँ बोझ बना दी—

वह आता,
दो टूक कलेजे का करता

पथ पर पछताता आता !
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को,
भूख मिटाने को,
मुँह फटी पुरानी झोली का,
लटकाए,
वह आता,
दो टूक कलेजे का करता
पथ पर पछताता आता ।

'निराला' ।

ऐसा क्यों ? इसलिए कि विषय अथवा वस्तु सुन्दर न रही हो तो भी क्या; प्रस्तुतीकरण, अर्थारोपण का ढंग या शैली तो सुन्दर रही, प्रतीक का जो मुलम्मा पहनाया गया वह तो मर्मस्पर्शी रहा। बस, यही सुन्दर, यही मुलम्मा कला है। यही तो कारण है कि स्वयं में असुन्दर मालुम पड़ने वाली वस्तु या विषय कला में सुन्दर लगने लगती है। क्योंकि कला यह बताती है कि सुन्दरता की सच्चाई वस्तु अथवा विषय में नहीं बरन् प्रेषक और ग्राहक की दृष्टि, अर्थ, अथवा मूल्यारोपण की प्रक्रिया में है। कला नवीन सृष्टि मानी जाती है, मूल्यों की ग्राहक मानी जाती है, क्योंकि किसी वस्तु में अनेक ऐसे मूल्य छिपे रहते हैं जो सामान्य ढंग से तो समझ में नहीं आते लेकिन अगर कलाकार समझाता है तो बात समझ में आ जाती है। प्रकृति सुन्दर है, इसलिए नहीं कि वह सुन्दर है, बल्कि इसलिए कि मनुष्य उसे सुन्दर मानता है, उसे कलात्मक दृष्टि से देखता है, इसीलिए वही प्रकृति पशुओं के लिए सुन्दर हो, न हो, हमारे लिए सुन्दर है। प्रकृति में सौंदर्य का क्या परिमाण है, इसका माप सम्भव नहीं है। क्योंकि सौंदर्य मनुष्य की मानसिक सर्जना शक्ति में है जो प्रति व्यक्ति में भिन्न होती है अन्यथा कर्त्ता और भोक्ता में कोई अन्तर न होता। वस्तुतः यही वस्तु की सच्चाई है। वस्तु के अन्तर्गत निहित मार्मिक, गूढ़ मूल्यों को और उसकी सच्चाई को कला सुन्दर शैली में प्रस्तुत करती है। यही कला की सार्थकता है, कला का उद्देश्य है। मानव की सौंदर्य दृष्टि तथा सौंदर्यसृष्टि का यह

आवेग या शैली ही उसकी मानवता को बनाए रखती है और मानव पशु स्तर पर नहीं लौट जाता। मानव जब गुफा में रहता था तभी कई प्रकार के चित्र आदि का विकास कर चुका था। प्राचीन प्रस्तर युग के प्रथम भाग से ही पत्थर और सीपों के प्राथमिक आभूषण मिलने लगते हैं। इस युग के मध्य भाग में अधिक विकसित आभूषणों का प्रचलन हो गया था तथा वे पत्थर के अतिरिक्त हड्डियों एव कच्ची धातु के टुकड़ों से भी बनाए जाने लगे थे और अन्तिम चरण तक मानव ने अपनी कलात्मकता को असाधारण रूप से विकसित कर लिया था। भारत में मोहनजोदड़ों और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त अनेक आभूषण, पात्र तथा अन्य वस्तुएँ उस युग के कला विकास के गौरव की सूचना देते हैं। पश्चिमी योरप की गुफाओं की दीवारों और निचली छतों पर उक्त काल की अनेक सुन्दर 'पालि-क्रोम' पेंटिंग मिलती है।

किंतु सौंदर्य क्या है, कहाँ है? केवल मुग्ध और चमत्कृत कर देने की शक्ति तो नहीं? वस्तुतः सौंदर्य यदि रहस्योत्पादन तक ही सीमित रह गया तो वह कला का रूप नहीं ग्रहण कर पाता, फिर कुछ और हो जाता है। सौंदर्य का कार्य है 'अनुभूतिस्पर्शण'। तथा उस अनुभूति का सम्बन्ध केवल कर्त्ता से नहीं होता वरन् भोक्ता से भी रहता है। यदि कर्त्ता ऐसी अनुभूति की रचना में लगा जो भोक्ता की अनुभूति को स्पर्श नहीं कर पाई, सामान्य भावक की नहीं हो पाई तो वह सौंदर्य चमत्कार (Miracles) तत्व-दर्शन (Mataphysics), रहस्य (Mistry), विज्ञान (Science) आदि बन कर रह जायगा, कला नहीं। उस सौंदर्य द्वारा तत्व-दार्शनिक बातें हो जाएँगी, तर्क और रहस्य का शून्याकार खड़ा हो जायगा, विज्ञान की तकनीक और नया अन्वेषण प्राप्त हो जायगा, लेकिन कला नहीं हो पाएगी, अनुभूति का भावन नहीं हो पाएगा। अतः वही सौंदर्य कला हो सकता है जिसमें कर्त्ता और भोक्ता की अनुभूति की सामान्यता हो जाए। सौंदर्य और कर्त्ता-भोक्ता का यही स्थल भारतीय रसवाद है। इसका विवेचन आगे किया जायगा।

स्पष्ट है कि वस्तु का स्वयं में सुन्दर-असुन्दर होना कोई अर्थ नहीं रखता वरन् वस्तु के प्रति दृष्टिकोण और भावारोपण में सुन्दरता निहित है। यह

दृष्टिकोण अथवा अर्थारोपण कर्ता की वह गहन अनुभूति है जिसका कला रूपों में अभिव्यक्तिकरण होता है। कलाकार की वस्तु के प्रति ग्रहणशीलता की भावना बहुत व्यापक और गम्भीर होती है। इसकी ग्रहणशीलता अथवा वस्तु के प्रति तादात्म्य का भाव सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के पर्यावरण में पलता हुआ इतना तीव्र हो जाता है कि उसकी अनुभूति को अपने अन्तर में संजोए रखना कलाकार के लिए असंभव हो जाता है, फलस्वरूप वह उसे किसी सुन्दर आकार (Configuration) द्वारा चित्र, संगीत, शिल्प, शब्द आदि में अभिव्यक्त किए बिना रह नहीं पाता। अनुभूति की यही अभिव्यक्ति कला होती है। मनोवैज्ञानिकों ने जिसे कलाकार की 'अवचेतन अनुभूति' कहा है वही कला-रूपों में अभिव्यक्ति पाकर 'मानव-चेतना' का अंग बन जाती है। कलाकार की यह व्यक्त-अनुभूति समाज की प्रयुक्त-अनुभूति हो जाती है, आस्वादक भी उसी स्तर पर अनुभूति का भावन करता है जिस पर कलाकार ने किया था। इस प्रकार कलाकार की अनुभूति कला बनकर समाज की सम्पत्ति बन जाती है। इसी आधार पर डंकन ने कला की परिभाषा देते हुए कहा है, "कला एक विशिष्ट कोटि की अनुभूति है। कलाकार प्रतीकों की रचना करता है जिनसे सम्प्रेषण होता है। इस तरह कला का अध्ययन समाज का अध्ययन बन जाता है"। टालस्टाय ने भी इसी मत की स्थापना की है कि 'कला वह मानवीय क्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य कुछ निश्चित संकेतों के सहारे अपनी अनुभूतियां दूसरों को बतलाता है। कलाकार जिन संवेगो, अनुभूतियों एवं भावों का स्वयं अनुभव करता है उन्हें उसी रूप में रेखाओं, रंगों तक आकारों द्वारा दूसरे तक पहुँचाने का प्रयास करता है। कला कि प्रक्रिया यही है कि जो अनुभूति कलाकार की हो वही दर्शक भी अनुभव करें।' लेकिन टालस्टाय की इस बात से सहमत होने में कठिनाई है। प्रायः कोई भी अभिव्यक्ति का साधन अभी तक इतना सक्षम नहीं हुआ है जो कलाकार के भावों को पूर्णतया, जो कुछ, जैसा कुछ वह अनुभव करता है, प्रकट करने में वह सक्षम हो। भाषा रंगतूलिका, संगीत, शिल्प आदि सभी के सम्बन्ध में यही बात है। इसी कारण प्रायः कलाकार की भावाभिव्यक्ति अथवा उसके व्यक्तित्व में एक कसक, एक छटपटाहट होती है, एक तीव्रता पाई जाती है। प्रत्येक कलाकार प्रयत्न यही करता है कि वह अपनी अनुभूति को पूर्ण आकार दे दे, किन्तु

इसकी अनुभूति इतनी व्यापक होती है कि माध्यम अक्षम हो जाते हैं और कलाकार इससे कुछ मानसिक तनाव का अनुभव कर रह जाता है। अनुभूति की विशालता और अभिव्यक्ति की सीमा के कारण ही कलाकार में संवेगों की तीव्रता बढ़ जाती है और उसका अपना व्यक्तित्व प्रभावित हो जाता है जिसे कुछ लोग 'असमंजित' व्यक्तित्व कहते हैं। यह असमंजस असामंजस्य तब और भी बढ़ जाता है जब उसकी अभिव्यक्त भावना को पाठक और आलोचक ने उस रूप में ग्रहण न किया हो जो कलाकार को वांछित था। कुछ कवियों आदि जैसे 'निराला' का व्यक्तित्व इसी कारण तनावपूर्ण हो गया था। जब कलाकार और समाज के सम्बन्धों के बीच इस प्रकार का तनाव या असामञ्जस्य उत्पन्न हो जाता है तो तीन विकल्प उपस्थित होते हैं–

१. कलाकार अपने विचारों तथा अनुभूतियों को सामाजिक आदर्शों (Social norms) के अनुकूल बना कर सामञ्जस्य स्थापित कर ले।

२. समाज की आलोचना से भय खाकर पलायनवादी बन जाय। या फिर,

३. कलाकार तत्कालीन समाज के पीछे इतना अधिक पड़ जाय कि विद्रोही रूप में समाज को अपनी बात मानने के लिए बाध्य कर दे।

ये स्थितियां दो दिशा दिखलाती है–

यदि कलाकार का अभिव्यक्त-मूल्य अपनी सामाजिक प्रवृत्तियों के प्रति वर्तमान की अपेक्षा भविष्य की कल्पना की ओर केन्द्रित हुआ तो उसकी बात ऐसे स्वप्न चिंतन (Utopia) में चली जाती है जहां समाज को प्रभावित करने में उसका योग नहीं होता और यदि विद्रोही कलाकार ने समाज परिवर्तन की पुकार के साथ किसी वांछित समाज का स्वरूप प्रस्तुत किया तो क्रांति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, समाज कलाकार की भावना को सत्य रूप देने के प्रयास में स्वयं ही आगे बढ़ जाता है और इस प्रकार नए समाज की रचना होती है। रूसी क्रांति, विभिन्न देशों की स्वतंत्रता और राष्ट्रीयता की रक्षा के संघर्ष काल की कलायें ऐसी ही हैं।

कलाकार अनुभूति कहाँ से ग्रहण करता है। वस्तुतः कलाकार का जीवन ही उसका अनुभूति क्षेत्र है और उसका जीवन है वह युग, युग-परम्परा,

संस्कृति और समाज जिसमें वह जीता है। कोई भी कलाकार अपने युग और युग-परम्परा से विच्छिन्न होकर सर्जना नहीं कर सकता। कलाकार युगीन जीवन में जीता है। यह जीवन समूह-मन का प्रतिनिधि होता है और युग-परम्परा अर्थात अपने समाज के इतिहास और संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण करता है। यह प्रेरणा गहन अनुभूतियों के साथ मिलकर कला रूप धारण करती है। युग और संस्कृति कलाकार को वे प्रतिमान और मूल्य प्रदान करते हैं जो कलाकार का सामाजिक जीवन होता है और इसी जीवन की अनुभूति को आधार बनाकर कलाकार कला-सर्जन करता है। प्रसिद्ध चित्रकार नन्दलाल बसु ने एक स्थान पर कहा है, "मेरे चित्र के पीछे एक इतिहास है और मैं ऐसा मानता हूँ कि मेरे हर चित्र में मेरे ही अन्तर के सुख-दुख, जय-पराजय तथा उतार-चढ़ाव का चित्रण होता है। मेरी पार्वती (एक प्रसिद्ध चित्र) का कष्ट वस्तुतः मेरे मन का कष्ट है। जब चित्रकार के मन का तादात्म्य नहीं होता, मैं उसकी कला की साधना को अधूरा मानता हूँ। चित्रकार के मन का यह संघर्ष वस्तुतः उसके समाज के समूह मन का प्रतिनिधि है। अनुभूति किसी भी कला रूप और किसी काल में व्यक्त की गई हो, हमें उसके युग की मान्यताओं, सामाजिक-सांस्कृतिक आदर्श और उसकी परम्परा को समझना होगा, वरना कला की अंतर्वस्तु से पूर्ण तादात्म्य होना असम्भव है। कला के प्रेरणा स्रोत का अनुसन्धान कलाकार के युग और समाज से बाहर नहीं किया जा सकता।

पिछले पृष्ठों पर हम बता आए है कि कलाकार को कभी-कभी संतुलन स्थापित करने के लिए व्यक्तिगत रूप से अपने युग के विक्षोभ या संवेगात्मक अतिरेक के विरुद्ध प्रतिवाद करना पड़ता है जैसा कि माइकेल एंजिलो (Michael Angelo) के कार्यों अथवा धर्मांधता या निष्क्रियता के के विरुद्ध अजन्ता के भित्त-चित्रों और बोरबोडूर (Borobodur) के उभड़े हुए नक्काशीदार चित्रों में हुआ है। किन्तु इन विभिन्न युगों और स्थानों की कला को तब तक पूरी तरह से नहीं समझा जा सकता जब तक उस युग की धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक स्थिति से परिचय प्राप्त न किया जाय। डा. राधाकमल मुखर्जी का कथन है, कोई समाज या सभ्यता चाहे वह महान हो या सामान्य, कला के अन्तर्गत अपनी उत्कट और यथार्थ आकांक्षाओं को स्थापित ही नहीं करता वरन उनको मानवता के

अधिक स्पष्ट विवेक और बुद्धि के रूप में सुरक्षित और पुनः अग्रसारित करने का अवसर देता है।"[1]

कला और नैतिकता :—

कला के अन्तर्गत उसके युग की नैतिक और धार्मिक भावनाएँ विशेष रूप से निगूढ़ रहती हैं। धर्म को समाजशास्त्र ने सार्वभौम सामाजिक यथार्थता के रूप में ग्रहण किया है। अर्थात प्रत्येक धर्म में कुछ ऐसे मूल्यों का समाहार रहता है जिन्हें देश-काल की सीमा का विचार किए बिना भी कोई ग्रहण कर सकता है और जिनमें मानव मात्र के विकास का मूल्य निहित रहता है। कला आरम्भ से ही धर्म के जीवनगत मूल्यों को समाज में अधिक से अधिक विस्तार के साथ सम्प्रेषित करने का कार्य करती रही है। इस दृष्टि से बहुत समय तक धर्म और कला एक दूसरे के पूरक हो कर गतिमान रहे। अनेक कलाकारों और विवेचकों ने कला की चरम सफलता इसी में मानी है कि वह ऐसे शाश्वत मूल्यों की प्रतीति करा सके जिनमें मानव मात्र को अपील करने की शक्ति हो। बुद्ध की प्रतिमा का धर्म के अनुयायियों के लिए एक विशेष अर्थ हो सकता है लेकिन जब उसे सामान्य मानवता के स्तर पर लाकर देखा जायगा तो सभी को 'व्यक्ति' की सौम्यता, गम्भीरता, धीरता और जीव मात्र की रक्षा तथा शांति का संदेश मिलता है। प्रत्येक आदिम और प्राचीन समाजों पर धर्म जादू-टोना, और रहस्य की भावना का आधिपत्य रहा और सभ्यता के विकास में यह धर्म कभी किसी समाज से छूटा नहीं वरन् समाज और राजनीति की धुरी बन कर बहुत समय तक संचालन का केन्द्र रहा। स्वभावतः आदिम और प्राचीन कला, जो मानव सभ्यता के विकास के साथ जुड़ी हुई थी, अपने को धर्म-मुक्त नहीं रख सकी वरन् कला का प्रत्येक कार्य धर्म से संयुक्त होकर चला। जीवन का हर क्षेत्र धर्म से निर्देशित रहा अतः स्वभावतः कला की विषय वस्तु धर्म ही बना रहा। धर्म ने अपने मूल्यों के सम्प्रेषण के लिए कला का सहारा लिया और इस प्रकार कला ने अपना सम्पूर्ण प्रतिपाद्य धर्म से ग्रहणकिया। आज हमारे लिए कला के सृजन की जो समस्या है वही समस्या आदिम और प्राचीन समाज

१—सोसल फंक्शन आफ आर्ट, पृ० ३९

के व्यक्ति के लिए नहीं थी क्योंकि तब 'कला' नामक संस्था का कोई भिन्न स्वरूप सम्भव नहीं था। किन्तु सभ्यता के विकास और सामाजिक विशिष्टीकरण की भावना के दौरान कला ने अलग रूप ग्रहण किया फिर भी कला और धर्म का निरन्तर सम्बन्ध बना रहा।

इस संदर्भ में भारतीय कला की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। कला और धार्मिक कृत्यों का सम्बन्ध यहाँ वैदिक काल से ही रहा जिसमें प्रत्येक मन्त्रों की लयात्मकता और गीतात्मकता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। मूर्ति-पूजा की परम्परा ने इसे और बल प्रदान किया। इष्ट देव की पूजा के लिए उनकी मूर्ति बनाने की आवश्यकता थी। सारी प्राचीन चित्रकला, मूर्तिकला तथा स्थापत्य कला इसी उद्देश्य की पूर्ति करती दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय चित्र कला और मूर्ति कला में अधिकतम देवी-देवताओं के ही रूप मिलते हैं। प्राचीन काव्य और नाटक का अधिकांश तो धर्म-घटनाओं से ही सम्बन्धित विषयों से भरा पड़ा है। महाकाव्यों अथवा अन्य ग्रन्थों की अन्तर्वस्तु रामायण, महाभारत अथवा किसी पुराणकथा पर ही आधारित है। भारतीय धर्मशास्त्रों तथा दर्शन में साकार-निराकार ब्रह्म की कल्पना में ईश्वर या देवी-देवताओं के भौतिक स्वरूप का भी वर्णन किया गया है और उसे ही कलाकारों ने विभिन्न ढंग से रूपायित करने का प्रयास किया है। इस प्रयास में देवी-देवताओं के प्रतीकात्मक स्वरूप के चित्रण पर विशेष बल दिया गया है।

कला-भोक्ता और रसवाद

अनुभूति का सम्बन्ध केवल कलाकार से ही नहीं, कला-भोक्ता अर्थात पाठक, दर्शक और श्रोता से भी है। कलाकार की ही भांति कला-भोक्ता को भी अनुभूतिप्रवण होना आवश्यक है अन्यथा कलाकार की सर्जना का कोई अर्थ नहीं होगा। कलाकार का वास्तविक-व्यावहारिक समाज कला-भोक्ता ही है। कला द्वारा जिन मूल्यों, नवीन अनुभूतियों की सर्जना की गई है अगर उसका भोग पाठक आदि द्वारा नहीं किया गया तो फिर उसका कोई अर्थ नहीं।

लैंगफील्ड (Langfield) का मत है कि 'यह एक स्पष्ट तथ्य है कि दर्शक के अस्तित्व से रहित होकर किसी प्रकार का कला प्रारूप अस्तित्व में

न आ पाया होता। सामाजिक रूप से इसका स्थायी कारण यही है कि किसी कला कृति का सौंदर्य तब तक पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता जब तक कि निर्माण के साथ किसी दर्शक या श्रोता वर्ग की रूपरेखा मस्तिष्क मे न निर्धारित कर ली गई हो। भले ही कला का दर्शक या श्रोता-समूह अत्यत लघु हो फिर भी इसमें कोई संदेह नही कि इसी छोटे समूह के अभिरुचि की आदर के कारण ही कलाकार का नर्माण-कौशल जीवितर हता है।

भारतीय रसवाद मे भोक्ता की अनुभूति का विशद विवेचन हुआ है। वस्तुतः कला की सार्थकता इसी मे है कि कलाकार अपनी जिस अनुभूति को व्यक्त करता है उसके साथ भोक्ता का पूर्ण तादात्म्य होना चाहिए। कला का मूल उद्देश्य आनन्द का सर्जन और आनन्द का भोग है। यह आनन्द ही रस है। काव्य के द्वारा कवि और पाठक के भाव मे निर्वैयक्तिक तादात्म्य होना ही रसानुभूति है। उत्कृष्ट कलाकृति हमें व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठा देती है और हम व्यक्ति-अनुभूति के प्रति आत्म विभोर हो जाते है। भोक्ता को उसकी व्यक्ति-अनुभूति से छुटकारा दिलाकर व्यक्ति सामान्य अथवा निर्वैयक्ति अनुभूति उत्पन्न कराना ही कला का मूलोद्देश्य है। इसी स्तर पर कला में निहित मूल्यों का भोक्ता के साथ तादात्म्य होता है, कला द्वारा मूल्य-सम्प्रेषण होता है।

भारतीय कला-दर्शन के अनुसार कला-चेतना भावमूलक है। इस आधार पर मनुष्य के अन्तस् मे स्थित मूलभूत भावो को ९ स्थायी भावो मे विवेचित किया गया है। ये स्थायी भाव ही आस्वाद रूपो के नाम से विभिन्न रसों में विभाजित किए गए हैं जो इस प्रकार हैं— शृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, भयानक, अद्भुत और शांत। इन नौ रसो की कल्पना मूलतः काव्य के सन्दर्भ में की गई थी लेकिन ये सभी कलाओ के प्रतिपाद्य हैं। रसानुभूति अथवा कला-चेतना हमारे भावों को व्यक्तिगत चेतना से ऊपर उठाकर उसे तटस्थता और सार्वभौमिकता प्रदान करती है। इसी से ट्रेजेडीस में दर्शाये गए दुखों का लोकोत्तर आनन्द में परिहार हो जाता है। भारतीय विचारधारा के अनुसार रस हृदय का व्यापार है किन्तु पश्चिमी विचारधारा में कलात्मक सौंदर्य को बुद्धि ग्राह्य माना गया है। इसी आधार पर पश्चिमी विचार-धारा मे रसानुभूति के आधार पर सौंदर्यानुभूति को कला का लक्ष्य माना गया है। सौंदर्य की अनुभूति को वहाँ चमत्कारोत्पादक

आनन्द के साथ जोड़कर बुद्धिजन्य बताया गया है। काव्य के आस्वादन और प्रभावान्विति को लेकर भारत में जिस रसवाद की स्थापना हुई उसके समकक्ष पश्चिम में 'कैथारसिस' या 'रेचन सिद्धांत' का अनुमोदन किया गया। इस सिद्धांत के अनुसार कला रेचन का कार्य करती है। जिस प्रकार शरीर की शुद्धि के लिए रेचक औषधियों का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार ट्रेजेडी द्वारा प्रेक्षकों में करुणा और भय की अनुभूति इस प्रकार कराई जाती है कि धार्मिक, आर्थिक और मानसिक परिशुद्ध हो जाती है। यही ट्रेजेडी का उद्देश्य है।

कला मूल्य और सम्प्रेषण

कला-व्यापार का मुख्य कार्य निहित अर्थों का सम्प्रेषण है। कृति और उसके भोक्ता के बीच भाव तादात्म्य की अवस्था में कृति-सर्जना के मूल उद्देश्यों का सम्प्रेषण होता है। कला में समाज के जिन मूल्यों का प्रदर्शन हुआ है, कला-भोग के समय स्वयं ही भोक्ता के अन्तस् में उनका सम्प्रेषण होता है। चित्र देखते समय जो भाव उत्पन्न होते हैं वही विचारों के माध्यम बन जाते हैं। इस आधार पर कला का अध्ययन कर व्यक्ति की महत्वाकांक्षाओं, इच्छाओं विचारों एवं अभिप्रेरणाओं का पता लगाया जा सकता है कि व्यक्ति के विचार और आदर्श किस प्रकार से सांस्कृतिक प्रभाव द्वारा निर्धारित हुए हैं। किसी भी संस्कृति अथवा सभ्यता ने अपना सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन किस आधार पर सम्पन्न किया है, इसका पता कलाओं द्वारा लगता है। प्रो० मुकर्जी ने कला द्वारा संस्कृति के मूल्यों को सम्पन्न करने के गुण पर विशेष बल दिया है। कला-रूप चाहे जो कुछ भी हो, चित्रकला, शिल्प कला, संगीत अथवा काव्य आदि, कला आदान-प्रदान का सर्वोत्तम (Excellant) माध्यम है। सर्वोत्तम माध्यम की व्याख्या करते हुए डंकन ने कहा कि कला 'दृष्टिकोणों (Attitudes) का निर्माण' करती है और अभिव्यक्ति-प्रकाशन की सर्वोत्तम क्षमता के कारण सबसे शक्तिशाली माध्यम बन जाती है।

आदान-प्रदान के माध्यम से कला व्यक्ति और समाज के बीच एकता स्थापित करती है, व्यक्ति और सामाज को परस्पर समीप लाती है। व्यक्ति

ससार में स्वत: जो अध्ययन करता है, उसे दूसरों के समक्ष भी अभिव्यक्त करना चाहता है, अपनी अनुभूति सम्प्रेषण के लिए वह कला का सहारा लेता है। "कला कृति में सम्प्रेषित विचार को समझना एक नई अनुभूति को प्राप्त करना है। किसी भी कला में निहित संगठित भाव को समझ लेने पर नई अनुभूति प्राप्त होती है। कलाकार की अंतर्दृष्टि मानव-व्यवहार को कितनी सूक्ष्मता से ग्रहण करती है, इसे समझ लेना एक नई अनुभूति प्राप्त करना है। यही कला का सामाजिक महत्व है।"[१]

प्राय: प्रत्येक कला मे दो प्रकार की समस्याएं दिखाई देती हैं। समस्याओं के एक वर्ग का सम्बन्ध रचना-प्रक्रिया से होता है तो दूसरे का उसके आस्वादन से। आस्वादन एक प्रकार का ग्रहण है। जहाँ तक रचना-प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वह गतिशील होती है। इसका उत्तम रूप अभिव्यक्ति के क्षणों में देखा जा सकता है। यदि व्यापक अर्थ में कहे तो आस्वादन एक प्रकार का प्रभाव है और रचना उस अभिव्यक्ति का नाम है जो प्रभाव-जन्य होती है। प्रभाव का सम्बन्ध व्यक्ति से होता है और अभिव्यक्ति मे समष्टि के तत्व निहित होते हैं। जब अभिव्यक्ति को वस्तु रूपता (Objective Form) प्राप्त होती है, तब उसमे व्यक्तिगत नियम, व्यक्तिगत मन:स्थिति या कल्पना नहीं रहती वरन् वह समष्टि गुणो से युक्त हो जाती है और उसमें सम्प्रेषण की शक्ति आ जाती है। प्रस्तुत सम्प्रेषण का तत्व ही कलाकार का आस्वादक से सम्बन्ध जोड़ता है और कला को सार्वजनीन बनाता है तथा उसे युगीन गति (Temporal Continuam) प्रदान करता है। कला की सुदृढ वस्तु-रूपता ही सम्प्रेषण का माध्यम होती है।

यद्यपि कला-सिद्धांत के क्षेत्र मे सम्प्रेषण एक महत्वपूर्ण तत्व है फिर भी इसकी जटिलता विभिन्न कलाओं के साथ भिन्न-भिन्न रूप मे उपस्थित होती है। उदाहरणार्थ संगीत कला में सम्प्रेषण का अस्तित्व कलाकार पर निर्भर करता है। परन्तु मूर्ति और चित्रकला में इसका आधार वस्तु का रूप होता है और इसका स्वतंत्र अस्तित्व होता है। कला का सम्प्रेषण सभी प्रकार के प्रयोजनों के लिए सहायक होता है क्योंकि इसका आधार

---

१. फिलासाफी इन ए न्यू की लैंजर, पृ० ६६

भाषा होती है। रंगमंचीय नाटक में सम्प्रेषण का तत्व और भी महत्वपूर्ण होता है। लेखक द्वारा नाटक की निर्मिति और निर्देशक-अभिनेता द्वारा इसकी प्रस्तुति, इस द्वै-आयाम के कारण नाट्य कला की सम्प्रेषणीयता और भी गम्भीर हो जाती है।

सभी कलाओं में सम्प्रेषण होता है परन्तु सभी प्रकार के सम्प्रेषण में कला हो, यह आवश्यक नहीं। कारण यह कि कला में द्विविध सम्प्रेषण होता है। प्रथम भाषागत। इसमें सामान्य सम्प्रेषण होता है परन्तु इससे भिन्न भी एक सम्प्रेषण होता है और वह है प्रतीक का सम्प्रेषण। यही वह तत्व है जो कला को भाषा के अन्य प्रकारों से भिन्न कर देता है। प्रतीक की धारणा किसी न किसी रूप में सभी कलाओं से सम्बद्ध होती है, इसका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। प्रतीक-भावना से रहित कोई भी कला, कला रूप में ग्रहण नहीं हो सकती। प्रतीकों में ही कला के मूल्यों का सम्प्रेषण निहित रहता है।

कला-प्रक्रिया का विवेचन करते समय हमने कला के संचय-गुण पर भी जोर दिया है। 'सचय' से तात्पर्य है कि कवि या कलाकार की अनुभूतियां तभी भोक्ता का विषय बन पाती हैं जब वह इन्हे किसी कला रूप में संचित (accumulate) कर अभिव्यक्त करे। इसे भावनाओं को आकार (Form) देना या सज्जित (Configurt) करना भी कहा जा सकता है। सर्जक की विचारधारा तथा अनुभूति का रंग-रेखा, शिल्प-आकृति शब्द-लय आदि द्वारा समाज के समक्ष पहुंचने में ही सार्थकता है। कला मानव संस्कृति में किस प्रकार योग देती है, किस प्रकार वह संचार का सर्वोत्तम साधन है और कैसे वह समाज के समक्ष मूल्यों को आदर्श रूप में प्रस्तुत करती है, यह विभिन्न कलाओं के रूप और प्रकृति पर निर्भर रहता है।

हीगेल का कला सिद्धांत

हीगेल का कला सम्बन्धी सिद्धांत 'द्वंद्वादी प्रक्रिया' (Dialecti-cal Process) पर आधारित है जिसके अनुसार प्रगति के लिए परस्पर विरोधी तत्वों का मिलन अनिवार्य है। भाव (Idea) जो कि विकास की प्रक्रिया का आधार है, अपने को तीन अवस्थाओं (Moments) —स्थापना (Thesis), प्रतिस्थापना (Antithesis) और

समन्वय (Synthesis) में प्रकट करता है। हीगेल ने भाव के अभिव्यक्तिकरण की तीन अवस्थाओं के अनुसार ही अपने दर्शन का विभाजन तर्क (Logic), प्रकृति (Nature) और मन (Mind) के वर्गों मे किया है। इस प्रकार भाव की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम तर्क में होती है। जो सूक्ष्म विशुद्ध विचार भर है। पर विचार अपनी आंतरिक आवश्यकता से अपने ही विरोध की ओर बढ़ता है और अपनी बहिर्मुख दशा में अनेक वस्तुओं में खण्डित होकर प्रकृति के रूप में अभिव्यक्त होता है। पर प्रकृति भी भाव की अधूरी ही अभिव्यक्ति है और वह अपनी बहुदशा का विरोध करके जड़ प्रकृति, जीव और अन्त में मानव, जहां मन स्थूल से पूर्णतया छुटकारा पा जाता है– व्यक्त होता है। हीगेल मन के विकास मे भी ३ अवस्थायें मानता है–भाव प्रधान (Subjective) वस्तु प्रधान (Objective) और परम (Absolute)। भाव प्रधान अवस्था में मन के विकास की अवस्था को पार करता हुआ अंत में स्वतंत्र मन (Free mind) की गति को प्राप्त करता है। यही स्वतंत्र मन जब बाह्य जगत में अभिव्यक्त होता है तो नैतिक प्रगति का रूप धारण कर लेता है और राष्ट्रीय नियम नैतिक नियम एवं सामाजिक नियमों में अभिव्यक्त होता है। विकास के अंतिम चरण में जो कि मन की परम अवस्था है, मन अपने को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने में सफल होता है और कला, धर्म तथा दर्शन के अंतिम चरण पार करता है। इस प्रकार हीगेल कला को 'परम मन के विकास में, जिसमें भाव अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है, एक चरण मानकर उसे उच्च स्थान देता है। कला इस प्रकार आधिभौतिकसत्ता को व्यक्त करने का माध्यम है। कला-कृतियां भाव (Idea) की अपने से बाहर विकास की द्योतक हैं, जब तक कि वह अपने पूर्ण अभिव्यक्ति धर्म को पूरा नही कर लेती।

हीगेल कला का विभाजन भाव के विकास के अवस्थाओं के अनुसार प्रतीकवादी (Symbolic), शास्त्रीय (Classical) और रोमानी (Romantic) वर्गों मे करता है। अपने प्रतीकवादी रूप में भाव भौतिक आकृतियों में अभिव्यक्त होने के लिए असफल संघर्ष करता है। हिन्दू तथा अन्य धर्मों में देवी देवताओं की मूर्तियों को इसका उदाहरण बताया है। यहां भाव तथा आकृति की विषमता रहती है जिसके फलस्वरूप भौतिक

आकृतियों में भाव का अभिव्यक्तिकरण भद्दा और बेडौल रहता है। हीगेल का यह विचार पर्याप्त आलोच्य है। शास्त्रीय कला में भाव और आकृति की विषमता दूर हो जाती है और बाह्य आकृति एवं अंतर्वस्तु में सामञ्जस्य हो जाता है। क्योंकि मानवीय आकृति मन को सबसे अच्छी तरह प्रकट करती है अतएव मानवीयकरण कला के शास्त्रीय रूप की सबसे बड़ी विशेषता हैं। हीगेल ने यूनानी देवताओं की मूर्तियों को शास्त्रीय कला का उदाहरण माना है। किन्तु मन जो कि भाव प्रधान होता है, किसी भी शारिरिक आकृति में अपनी निर्बाध अभिव्यक्ति नहीं कर सका और इस प्रकार शास्त्रीय कला के विरोध में रोमानी कला की सृष्टि होती है जिसमें भाव का आधार भौतिक वस्तु न होकर स्वयं चेतन भाव-प्रधान बुद्धि बन जाती है।

तत्पश्चात हीगेल रहित ललित कलाओं का विभाजन (१) वास्तुकला (२) मूर्तिकला, (३) चित्रकला, संगीत और काव्य में करता है। वास्तु-कला का निर्माण स्थूल पदार्थ (Matter) से होता है जिसमें भाव अपने को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहता है। पर वास्तुकला स्थूल वस्तु को विवेक के अनुसार सुडौल आकृति देने का प्रयत्न करती है और प्रकृति की उग्रता से बचाने का साधन बनती है। इस प्रकार ईश्वर के मंदिर का निर्माण हो जाता है जहाँ भक्तजन एकत्र हो सकते हैं। मूर्तिकला हीगेल के अनुसार शास्त्रीय कला का मुख्य नमूना है यहां स्थूल वस्तु को चेतन मन (Spirit) के अनुरूप मानव आकृति में ढाला जाता है। इस प्रकार भाव और एन्द्रिक आकृति में सामञ्जस्य हो जाता है। चित्रकला, संगीत और काव्य हीगेल के अनुसार रोमानी कला के अन्तर्गत आते हैं। यहाँ कला कृति का आधार स्थूल पदार्थ न होकर भाव अपनी गतिशील अवस्था में होता है। इसमें मूर्ति में अभिव्यक्त भाव की एकता अनेक व्यक्तियों के अन्तर्गत विभक्त हो जाती है जो कि रंग, ध्वनि और शब्दों के माध्यम के द्वारा चित्रकला, संगीत कला और काव्यकला में व्यक्त होती है।

हीगेल चित्र, संगीत और काव्यकला के स्तर में भी भेद करता है। चित्रकला का आधार रंगों में प्रस्फुटित दृश्य जगत है। मूर्तिकला में चित्र-कला का यह आधार अधिक सूक्ष्म है, क्योंकि वह भार (Mass) और दिशा (Space) से स्वतंत्र एक स्तर मात्र है। चित्रकला में वे सब

विचार और भावनायें जो मानव मन में उठती है, व्यक्त की जाती हैं।

चित्रकला के बाद रोमानी कला के अन्दर संगीत कला का स्थान आता है। यह चित्रकला से उच्चतर रोमानी कला है क्योंकि उसका आधार जो कि ध्वनि है, वह पदार्थ से पूर्णतया मुक्त केवल स्मृति में रहने वाला सूक्ष्म तथ्य है। अंत में काव्य का आधार जो कि कलात्मक कल्पना है, अपने को पदार्थ से पूर्णतया मुक्त कर लेता है। काव्य का जगत् विचारों और भावनाओं का अन्तर्जगत है। इस प्रकार काव्य रोमानी कला की अंतिम परिणति है। चूंकि कल्पना सभी कलाओं में आवश्यक है अतएव काव्य को हम समस्त कलाओं से ऊपर विस्तृत कला भी कह सकते हैं। संगीत में ध्वनि प्रधान होती है। कविता में शब्द। ध्वनि निरर्थक होती है, शब्द सार्थक। कविता सार्थक शब्द द्वारा हमारी समस्त इन्द्रिय चेतना को जगाती है। हम उसे केवल पढ़ते (रूप) अथवा सुनते (शब्द) ही नहीं, वरन् उसके सुरुचिपूर्ण सौंदर्यबोध (रस) से भावविथियों को सुरभित कर देने वाली सूक्ष्म उद्भावनाओं (गंध) और परम मन से तार-तार झंकृत कर देने वाली प्रेषणीयता (स्पर्श) से निरंतर स्पंदित होते रहते हैं। डा० राधाकमल मुकर्जी का भी यही मत है कि "कोई भी कला कृति प्रत्यक्ष रूप से हृदय या श्रव्य जगत् की मार्मिक अनुभूतियों को इतने स्पष्ट रूप से परिलक्षित नही कर सकती है जितनी कि कविता। इस प्रकार प्रकृति के उपकरणों और उसके रूप-रंग में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। यह वस्तुतः प्रकृति और मानव के विभिन्न तत्वों और तथ्यों के सामंजस्य का अनुपम प्रयोग है।"[9] दृश्य काव्य के रूप में नाटक एक ऐसी कला है, जिसमे संगीत, नृत्य, शिल्प और चित्र, सभी का संयोजन रहता है, इसीलिए नाट्य कला जैसी सार्वजनीनता अन्य कलाओं में नहीं है। नाट्य कला भिन्न-भिन्न रुचियों के दर्शकों में बिना प्रयास ही जिस प्रकार प्रियता प्राप्त करती है, वैसा अन्य कलाओं में संभव नही है। अन्य कलाओं मे माध्यम बदलने से ही कला रूप और उसका सिद्धांत बदल जाता है।

सौंदर्यवादी समाजदर्शन और कला

कला रूपों के तारतम्य एवं उत्कर्षापकर्ष के आधार पर पश्चिम में कला के अध्ययन की प्रणाली को सौंदर्यमूलक समाज-दर्शन कहा गया है। इस

परम्परा के विचारकों ने नए सौंदर्यवादी इतिहास दर्शन की उद्भावना की, जो तत्वत: सांस्कृतिक चक्रवाद की ही एक शाखा प्रतीत होता है। इस परम्परा के महत्वपूर्ण व्याख्याकार लिजेटी के अनुसार संस्कृति की बाल्यावस्था में स्थापत्य-कला, परिपक्वावस्था में मूर्तिकला एवं जीर्णावस्था मे चित्रकला का साम्राज्य होता है। अतएव योरप के मध्यकाल में स्थापत्य-कला नवजागरण काल में मूर्तिकला तथा आधुनिक काल में चित्रकला का प्राधान्य देखने को मिलता है। उसी प्रकार मिश्र जैसी प्राचीनतम संस्कृतियाँ स्थापत्यकला प्रधान, यूनान और रोम जैसी संस्कृतियाँ मूर्तिकला-प्रधान तथा यूरोप जैसी आधुनिक संस्कृतियाँ चित्रकला-प्रधान हैं।

सौंदर्य मूलक समाज दर्शन के अनुसार कला एवं संस्कृति के अन्य पक्षो के बीच अन्योन्य संबंध है। कला संस्कृति का बैरोमीटर (वायुभार मापक यन्त्र) है। लिजेटी के अनुसार स्थापत्यकला की अवस्था में संस्कृति में एक प्रकार की ताजगी, सामूहिकता की ओर झुकाव, कर्मठता, आदर्शवादिता, श्रद्धावादिता, आध्यात्मिकता, कृषि, हस्तकला जैसे गुणों का प्रधान्य होता है; जब कि चित्रकलात्मक अवस्था में पतनोन्मुखता, स्त्रैणता, व्यक्तिवादित इंद्रिय परायणता, भोगवादिता, उपयोगवादिता, बुद्धिवादिता, वैज्ञानिकता, वाणिज्य, मशीन एवं भौतिकता का साम्राज्य होता है। मूर्तिकलात्मक अवस्था में इन द्विविध प्रवृत्तियों का समन्वय देखने को मिलता है।

हीगेल का उपरोक्त कला सिद्धांत भी इस सौंदर्यमूलक समाज दर्शन का एक रूप है।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री पी. ए. सारोकिन (Pitirim A. Sorokin) ने इतिहास दर्शन में सौंदर्यवादी समाज दर्शन को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। सारोकिन ने कलागत परिवर्तन को सांस्कृतिक परिवर्तन का अनुगामी मानते हुए कला, संस्कृतियों एवं व्यक्तित्वों को चार वर्गों में विभाजित किया है—(१) प्रत्यक्षवादी (Sensate) कला जो प्रत्यक्ष इंद्रियगोचर विषयों का चयन करती है, जैसे युद्ध, आलिंगन, चुम्बन आदि। इसकी शैली प्रकृतिवादी या यथार्थवादी होती है और इसका प्रयोजन है ऐन्द्रिक आनन्द प्राप्त करना। (२) परोक्षवादी अथवा परलोकवादी कला जो अतीन्द्रिय अथवा विज्ञानातीत सत्ताओं को विषय बनाती है जैसे ईश्वर-

राज्य, देवता, मोक्ष आदि। इसकी शैली प्रतीकात्मक होती है और इसका प्रयोजन होता है मनुष्य को परोक्ष सत्ताओं का साक्षात्कार कराना। (३) अध्यात्मवादी (Idealistic) कला जो प्रत्यक्ष एवं परोक्ष के बीच की अवस्था से सम्बन्ध रखती है। यह लोक से विमुख न होकर लोक में ही पर-लोक की अवतारणा करके लोक को पूर्ण करने की चेष्टा करती है। जीवन का उन्नयन, उदात्तीकरण, एवं रूपांतरण ही इसका लक्ष्य है। (४) समाहारात्मक अथवा अनेकीकृत कला—यह उपर्युक्त त्रिविध कलाओं की खिचड़ी है।

प्राचीन हिन्दू, मिश्र अथवा चीनी कला परोक्ष-परलोक प्रधान और क्रीट-मिनोआ और क्रीट-मिसोनिया की कलाएँ प्रत्यक्षवादी रही है। इसी प्रकार यूनान में नवीं से छठवीं शताब्दी ई० पू० के बीच की कला परोक्ष प्रधान रही, किन्तु पाँचवी और चौथी ई० पू० की कला अध्यात्म-प्रधान हो गई। इसी प्रकार पाँचवीं से बारहवीं शताब्दी ई० तक परोक्षवादी कला फूलती-फलती रही, तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में उसका रूप अध्यात्मवादी हो गया और पन्द्रहवीं से बीसवी शताब्दी ई० के बीच प्रत्यक्षवादी कला का जोर हो गया। अब इस प्रत्यक्षवादी कला का अंत हो रहा है और आज यूरोपीय कला समाहारात्मक होती जा रही है। आधुनिकतावाद, भविष्यवाद, अतियथार्थवाद आदि इसके उदाहरण है।

इन चार कोटि की कलाओं के अनुरूप चार प्रकार के व्यक्तित्व, चार प्रकार के समाज और चार प्रकार की संस्कृतियाँ होती हैं। प्रत्यक्षवादी कला का विकास एवं परिपाक प्रत्यक्षवादी संस्कृति में और इसी तरह अन्य का भी सह-विकास होता है। इस प्रकार कलागत परिवर्तन सदा सांस्कृतिक परिवर्तन के अनुगामी होते हैं। प्रत्येक प्रकार की कला का उद्‌भव, विकास, परिवर्तन एवं पतन उसकी आधारभूत संस्कृति, समाज एवं व्यक्तित्व के उद्‌भव विकास, परिवर्तन एवं पतन का अनुसरण करता है।

कला और उपयोगितावाद

कला का उपयोगितावादी स्वरूप क्या है, यह भी चर्चा का विषय रहा है। किसी भी वस्तु, विचार अथवा कार्य का महत्व आँकने के लिए उपयोगिता की कसौटी बहुत दिनों से चली आ रही है। किसी काल विशेष

के सामाजिक मूल्यों के अनुरूप ही उपयोगिता के प्रतिमान भी बदलते रहे हैं, पर उपयोगिता का सिद्धांत अक्षुण्ण रहा है। उपयोगितावाद को कला-विवेचन में 'सोद्‍देश्यतावाद' की भी संज्ञा दी गई है और इसका विरोधी सिद्धांत 'कला कला के लिए' अथवा कलावाद के रूप में उपस्थित किया गया है, जिसका विवेचन आगे किया जायगा।

कला के सम्बन्ध में उपयोगितावाद (Utilitarianisum) शब्द का प्रचार १६ वीं शताब्दी मे यूरोप में हुआ। यूरोप में यह अठारहवी शताब्दी के वायवी आदर्शवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आया। इसके प्रयोक्ता वेन्थम (Bantham), आस्टिन (Austin), मिल (Mill) आदि व्यक्तिवादी दार्शनिक थे। उनके अनुसार राजनीतिक संस्थाएँ, राज्य की नीतियां आदि किसी आदर्श एवं काल्पनिक मानवीय अधिकारों एवं कर्तव्यो के लिए नहीं हैं, उनकी महत्ता मानवीय सम्बन्धों की एक निश्चित, स्थिर उपयोगिता के लिए सहायक होने में है। इसके अनुसार समाज के नियंत्रण का एक मात्र आधार 'सर्वाधिक संख्या का अधिकतम सुख' होना चाहिए। इस दृष्टि से यह कला के व्यक्तिवादी स्वरूप की स्थापना करता है। इसके सिद्धांत के अनुसार सामाजिक नियंत्रण अत्यन्त सामान्य और लोचदार होना चाहिए तथा मुक्त व्यापार, पेशे की स्वतंत्रता, व्यापार के क्षेत्र में अबाधित प्रतियोगिता, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा अन्य व्यक्तिवादी सुधारों की मांग को बल प्रदान करता है। उपयोगितावादी विचारधारा के इस व्यक्तिवादी सिद्धांत के विकास की परिणति होती है समाजोन्मुख विचारधारा मे मिल (Mill)) ने यह अनुभव किया कि व्यक्ति की निरपेक्ष स्वतंत्रता सर्वाधिक संख्या के अधिकतम सुख के विपरीत जाती है। अन्ततः उसे सामाजिक उपतोगिता को श्रेष्ठ स्थान देने के लिए विवश होना पड़ा। समाज-वादी विचारधारा की पृष्ठभूमि में उपयोगितावादी दर्शन का गहरा हाथ है। समाजवादी विचारधारा के ही चरम रूप 'मार्क्सवाद' में सर्वहारा वर्ग को मिली श्रेष्ठता के अनुरूप उपयोगिता की कसौटी भी इसी वर्ग का कल्याण हो गयी। उन्होंने कला को वर्ग युद्ध का अस्त्र माना और विचारों के प्रचार का साधन स्वीकार किया। इस प्रकार कला एवं साहित्य की उपयोगिता को सामाजिक संघर्ष एवं विकास के साथ जोड़ दिया गया।

परन्तु साहित्य और कला सम्बन्धी उपयोगितावादी दृष्टिकोण नया नहीं है। किसी न किसी रूप में उपयोगिता का प्रश्न साहित्य और कला के साथ हमेशा सम्बद्ध रहा। संस्कृति के शास्त्रकार भामह ने काव्य के तीन उद्देश्य माने थे–शास्त्र विज्ञान, आनन्द और कीर्ति। रुद्रट ने भी यश, इष्ट की प्राप्ति, पुरुषार्थ सिद्धि, आदि को काव्य का प्रयोजन माना है। कुन्तक के अनुसार 'काव्य हृदय को प्रभावित कर कर्तव्याकर्तव्य का सरस विश्लेषण किया करता है।' काव्य से रस प्रतीति और रस प्रतीति से जीवनादर्शों की ओर प्रगति होती है। मम्मट ने 'रसरूप काव्य प्रयोजन' को और विस्तृत रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने काव्य के छः प्रयोजन माने हैं— यशप्राप्ति, अर्थलाभ, आचारज्ञान, अमंगल-निवारण, रस या आनन्द और सरस उपदेश। इनमें से कवि के प्रयोजन प्रथम चार हैं और कवि और भोक्ता दोनों के अन्तिम दो। आधुनिक युग में रामचन्द्र शुक्ल ने भी काव्य का उद्देश्य लोक-मंगल और आत्म विस्तार माना है।

पश्चिमी काव्यदर्शन में भी उपदेश से सम्बन्धित उपयोगिता को प्रमुख स्थान मिला है। ग्रीस में प्लेटो (Plato) के समय से ही यह प्रचलित है कि काव्य का पहला कार्य शिक्षा देना है। शिक्षा के क्षेत्र में भी काव्य का महत्वपूर्ण स्थान था, क्योंकि ऐसा विश्वास था कि उससे बच्चे देवी-देवताओं के बारे में जानेंगे। काव्यचरित्र अनुकरण योग्य होते हैं तथा सैन्यसंचालन जैसे अनेक विषय होमर (Homer) द्वारा प्रशंसनीय ढंग से बताए गए हैं। इस शिक्षक-दृष्टि का विरोध भी देश में कम नहीं हुआ। प्लेटो ने स्वयं संकेत किया कि देवता बहुधा चरित्रहीन होते हैं। अरस्तु (Aristotle) ने भी काव्य के सौंदर्य बोध वाले पक्ष पर अधिक बल दिया है। पर होरेश (Horace) ने कला के उपदेश वाले पक्ष को महत्व-पूर्ण सिद्ध किया है। उसने कहा कि 'काव्य शिक्षा देता है, आनन्द देता है, या कि दोनों करता है।' लूक्रेसिस (Lucrecic) ने भी काव्य के उपयोगितावादी दृष्टिकोण को ही प्रधानता की है।

आगे आकर रस्किन (Ruskin) ने तो काव्य को मुख्य रूप से उपदेश प्रधान माना है। उसके अनुसार आनन्द तो 'गौण उत्पादन' (By Product) है, मुख्य बात तो धर्म-भावना को तीव्र करना, नैतिक

स्वर को पूर्ण बनाना और भौतिक सेवा करना है। टाल्सटाय (Tols-toy) ने भी काव्य के नैतिक और धार्मिक पक्ष पर जोर दिया है।

बाद में स्थूल उपयोगितावाद में कुछ परिष्कार भी हुआ। एक तो यह विचार आया कि कला आत्मा को ऊँचा उठाती है, बगैर किसी प्रकार की प्रत्यक्ष शिक्षा का प्रश्रय लिए, और दूसरा यह विचार कि वह आत्मा के लिए रंजनकारी है, मानसिक शक्तिप्रदायिनी है। नव मानवतावादी मोर (More), इरविंग (Erwing Babitt) आदि लेखक को मानवीय नियमों के प्रति जिम्मेदार देखते हैं और ये नियम वस्तुगत नियमों से भिन्न हैं।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, उपयोगिता के रूप और प्रतिमान सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन के साथ बदलते रहे हैं। कलाओं की शैक्षिक और उपदेशात्मक उपयोगिता प्राचीन काल से मान्य रही है और किसी न किसी रूप में वह आज भी मान्य है। कला की नैतिक उपयोगिता भी स्वीकार की जाती रही है। आधुनिक युग में रस्किन, टाल्सटाय और गांधी नैतिक-आध्यात्मिक उपयोगिता के समर्थक हुए हैं। कलाएँ रंजन करती हैं, यह भी उपयोगितावादी दृष्टिकोण ही है। भारतीय काव्य-चिंतन में तो काव्य को पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति करनेवाला माना गया है। कम्युनिस्ट सिद्धांतों में ढलकर कला वर्ग युद्ध का शस्त्र बन जाती है।

कलावाद

किन्तु कला की उपयोगितावादी स्थापना के साथ ही साथ इस अमात्य कर इसके विरोध में 'कला सिर्फ कला के सर्जन के लिए' या कलावाद का भी जोर शोर से प्रचार हुआ। कलावादी विचारकों ने उपयोगितावाद को स्थूल सामाजिकता का आग्रही बताकर विरोध किया और कला को लोकातीत वस्तु कलाकार को लोकोत्तर प्राणी और कलाजन्य आनन्द को अलौकिक आस्वाद युक्त समाज निरपेक्ष अनुभूति माना है। कला के सामाजिक उपयोगितावाद के साथ ही इस विचारधारा का भी आरम्भ से ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह विचारधारा कला के दृष्टिकोण विशेष की परिचायक है जिसकी सत्ता यूरोप में प्लेटो और अरस्तू से लेकर वर्तमान समय में किसी न किसी रूप में बराबर मिलती है। भारतवर्ष में भी काव्य

के अलंकार, रीति आदि ऐसे अनेक सम्प्रदाय मध्यकाल में मिलते हैं जिन्होंने कलापक्ष को अधिक महत्वपूर्ण मानते हुए उस पर विशेष बल दिया है।

योरोपीय कला का वास्तविक इतिहास ग्रीक और रोमन धार्मिक शिल्प की परम्परा से प्रारम्भ होता है। प्लेटो और अरस्तू ने कवियों और कलाकारों के सम्बन्ध में जो धारणाएँ व्यक्त की उनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन यूनान में हेलेनिस्टिक कला में कलावादी विचारधारा पर्याप्त प्रमुखता रखती थी अन्यथा उसके सजग सामाजिक परिसीमन का कोई आधार ज्ञात नहीं होता। प्लेटो के रिपब्लिक में कल्पनाशील कलाकारों के अनियन्त्रित प्रभाव को नैतिक एवं सामाजिक दृष्टि से अवांछित माना जाता है। अरस्तू ने कला के प्रति अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण अपनाया। सौंदर्य सम्बन्धी सिद्धांतो के एक प्रसिद्ध समीक्षक बूचर का कथन है कि अरस्तू पहले विचारक थे जिन्होंने सौंदर्यशास्त्र से नीतिशास्त्र का पृथक्करण किया और यह भी बताया कि एक परिष्कृत आनन्दानुभूति ही काव्य-कला का परम ध्येय है। इतना होते हुए भी अरस्तू ने अपने गुरु प्लेटो की नैतिक सामाजिक धारणा का तिरस्कार नहीं किया। कला में नैतिक प्रयोजन और उपदेशात्मकता उन्हें अमान्य नहीं हुई। रोमन विचारक सिसरो ने भव्यता को कला का प्रधान प्रतिपाद्य माना। लोजाइनस ने मध्य मार्ग का अनुसरण किया। एक ओर उसने शिक्षा से और दूसरी ओर मनोरंजन से कला को भिन्न एवं श्रेष्ठ माना और उसे प्रेरणा के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करके उसके स्वतन्त्र मूल्यांकन का प्रश्न उठाया। भावना के उदात्तीकरण या आत्मा के विस्तार को उसने कला तथा काव्य का मुख्य ध्येय बताया। डायोनीसियस और डिमेट्रियस आदि अन्य रोमन आचार्यों ने कलावादी वृत्ति के अनुरूप शैलीपक्ष पर ही अधिक बल दिया। एक विस्तृत व्यवधान के बाद दांते ने पुनः कला के क्षेत्र में उदात्त-गुणों की नव प्रतिष्ठा की, साथ ही शैली पक्ष की भी उपेक्षा नहीं की। दांते के पश्चात यूरोपीय साहित्य में शास्त्रीय (Classical) दृष्टिकोण क्रमशः रोमाण्टिक दृष्टिकोण मे परिवर्तित होने लगा और कला सम्बन्धी मूल्यों में भारी परिवर्तन घटित हुए। कुछ दूर तक इस में भी सन्तुलित दृष्टि बनाए रखने का प्रयत्न किया गया। शास्त्रीयता का आग्रह कला के क्षेत्र से सहसा लुप्त नहीं हो गया। सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस में 'नियो-क्लैसिसिज्म' अथवा 'नव-शास्त्रवाद' की प्रवृत्ति, कला के प्रति मध्यकालीन चिंतन का नवीन संस्करण बनकर उदित हुई।

शास्त्रीय कला का सामाजिक वातावरण ईसाई धर्म था। रोम को केन्द्र बनाकर बाइजेण्टाइन कला का जो प्रसार सातवीं से पन्द्रहवीं शती ई० के बीच यूरोप में हुआ, उसका प्रसार मिश्र और रूस तक हुआ। इस 'चर्च' आश्रित धार्मिक कला में नैतिक धार्मिक मूल्यों के आगे कलागत मूल्य निश्चय ही गौण हो गए। एक दृष्टि से कला और कलाकार दोनों धार्मिक प्रचार के साधन बने। धर्म ने कला और साहित्य को पूरी तरह से आवेष्टित कर लिया था। कला कि मुक्त अनुभूतिशीलता का प्रायः अभाव हो गया।

कला के कलावादी दृष्टिकोण की इस आधार पर पर्याप्त आलोचना भी हुई कि 'कला मात्र के लिए कला की सर्जना' की बात कहना, कला की प्रकृति के प्रतिकूल है। कलाकार कला-सर्जन की अंतर्दृष्टि सामाजिक परिवेश से ही पाता है, जिसमें वह रहता है, जीता है और जो जीवन अपनी विशेष अनुभूतिशीलता के कारण देखता है उसे दूसरों को देखने के लिए चित्रित करता है। कला संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण कर स्वयं संस्कृति का अंग बन जाती है और उसी प्रकार सामाजिक स्वीकृति को आत्मसात कर लेती है जिस प्रकार धर्म, इतिहास, राजनीति आदि संस्कृति के अनिवार्य अंग समाज को आत्मसात किए रहते हैं। जिस प्रकार धर्म सिर्फ धर्म के लिए की बात नहीं कही जा सकती उसी प्रकार 'कला कला के लिए ही' की बात भी कोई अन्तर्भूत अर्थ नहीं रखती। मनुष्य एक सृजनात्मक प्राणी है, इस गुण के कारण उसके चतुर्दिक कोई वस्तु ऐसी नहीं जिसका उसके लिए कहीं स्पष्ट सामाजिक या मानवतावादी उद्देश्य न हो। कला की प्रकृति पर विचार करने से ज्ञात होता है कि मनुष्य ने जब जीना ही नहीं वरन् अच्छी तरह जीने का प्रयास आरंभ किया तो उसे अपने जीवन को—रहन-सहन और आचार-विचार को सुन्दर बनाने, सज्जीकृत (Configurate) करने की प्रेरणा जागृत हुई। इसी प्रेरणा के विभिन्न रूपों ने विकास पा कर कला को जन्म दिया। जीवन-रक्षा के लिए झोपड़ी और भवन बनाना, प्राकृतिक प्रकोपों से बचने के लिए प्रकृति, देवात्मा आदि को खुश करने के लिए गीतों की रचना और प्रार्थना करना, मनोरम दृश्यों और उनके प्रति होनेवाली अनुभूति को चित्राकार रूप देने आदि की रचनात्मक भावना मनुष्य की सामाजिक भावना के साथ सम्बद्ध है। अतः इस प्रकार हुई कला

सर्जना को समाज निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। स्वयं कला की सर्जना भी अपने साथ यह एक मूल भावना लेकर होती है कि कोई उसे देखे, सुने या पढ़े। अर्थात प्रत्येक कला का श्रोता, दर्शक या पाठक होता है। प्रसिद्ध विचारक जॉन डिवी (John Dewey) का कथन है, "कोई भी कला किसी समूहगत या सामाजिक आवश्यकता से उद्भूत होकर अन्त तक उससे सम्बन्धित रहती है। कलाएँ मनुष्य के उन संवेगों या विचारों को प्रतिबिम्बित करती हैं जो सामाजिक जीवन की मुख्य संस्थाओं से सम्बन्धित रहती हैं।[1] मनुष्य की कलात्मक उत्तेजना शताब्दियों के सामाजिक विकास के दौरान आज भी सापेक्षतया अविकृत और अजस्त्र है। कला का प्रत्येक सच्चा कार्य एक विशेष संस्कृति और सामाजिक वातावरण की अभिव्यक्तियों और मूल्यों का प्रकटीकरण है। प्रो० मुकर्जी ने भी 'कला कला के लिए' का विरोध किया है और कहा कि "कला न तो जीवन से पलायन है, न ही कुछ रंगों, आकृतियों, गीतों और लयात्मकता से रंजन का साधन और न ही अभिव्यन्जना की एक शैली मात्र वरन् मानव जीवन के कुछ निश्चित पहलुओं और समकालीन सामाजिक वातावरण की व्याख्या है। कला सामाजिक नियन्त्रण और निर्देश का महत्वपूर्ण साधन है जो मानव की सवेदनाओं, भावनाओं, कल्पनाओ और प्रतीकों को स्पर्श कर अपना कार्य करती है।"[2]

वस्तुतः कलावाद की स्थापना में समाज-निरपेक्षता की बात के पीछे भी कुछ ऐसे कारण है जो इसके तथ्यात्मक रूप को स्पष्ट करता है। कलावाद की धारणा को प्रश्रय देने के लिए कभी-कभी कुछ ऐसे सामाजिक कारण भी उत्पन्न हो जाते हैं जिसके कारण कलाकार को समाज निरपेक्ष होना पड़ता है और कला को सिर्फ कला सर्जन तक ही सीमित करना पड़ता है। इन कारणों का भी अवलोकन आवश्यक होगा। इसके पीछे दो स्थितियाँ कार्य करती हैं—एक तो कलाकार से सम्बन्धित और दूसरी आस्वादक अर्थात जनता और आलोचक से सम्बन्धित। जब कलाकार कोई ऐसी रचना करता है जिसे सामाजिक समझ नहीं पाते, जिसका आस्वादन नहीं कर पाते तो

---

१. आर्ट ऐज इक्सपीरिएंस, पृ० ७।

२. सोसल फंक्शन आफ आर्ट, प्रिफेस पृ० १०।

वे प्रायः यही कह कर सन्तोष कर लेते हैं कि 'जिसकी रचना है वही समझे,' 'कला का परख कलाकार ही करे,' अथवा 'कला-कला के लिए है, वह हम लोगों की समझ से बाहर है।' अतः हमसे कोई मतलब नहीं।' कभी-कभी ऐसी ही कृति के लिए यह भी कहते सुना जाता है कि 'यह तो बकवास है, पागलपन है।' वास्तव में कोई कलाकार जब ऐसी रचना करे जो केवल स्वयं कलाकार या उसकी कृति तक ही सीमित रहे, जिसमें सामाजिकों का कोई ध्यान न रखा गया हो और कोई इससे कुछ ग्रहण न कर पाए तो उपरोक्त उक्तियाँ सही ही लगती है। वस्तुतः ऐसी रचना समाज-निरपेक्ष ही कहलाएगी। कोई चित्र, संगीत, काव्य या नाटक यदि दर्शक और श्रोता के भाव का भाव न कर सका, उसे रस न प्रदान कर सका, गूढ़ पहेली मात्र ही बन कर रह गया तो वह किसके लिए रचा गया माना जाय ?

दूसरा पक्ष आस्वादकों से सम्बन्धित है जिसके अन्तर्गत जनता और आलोचक दोनों ही आते है। यह स्थिति विशेष गम्भीर होती है। ऐसी स्थिति तब उत्पन्न होती है जब सामाजिकों का किसी कारणवश सांस्कृतिक और कलात्मक पतन हो जाता है अथवा वर्ग विशेष इतना शक्तिशाली हो जाता है कि जनता की रुचि को अपनी इच्छानुसार विकृत और नियन्त्रित कर देता है। कलाकार तो सदैव समाज की हित-चिंता को ध्यान में रखकर सामाजिकों के अनुकूल कला-रचना करता है किन्तु आस्वादक की रुचि और बौद्धिक-स्तर इतना निम्न रहता है कि वास्तविक कला में आनन्द ही नहीं पाता। कोई चित्रकार यदि बड़े हस्तलाघव से किसी व्यक्ति का पार्श्वचित्र बनाए और वह व्यक्ति इस बात पर चित्रकार से झगड़ जाए कि 'तुमने इसमे मेरी एक ही आँख दिखाई है, मुझ दो आँखवाले को काना दिखाकर मखौल उड़ाया है,' तो बेचारे उस कलाकार को तरस खाकर कहना ही पड़ेगा कि 'कला कला के लिए है।' प्रायः समाज में बहुत से उच्चकोटि के कलाकारो को ऐसी ही विडम्बना का सामना करना पड़ता है।

आस्वादक से ही सम्बन्धित एक दूसरा पक्ष है जब कि आलोचक सुविज्ञ होते हुए भी किसी पूर्वधारणा अथवा समूह या सत्ता के दबाव के कारण किसी वास्तविक कला कृति की तो कटु आलोचना कर सामाजिकों के समक्ष अपनी इच्छानुसार उसकी व्याख्या कर उसे नीचा दिखाता है और किसी ऐसी कृति

को, जो कला कहे जाने योग्य भी नहीं होती, उसकी प्रशंसा का पुल बाँध देता है। ऐसी दारुण स्थिति में भी विवश कलाकार की विचारधारा व्यक्ति-मुखी हो जाती है और तब वह 'कला-कला के लिए' कहे तो उसका कोई दोष नहीं। मार्क्सवादी आलोचना इसी प्रकार के पूर्वाग्रहों से लदी रहती है और कलाकारों को अपनी विचारधारा के अनुसार बाध्य करने का प्रयास करती है। वास्तव में ये स्थितियाँ अत्यन्त गम्भीर होती हैं और इनसे समाज का सांस्कृतिक पतन लक्षित होता है। जब समाज की रुचि ही विकृत हो जाती है, सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की अवहेलना होती है समाज कलाकार की कृतियों का वास्तविक मूल्यांकन नहीं कर पाता तब कलाकार समाज से निराश हो कर (कला से नहीं) कलागत सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा के लिए ही कला की रचना करता है, उसे समाज की प्रशंसा-निन्दा की कोई चिन्ता नहीं रह जाती। ऐसी कलाकृति सामाजिक निधि होते हुए भी बहुत दिनों तक व्यक्ति विशेष के विचारों के ही रूप में प्रचलित रहती है। समाज में ऐसे कितने ही कलाकारों ने भूखे रहकर, प्राणों की आहुति देकर भी विकृत सामाजिक रुचि के अनुरूप अपनी कलात्मकता को नही मोडा वरन् उसी राह पर सदा विश्वास के साथ चलते रहे जिसमें समाज का विश्वात्मक हित देखा।

इस विवेचन से जो बात स्पष्ट होती है वह यह कि 'कला-कला के लिए' अपने रूढ़ अर्थ में कोई महत्व नहीं रखती, यह एक समाज-निरपेक्ष उक्ति है। यह स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब कलाकार के दृश्य-पटल पर समाज नाम की चीज की कोई सत्ता नहीं हो। कला की सार्थकता आस्वादक के आस्वादन में ही है। समाज ही कलाकार को उत्पन्न करता है और समाज के विभिन्न परिवेश ही कला सर्जन के प्रेरणा स्रोत होते हैं। यदि दुर्भाग्य से सच्ची कलाकृति को समाज में स्थान नहीं मिलता तो इससे कोई कलाकृति समाज-निरपेक्ष नहीं हो सकती और इस स्थिति मे 'कला-कला के लिए है' कहना सामाजिक सार्थकता रखता है। समाज में कला स्वतन्त्र संस्था के रूप में स्वस्थ कार्य तभी कर सकती है जब कलाकार, आलोचक और जनता तीनों का निर्विरोध सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, कलाकार ऐसी कला का निर्माण करता है जो आलोचक और जनता दोनों की अभिरुचि

से स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। इसे डंकन ने कला का 'स्वयं-भूत कार्य' कहा है।

उपरोक्त सम्पूर्ण विवेचन में कला की समाजशास्त्रीय स्थापना को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। हमने देखा कि क्रमश: कला-उत्पत्ति की जो प्रक्रिया है, वह समाजमूलक है। कलाकार द्वारा सामाजिक पर्यावरण से प्राप्त सौंदर्यानुभूति की कलारूपों में सृष्टि और आस्वादकों के बीच उनका सम्प्रेषण तथा भोग, सभी कुछ सामाजिक है। इस सामाजिक सृष्टि और सामाजिक भोग की सम्पूर्ण प्रक्रिया सामाजिक घटना है और इसलिए समाजशास्त्रीय अध्ययन का विषय है। इस आधार पर समाजशास्त्र ने कला के अध्ययन के लिए जो दृष्टि प्रदान की उसमें कला सम्बन्धी व्यापक विषयों को अपने भीतर समेटा और जैसा कि ऊपर के सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है। कला के समाजशास्त्रीय अध्ययन का इतिहास भी बहुत छोटा है। विचारकों ने संदर्भ रूप से ही साहित्य की ही भांति कला का भी विवेचन संस्कृति के विभिन्न रूपों के अंतर्गत किया है। किन्तु इस क्षेत्र में स्वतन्त्र और सर्वाधिक सजग ढंग का विचार डा० राधाकमल मुकर्जी ने अपनी "Social Function of Art' पुस्तक में किया है उन्होंने कला के समाजशास्त्र की रुप रेखा, कार्य-क्षेत्र और भविष्य की संभावनाओं पर विस्तार से विचार कर अध्ययन के लिए नए आधार प्रस्तुत किए हैं। इस दृष्टि से उनकी विचारधारा पर संक्षेप में प्रकाश डालना उचित होगा।

डा० मुकर्जी का मत--

कला का समाजशास्त्र अपने अध्ययन के अंतर्गत कला के विभिन्न रूपों और उसके अंगीभूत विशेष लक्षणों के सामाजिक सम्बन्धों को समाहित करता है। कलात्मक प्रक्रियाए आदर्शों और मूल्यों (Norms and Values) की अनुभूति पर आधारित हैं और इन दोनों का मूल है समाज। कला व्यक्ति की रचनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में सामाजिक मूल्यों को स्पष्ट और बहुत हद तक पुनर्निर्मित तथा निर्धारित भी करती है। मानव आकांक्षाओं और अनुभूतियों के प्रकटीकरण (Manifestations) के रूप में कला मूल्यों के प्रारूप, सामूहिक जीवन के सामान्य आदर्श और

संस्कृति से बुनी (Woven) है। कला समाज की प्रधान विचार प्रक्रियाओं, मूल्यों और आदर्शों को पुनगठित भी करती है। इस प्रकार कला का समाजशास्त्र निम्न दृष्टियों से कला का एक वस्तुपरक अध्ययन करना करता है-(अ) कला का समाजशास्त्र मनुष्य के आदर्शात्मक धरातल और उसकी मूल्यों के प्रति अपूर्व अनुभूति की वैयक्तिक चेष्टा और पूर्ति की एक अभिव्यक्ति है जो एक युग या समाज को दिशा-निर्देश, संघबद्ध और स्पष्ट करने का कार्य करती है। (ब) यह व्यक्ति के मूल्यों और भाग्य का निर्धारण करने वाले प्रधान सामाजिक मुल्यों के संचार का माध्यम है और (स) किसी सभ्यता या संस्कृति का सुरक्षित विवरण (Record) और अनुष्ठान Celebration) है, मानवता के विस्तृत सद्विवेक द्वारा निर्मित सभ्यता के जीवन और उद्देश्य का अमोघ विचार सूत्र है। कला का समाजशास्त्र कला कृति (Art Work) की सामाजिक उत्पत्ति और कार्य, कला प्रारूपों, अंगीभूत लक्षणों और कलावस्तु को निर्धारित करने वाले क्षेत्रीय (Regional), आर्थिक और सामाजिक तत्वों और शक्तियों तथा संस्कृति विशेष के संदर्भ मे उसकी आशाओं-निराशाओं और संतुष्टि के अभिप्राय की ओर केन्द्रित करता है।

प्रो० मुकर्जी ने अपनी विश्लेषण पद्धति को विशेषकर कला की आलोचनात्मक चर्चा पर केन्द्रित किया है। उनके विश्लेषण के मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं (क) कला मनुष्य के विशिष्ट भावों आशा-निराशा तथा त्रुटियों की अभिव्यक्ति का अति उत्तम (Par excellance) माध्यम है। (ख) कला चाहे जिस भी रूप-चित्रकारी, वास्तु-निर्माण या मूर्ति में हो, सामाजिक मूल्यों के विशाल क्षेत्रों को अभिव्यक्त करती है जो संचार का कोई दूसरा प्रकार नहीं कर सकता। (ग) यद्यपि कला व्यक्तिगत उपलब्धि है किंतु कला, कला के लिए है या सामाजिक मांग के विपरीत कलाकार की अपनी भावनाओं के तोष के लिए है, एक झूठा प्रचार है। कलाकार सदैव दर्शकों के लिए अपनी रचना करता है जो पहले से ही उपस्थित होते हैं या उत्पन्न कर लिए जाते हैं। (घ) इतिहास मे ऐसे अनेक अवसर आए हैं जब भारी सामाजिक उथल-पुथल ने महान कलाओं को जन्म दिया। प्रमाण के रूप मे चंद्रगुप्त द्वारा भारत के एकीकरण के लिए चलाए जाने वाले अभियान ने एक

नई कला-भूमि को जन्म दिया पाँचवीं शती मे चीन में हुए खूनी संघर्ष और लूटपाट ने एक नयी कला परम्परा को उठाया, इटली मे पुनर्जागरण काल की कला नागरिक उपद्रव, संहार तथा इटली के नगरों की भ्रष्टता से घोषित हुई :[1]

कला का समाजशास्त्र समाज में कला के उत्पत्ति-स्वरूप, प्रक्रिया और अर्थ को स्पष्ट करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस विस्तृत व्याख्या के लिए सभ्यता और संस्कृति के विश्वकोशीय क्षेत्र से परिचित होना आवश्यक होगा, फिर कला के रूप, अभिप्रेरणा और अन्तर्वस्तु के सम्पूर्ण ज्ञान के लिए आवश्यक होगा कि यह विस्तृत परिप्रेक्ष्य अपनाया जाय। ऐसे अध्ययन के लिए कला की पृष्ठभूमि में कार्य करने वाले तत्वों-धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान समाजशास्त्र, इतिहास, भूगोल, आदि सभी का अध्ययन आवश्यक होगा। कला का ऐसा ही अध्ययन यह सिद्ध कर सकेगा कि कला संस्कृति की प्रतिनिधि और उसकी मूल्यवाहक है।

धर्म, रीति-रिवाज और सामाजिक परम्पराओं की भांति कला भी समाज जाति अथवा वर्ग के हाथों में एक प्रभावशाली आकर्षक अस्त्र है जिससे वह व्यक्तियों के विचार, अभिप्रेरणाओं और जीवन के प्रति दृष्टिकोण को इच्छित दिशा में मोड़कर नया सामन्जस्य प्रदान कर सकती है कला नैतिकता का बोझ डालकर मूल्यों का सम्प्रेषण नहीं करती वरन् प्रतीकों द्वारा भावपूर्ण मर्मस्पर्शण कर मानव सम्बन्धों के मूल्यों का प्रसार करती है।

प्रो० मुकर्जी ने इस प्रकार कला के समाजशास्त्र के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्यों की स्थापना की है। किन्तु समस्या पुनः वहीं आकर रुकती है जब कला-कार्य के विश्लेषण के लिए अध्ययन पद्धति का प्रश्न उठता है। समाज में कला के महत्व और सम्बन्ध की बातो पर सभी क्षेत्र मे अच्छी संस्थाएं हुई हैं। लेकिन इन सम्बन्धों का पता लगाने तथा कला के समाज पर प्रभाव के अध्ययन की पद्धति के सम्बन्ध में समाजशास्त्रीय दृष्टि से अभी तक किसी ने कुछ नहीं कहा है। यह समस्या साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की ही

---

१ सोसल फंक्शन आफ आर्ट, पृष्ठ ३०-३८।

भांति है। अतः इसका हल हम उसी रूप में ढूंढ़ सकते हैं। साहित्य एक कला रूप है, और साहित्य की अध्ययन पद्धति से भिन्न कला की अध्ययन पद्धति नहीं हो सकती। यह अवश्यक है कि विभिन्न कला रूपों मे अभिव्यक्ति आयाम के भेद के कारण सभी के अध्ययन के लिए एक सी पद्धति नहींहो सकती लेकिन अध्ययन की समस्याएं सभी मे प्रायः एक सी ही होंगी।

वस्तुतः अभी तक समाजशास्त्र में स्थूल भौतिक आंकड़ो के विश्लेपण द्वारा ही किसी समाज का अध्ययन किया जाता रहा है। जो कुछ भौतिक, स्थूल, अवलोक्य, बाह्य और तथ्यगत है, समाजशास्त्री केवल उन्हीं का अध्ययन कर संतुष्ट हैं। लेकिन इस सीमा पर सन्तोष कर लेने से वैज्ञानिकता का विस्तार कुंठित होता है। इस तथ्य को अब स्वीकार किया जा रहा है और इसके कारण समाजशास्त्र में ऐसी प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित हो रही हैं जो मानव व्यवहार के सूक्ष्म और पूर्ण अध्ययन के लिए उसके चेतनागत, कल्पना-मूलक और प्रतीकात्मक आयामो से आँकड़ प्राप्त करने का प्रयास कर रही हैं। समाजशास्त्र तथा कला और साहित्य दोनों ही मानव के विशेष (सामाजिक) सम्बन्धों का विवेचन और चित्रण करते हैं। अतः दोनों के पास मानव जीवन के विश्लेपण की सामग्री है। सामाजिक जीवन की सामग्री और आँकड़ों के विश्लेपण का काम समाजशास्त्र का है। समाजशास्त्र में अभी तक कला और साहित्य के अध्ययन द्वारा मानव समाज के व्यापक विश्लेपण का कार्य नहीं हुआ है। जब कि वास्त-विकता यह है कि मानव का समस्त सामाजिक व्यवहार उसकी मान-सिक चेतना के विभिन्न रूपों से ही प्रेरित होता है। इस कारण उसका समस्त व्यवहार प्रतीकात्मक होता है। मानव के प्रतीकात्मक व्यवहारों की चरम उपलब्धि साहित्य तथा विभिन्न कलाएँ हैं। अतः मानव व्यवहार को विस्तार से समझने के लिए इनका अध्ययन आवश्यक है। साहित्य और कला के समाजशास्त्रीय अध्ययन की बात उठा कर यह नहीं कहा जा सकता कि साहित्यिक अथवा कलात्मक अंतर्दृष्टि को मानव व्यवहार के वैज्ञानिक अध्ययन का विकल्प बनाया जाय। बात सिर्फ इतनी ही है कि कला और साहित्य तथा समाजशास्त्र दोनों ही सामाजिक जीवन का चित्रण अध्ययन

दोनों के परस्पर सहयोग से व्यापक परिणाम प्राप्त हो

मानव जीवन के विभिन्न क्रिया व्यापारों का चित्रण है। चेतना में उठे तनाव को दृश्यों, घटनाओं, पात्र, कथानक तीकात्मक आयाम में प्रस्तुत करता है। ये प्रस्तुतीकरण या ठक या भोक्ता के समक्ष वक्तव्यों (Records and ts) के ऐसे सम्प्रत्यय हैं जिनमें वह अपने व्यवहारों को कृत करने का प्रयास करता है। वक्तव्यो के ये सम्प्रत्यय ही सामग्री हैं जिनका संकलन और समुचित वर्गीकरण कर का विशेष समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जा सकता है। अभी तक क्षेत्रावृत अध्ययन (Field Study) या गया है और उसी को वैज्ञानिक माना गया। इसीकारण व्यक्ति के आयामों के अध्ययन की उपेक्षा हुई। समाजशास्त्र मिल सकती है जब कि उसमें क्षेत्रावृत और पुस्तकालयावृत अध्ययनो से निष्कर्ष प्राप्त किए जाएं। किसी समाज की गीता से साहित्य और कला को घटाया नहीं जा सकता। को समाज की कला कृतियों में ही ढूंढा जा सकता है।

६

नाटक की समाज संवेद्यता

⊙

मानवशास्त्रियों ने संगीत, काव्य एवं नाटक के बीज आदिम जाति की उन कर्मकाण्डीय पद्धतियों में ढूढ़े हैं जिन्हें 'टोटम' (Totem) के नाम से अभिहित करते हैं। अफ्रिका, पोलिनेशिया, न्यूजीलैंड आदि की आदिम जातियाँ समय-समय पर एकत्रित होकर सामूहिक गान, नृत्य तथा अभिनय करती आज भी देखी जाती हैं; यही गान और नृत्य धीरे-धीरे सभ्य जाति में परिष्कृत होकर एक ओर संगीत और दूसरी ओर काव्य तथा तीसरी ओर नाटक का रूप धारण कर लेते हैं। आदिम जातियों का समाज ज्यों-ज्यों विकास की ओर बढ़ता है त्यों-त्यों उनका 'जादू' भी धर्म के रूप में विकसित होने लगता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारकों ने इसका कारण आर्थिक परिस्थिति का विकास माना है। जब यायावर और अव्यवस्थित आदिम समाज कृषि के अन्वेषण से व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने लगता है तो उसके जीवन में एक अपूर्व गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है और वह आदिम युगीन जादू, जिसमें मूलत: धर्म के बीज विद्यमान थे, धर्म का रूप धारण कर लेते है। इस तरह संगीत और नृत्य धर्म के भी अंग बन बैठते हैं। कर्मकाण्ड मे संगीत तथा नृत्य का समुचित विनियोग होता है। इसी कर्मकाण्डीय संगीत से एक ओर काव्य और दूसरी ओर नृत्य से भावाभिनय के रूप मे नाटक का जन्म हुआ। संस्कृत या भारतीय नाटकों का बीज वैदिक कालीन नृत्यों और काव्यात्मक संवाद में निहित है, जो वैदिक धर्म या कर्मकाण्ड का एक अंग था। यूनान में भी डायोनिसस या बैकस देवता के प्रति किए जानेवाले कर्मकाण्डों से नाटक की उत्पत्ति हुई।

इसका अर्थ यह हुआ कि बहुत समय से नाटक का अध्ययन जिस रूढ साहित्य-परम्परा के ही साथ सम्बद्ध था उसमें परिवर्तन आया। नाटक की विस्तृत समाज संवेद्यता ने इसे विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन का

भी विषय बना दिया। नाटक के स्वरूप, उत्पत्ति और विकास के व्यापक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखने पर ज्ञात होगा कि नाट्यकला केवल साहित्य-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है और न ही इसके मूल का संयोजन साहित्य की अन्य विधाओं के साथ बैठाया जा सकता है। उपन्यास, कहानी, महाकाव्य, गीतिकाव्य, और निबंधादि का अध्ययन केवल साहित्यिक मानदण्डों के आधार पर किया जा सकता है परन्तु नाटक का नहीं। नाटक एक विस्तृत परिवेशपूर्ण कला है और इस पर साहित्य का बोझ होने के बावजूद यह एक स्वतंत्र कला है। इसका व्यापक और सही अध्ययन, धर्म, मनोविज्ञान, भाषाविज्ञान, मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास तथा संस्कृति के संदर्भ में ही पूर्णता प्राप्त कर सकता है। इस व्यापक परिप्रेक्ष्य के कारण नाट्यकला के सिद्धान्तों का अन्वेषण अधिक रोचक, पर साथ ही अधिक कठिन हो जाता है। इस पुस्तक में साहित्य की समाजशास्त्रीय स्थापनाओं के संदर्भ में नाट्य-कला के अध्ययन को विशेष रूप से इसलिए चुना गया है कि एक विशेष कला-रूप के अध्ययन में समाजशास्त्र किन आयामों को ग्रहण कर चलता है, यह स्पष्ट हो सके। नाटक के प्रस्तुतीकरण का अपना एक सबल शास्त्रीय पक्ष है और निश्चय ही हम समाजशास्त्र की अपनी सीमा में उस पर भी कई अंशो में विचार कर सकते हैं लेकिन वस्तुतः समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए नाटक की अंतर्वस्तु से हम उन तत्वों, उन स्थलों को ढूंढ़ने का प्रयास करेंगे जो हमारे अभीष्ट अध्ययन में सहायक हो सकते हैं।

किसी भी कला का अध्ययन करने के दो पक्ष हो सकते हैं। एक तो यह कि उसके विकास को देखा जाय, दूसरे यह कि उसकी प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाय। स्वभावतः ही पहले में उस कला के इतिहास का विवेचन होता है, और दूसरे में उसके व्यावहारिक पक्ष का। नाट्य कला के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए हम दोनों ही पक्षों का अध्ययन करेंगे।

नाट्यकला के विकास का स्वरूप—

नाट्यकला के विकास का संक्षिप्त स्वरूप हमने आरम्भ के विवेचन में देखा। समाज वैज्ञानिकों ने नाटक का मूल आदिम जातियों की कर्म-काण्डीय क्रियाओं और बाल-मनोविज्ञान में ढूंढ़ने का प्रयास किया

है। नाट्यकला का सबसे प्राचीन रूप भारत और यूनान में देखने को मिलता है। इन दोनों संस्कृतियों में नाटक के आदि-रूप को ढूँढ़ने पर यही निष्कर्ष सामने आता है कि मनुष्य ने अपने सामाजिक जीवन के विकास की शृंखला में प्राकृतिक संघर्षों से बचने के लिए जादू-टोना, कर्मकाण्ड, प्रेतात्मा-देवात्मा की उपासना को सबसे पहले ग्रहण किया। उसी में सभी क्रियाएं निश्चित संकेतों और प्रतीकों के माध्यम से सम्पन्न होती थीं। भय, रक्षा, संगठन आदि की भावनाओं का अर्थारोपण नृत्य, गीत और लयपूर्ण क्रियाओं में अभिव्यक्त कर भौतिक और मानसिक तनाव से बचने का प्रयास किया। इस प्रयास की उसने परम्परा बनाई और इस परम्परा ने ही विभिन्न कलाओं को जन्म दिया। (प्रथम अध्याय में ही हम बता आए हैं कि साहित्य और अन्य कलाएं परम्पराएं है)। उपरोक्त धारणा को निश्चयात्मक ढग से स्थापित करने का कारण यह है कि आज भी आदिम समाजों में कलाओं का विकास बहुत कुछ ऐसे ही देखा जाता है। आरम्भ से ही इस परम्परा को परिष्कार और महत्व प्रदान करने का प्रयास किया गया जिसके कारण विशेष अवसरों (धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर ही उस समय विशेष अवसर थे) के साथ इन्हें बद्धमूल सा कर दिया, उद्देश्यपूर्ति से सम्बद्ध कर दिया गया।

नाटक के विकास अथवा उत्पत्ति के सम्बन्ध म मुख्यतया दो प्रचलित मत है। पहला यह कि नाटकों का उदय धार्मिक कृत्यों से हुआ और दूसरा यह कि उनका उदय लौकिक और धार्मिक कृत्यों से हुआ। परन्तु यह भेद करते समय विचारक भूल जाते हैं कि प्राचीन समाजों में धार्मिक, सामाजिक और लौकिक कृत्यों में कोई भेद नहीं था। वहां एक के बिना दूसरे की स्थिति सम्भव नहीं थी। चाहे भारत हो, यूनान हो अथवा चीन, धर्म मानव जीवन का अभिन्न अंग रहा है, इसलिए जीवन में आनन्द के जितने साधन है उनका मूल धर्म में ही है। नाटक की रचना में भी धर्म, वीर भावना, अर्थ, काम आदि सभी कारण रूप से सम्बद्ध रहे।

भारत और यूनान के सांस्कृतिक इतिहास में नाटक की खोज इसी तथ्य के साथ आरम्भ होती है। भारत में नाटक के प्रथम शास्त्रीय ग्रन्थ भरत-रचित "नाट्यशास्त्र" (३०० ई० पू०) में वर्णित भारतीय धारणा के

अनुसार देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा द्वारा जिस नाट्य-वेद की रचना की बात कही गई है उसका मूल तात्पर्य यह है कि भारत में नाटक का उद्भव धार्मिक सामाजिक घटना के कारण हुआ और यह घटना थी विभिन्न जातियों के स्तरीकरण के वैमनस्य को दूर कर सबको एक स्थान पर एकत्र कर आपस में समझने का अवसर प्रदान करना। जो व्याख्या नाट्य शास्त्र से मिलती है उसका भले ही कोई वैज्ञानिक तथ्य न हो, लेकिन यह ईसा पूर्व ४०० वर्षों की उस भावना का स्पष्ट संकेत देता है जिसमे नाटक का मूल आरम्भ से ही स्पष्ट धार्मिक-सामाजिक कारणों में देखा गया।

यूनान के नाटकों और रंगमंच का विकास भी विशेष रूप से धर्म से सम्बन्धित है। प्राचीन यूनानी समाज में धर्म को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था और समाज का सम्पूर्ण कार्य-व्यापार धार्मिक व्यवस्था पर आधारित था। प्रत्येक उत्सव-पर्व आदि के मूल में धर्म की भावना प्रमुख थी। इन्हीं उत्सवों और रीति-रिवाजों को सामाजिक रूप देने के लिए रंगमंचीय दृष्टिकोण अपनाया गया और धीरे-धीरे नाटक का महत्व और क्षेत्र इतना बढ़ा कि देश की राजनीति, समाज नीति, धर्म नीति तथा आर्थिक नीति के प्रचार का प्रधान माध्यम भी हो गया।

यूनान में नाटकों का उद्भव वर्षा अथवा ऋतु-परिवर्तनों के अवसरों पर आदिम जातियों द्वारा किए गए लोक-नृत्यों एवं लोक गीतों से हुआ। अब भी कुछ देशों में वर्षा एवं ऋतु-परिवर्तन के त्योहारों पर लोक गीतों और नृत्यों का पारम्परिक ढंग से आयोजन किया जाता है। डायोनीसिया यूनान का एक महत्वपूर्ण त्योहार था जो प्रसिद्ध नगरी एथेन्स में वर्षारम्भ के आरम्भ में डायोनीसस एल्यूथेरस देवता के सम्मान में नृत्य और गीतों के आयोजन से मनाया जाता था। उस अवसर पर लोगों के हृदय में एक विशेष आतंक और आतुर भाव छाया रहता था। इस अवसर के गीत अधिकतर गांभीर्यपूर्ण होते थे। ये गीत डायोनिसस देवता के अनुकरण में बकरी की खाल ओढ़कर गाए जाते थे क्योंकि उस देवता का धड़ और टाँगें बकरी की थीं। डायोनीसस का जीवन करुणा पूर्ण था। अतः उन पर आश्रित होकर विकास करने वाले नाटकों की कथावस्तु भी करुणामय या दुखात्मक होती थी। इसीलिए यूनान में नाटक को 'ट्रैजेडी' कहा गया। पहले तो मन्दिर के चबूतरे पर देवता के

समक्ष कई लोग समूह नाच और गान करते थे जिसे 'कोरस' कहा जाता था किंतु धीरे-धीरे उसमें संवाद और कथोपकथन का प्रयोग कर नाटकीयता का विकास किया गया। डायोनीसिस की पूजा उस पहाड़ी या ऊंचे टीले पर की जाती थी जहां पर एक बलि-वेदी बनी होती थी जो 'बैकस' या 'सुरा-देवता' की समझी जाती थी। इसी वेदी के सम्मुख डायोनिसस के सम्मान में सहगायन (कोरस) और अभिनय होता था। इस अभिनय में गाम्भीर्य भाव बनाए रखने के लिए करुण और भय के भाव का प्राधान्य रहता था। गाम्भीर्य बढ़ाने के लिए ही ये नाटक प्रायः दुखांत होने लगे और इनमें घोर और भयानक घटनाओं, यहां तक कि मृत्यु का भी समावेश किया गया।

डायोनिसिया त्योहार के समक्ष प्रस्तुत किए जानेवाले नाटक यूनानी समाज की सभ्यता और संस्कृति के स्वर्णिम काल के परिचायक हैं। इसका मूल कारण नाटकीय प्रतिद्वंदिता ही नहीं था, बल्कि इसलिए था कि रंगमंच सम्पूर्ण ग्रीक समाज के लिए खुला था जो कि ऐथेन्स का धन, वैभव, शक्ति और जनता के उत्साह के साथ ही उसकी साहित्यिक और कलात्मक प्रतिभा का परिचायक था। राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक समृद्धि का रंगमंच पर प्रदर्शन किया जाता था।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से जो तथ्य स्पष्ट होता है उसके अनुसार भारत और यूनान में नाटक के विकास का मूल धार्मिक कृत्यों में ही निहित है। भारत में बहुत समय तक महाभारत और रामायण की कथा नाटक की केंद्रीय कथावस्तु बनी रही और यूनान में भी इसी प्रकार विभिन्न देवताओं से संबंधित कथा वस्तु पर ही नाटक की रचना की जाती रही।

नाटक की इन्द्रिय-संवेद्यता—

नाटक एक संवेद्य वस्तु है और मानव-इंद्रियों के साथ इसका निकट का भोग प्रधान सहज प्रवृत्तिमूलक (Instinctive) संबंध है। इंद्रिय संवेद्यता के आधार पर इसे भारतीय विचारकों ने 'दृश्यकाव्य' कहा और सहज प्रवृत्ति से संबंध रखने के कारण पश्चिमी विचारकों ने इसे 'अनुकृति' कहा। इंद्रियों को प्रभावित करने के आधार पर काव्य के दो विभाग किए गए हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य में केवल श्रवणेन्द्रियों से जानेवाले शब्दों द्वारा ही नहीं

वरन् नेत्रन्द्रियों से चेतना तक पहुँचाने वाले दृश्यो द्वारा भी आस्वादक (दर्शकों) के हृदय तक स्पर्शण (Appeal) या रस सम्प्रेषण (Content's Communication) किया जाता है। श्रव्य काव्य में शब्दों द्वारा कल्पना की सहायथा से मानसिक चित्र उपस्थित किया जाता है और इसका आनन्द पढ़कर या सुनकर लिया जा सकता है। दृश्य काव्य मानसिक चित्र की अमूर्तता को अभिनेता के अंग-विक्षेप और भाव-भंगिमाओं (Gestures) तथा भाषा के वाचिक प्रयोग के द्वारा मूर्तता या दृश्य प्रदान करता है, जिसके कारण सम्प्रेष्य-वस्तु की प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती है। दृश्यकाव्य के अंतर्गत नाटक के विभिन्न रूप आते है और श्रव्यकाव्य के कविता, कहानी, उपन्यास, निबंधादि। नाटक की अभिव्यक्ति के लिए केवल शब्दों की भाषा अपर्याप्त है। इसीलिए नाटक मे एक साथ दो भाषाओं (शब्द और भाव भंगिया अर्थात् हरकतों की भाषा) का प्रयोग होता है। सम्प्रेषण का सर्वाधिक विस्तृत और महत्वपूर्ण साधन होने के बावजूद भाषा में यह कमी है कि वह मनुष्य के बहुत से भावों को सही सही और पूर्ण अर्थो में व्यक्त करने में असफल रहती है जिसके लिए शरीर के अंग-विक्षेप या संचालन की आवश्यकता होती है। इसे भाव भंगिमा द्वारा अभिनय कहा जाता है। यही वह स्थल है जहां 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' का भेद मिट जाता है। नेत्र वह व्यक्त करने में सफलता प्राप्त करता है जहां वाणी मूक हो जाती है और वाणी वह भाव व्यक्त कर देती है जिसके लिए नेत्र समर्थ नहीं है। नाटक में शब्दों और हरकतों की भाषा का यह अटूट संबंध है। इस प्रकार नाटक एक 'समाहित भाषा' को लेकर चलता है। इस समाहित भाषा में से शब्दों की भाषा और हरकतों की भाषा को एक-एक करके अलग किया जा सकता है पर यह समाहित भाषा स्वयं इन दोनों के जोड़ से अधिक है। इसके अनुसार मात्र यह बताना कि एक चरित्र क्या कह रहा है, अधूरा है, इसलिए दोषपूर्ण है। क्योंकि चरित्र कहता भी है और हरकत भी करता है। जो हरकत से कहता है वह शब्दों में नहीं कहा जा सकता। इसलिए वह जो कह रहा है वह वह है जो शब्दों और हरकतों को मिलाकर कहा गया है। और यही समाहित भाषा ही सही है, पूरी भाषा है'। इस दृष्टि से कविता और उपन्यास अधूरे अथवा अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली माध्यम हैं। पहले के नाटककार भी इस स्थिति से आगाह थे पर आज का नाटककार इसको अधिक समझता है, इसका पूरा प्रयोग

करता है। वह इसको दुहरी भाषा नहीं, वरन् एक जटिल भाषा मानता है जिसमें पूरे अनुभव के यथार्थ का भार ढोने की क्षमता है। नए नाटकों ने हमारे भाषा-प्रयोग को निश्चय ही विस्तार और गहराई दी है। अगर हम मान लें कि आज का सामाजिक जीवन अधिक जटिल हो गया है तो कह सकते है कि नाटक की भाषा के सहारे और इन्द्रिय संवेद्यता के विस्तृत आयाम को व्यक्त करने वाले नाटक के द्वारा आज के अधिक जटिल हुए सामाजिक जीवन और उसके अनुभव को व्यक्त किया जा सकता है, और अध्ययन किया जा सकता है। इस प्रकार समाजवैज्ञानिक दृष्टि से नाटक एक महान कला है।

नाटक की इस व्यापक इंद्रिय संवेद्यता और समर्थता का एक और कारण है। कविता, उपन्यास, निबंध आदि का आनन्द प्राप्त करने के लिए विशेष परिष्कृत बुद्धि या मानसिक स्तर की आवश्यकता होने के कारण प्रायः शिक्षित वर्ग-विशेष ही उससे लाभान्वित हो पाता है। कविता के पूर्ण रसास्वादन के लिए विस्तृत शब्द शक्ति, भाषा की प्रकृति और व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है जिससे अशिक्षित वर्ग वंचित रहता है। किन्तु नाटक में बोल चाल की व्यावहारिक भाषा और भाव-भंगिमाओं का प्रयोग होने के कारण किसी प्रकार के भाषा या व्याकरण-ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। जिस नाटक में जन-व्यवहार की भाषा का प्रयोग नहीं होता वह नाटकीय कला की दृष्टि से असफल माना जाता है। इसी असफलता एवं अस्वाभाविकता से बचने के लिए संस्कृत नाटकों मे भी पात्रों की सामाजिक स्थिति के अनुसार संस्कृत के साथ प्राकृत भाषाओं का भी प्रयोग किया जाता था।

विकासवाद द्वारा मान्य सिद्धांतों में एक यह भी है कि जाति के इतिहास की व्यक्ति के जीवन में पुनरावृत्ति होती है। समाजशास्त्र का संस्कृति-चक्रवाद का सिद्धांत (Cyclic Motion of Culture) भी इसी मत का समर्थक है। यदि हम यह जानना चाहें कि किसी संस्था का प्रारंभ कैसे हुआ तो हमको बच्चों के जीवन में उसके बीज और अंकुरों को देखना होगा। बच्चों के जीवन में मानव सभ्यता का इतिहास सजीव अक्षरों में अंकित रहता है। मनुष्य की स्वाभाविक अनुकरणशीलता का पता हमको बालकों के खेल में मिलता है। घोड़े को दौड़ता देखकर बच्चा अपनी कल्पना के सहारे डंडे को

ही घोड़े का आकार देकर उसको सरपट चाल चलाता है। बड़ों की मूंछे देखकर खुद भी मक्का के बालों की मूंछे बनाकर समवस्यको में बड़ोम रोब जताता है। बालिकाएं गुड्डा-गुड़ियों का विवाह रचाकर भावी गार्हस्थ जीवन का पूर्व आनन्द अनुभव कर लेती हैं। यही नाटक की मूल प्रवृत्ति है।

नाटक अनुकरण नहीं है—

किन्तु अनुकरण की यह प्रवृत्ति किसलिए ? अनुकरण व्यक्ति के समाजीकरण के लिए आवश्यक है। बच्चा अपने परिवार में विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को बड़ों के व्यवहार के अनुकरण से खुद भी बड़ा होने, सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास करता है। पाश्चात्य और भारतीय विचारको के मतानुसार विभिन्न कला-सर्जन और विशेषतः नाटक में मानव की यही मूलवृत्ति प्रधान कारक होती है। इसीलिए अरस्तू ने 'अनुकरण' (Imitation) और भरत ने 'अनुकृति' को ही नाट्याभिनय का आधार माना है। किन्तु कई कारणों से इस मत को मानने में हिचकिचाहट होती है। यह सही है कि मनुष्य अनुकरण द्वारा समाजीकरण प्राप्त करता है। किन्तु अनुकरण और समाजीकरण की सीमा मनुष्य की परिपक्वावस्था के साथ समाप्त होती जाती है। बाल्यावस्था को पार करते हुए व्यक्ति की बुद्धि का विकास होता जाता है और फिर वह अनुकरण की अपेक्षा अपनी बुद्धि (Intellect) और अंतर्दृष्टि (Insight) से अधिकाधिक काम लेने लगता है। उदाहरण के लिए एक बालक अपनी बाल्यावस्था में अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त जो दूसरी भाषा सीखता है वह अधिकांश अनुकरणमूलक होती है किन्तु परिपक्वावस्था में पहुंचने पर जब कोई और तीसरी भाषा सीखने का प्रयास करता है तो अधिक आसानी से ग्रहण कर लेता है। इसका कारण यही है कि प्रथम अतिरिक्त भाषा उसने अनुकरण द्वारा सीखी थी किन्तु द्वितीय अतिरिक्त भाषा में वह अपनी अंतर्दृष्टि से अधिकाधिक काम लेता है और फिर वह अनुकरण का सहारा छोड़ देता है। कलाओं के सर्जन के सम्बन्ध में बिलकुल यही बात लागू होती है कि उसका आधार बुद्धि, अंतर्दृष्टि और कल्पना प्रवणता ही होता है, चाहे वह कोई भी कला क्यों न हो ? कला वस्तुतः कला तभी बनती है या सार्थकता ग्रहण करती है जब निरा जीवन का प्रतिबिम्ब न हो, बल्कि जीवन का 'नव-सर्जन' हो। कृति

केवल आकृति की अनुकृति नहीं, वरन् कृतिकार की प्रकृति-संस्कृति से मिली हुई, उसमें से उपजी हुई संस्कृति होती है।

नाटक के संदर्भ में अनुकरण की जिस प्रकार व्याख्या की गई है वह व्यवहार्य नहीं है। अनुकरण का अर्थ सिर्फ इतना ही लगाया जा सकता है कि नाटक का मूल मनुष्य की अनुकरण-वृत्ति में ढूंढ़ा जा सकता है। अभिनेता अभिनय के द्वारा चरित्रों का रंगमंच पर जो दृश्य प्रस्तुत करता है वह वस्तुत: चरित्रों का अनुकरण मात्र ही है। किन्तु नाट्याभिनय में बुद्धि, कल्पना प्रवणता और अंतर्दृष्टि का प्रयोग होता है, इसलिए वह नव सर्जन के रूप में एक कला-रूप बन जाता, चरित्रों को नए आयामों में प्रस्तुत किया जाता है। अगर मान भी लिया जाय कि अभिनेता अनुकरण या नकल करता है तो अनुकरण के लिए उसे क्या सामग्री मिलती है? अनुभूतियों का प्राय: लिखित चित्रण। नाटककार ने जिस चित्र और घटना की उद्भावना की, अभिनेता पर उसके मूर्तिकरण का नया दायित्व आ गया। इसका निर्वाह स्वयं में एक कला-सर्जन है। अभिनीत-व्यंजन लिखित व्यंजन से सर्वथा भिन्न है। इसीलिए प्राय: नाटककार और नाट्यनिर्देशक में भेद हो जाया करता है। नाटककार जो कुछ लिख देता है, निर्देशक उसे पुन: रंगमंच, अभिनेता और दर्शक के अनुकूल समंजित कर प्रस्तुत करता है। नाटककार निर्देशक और अभिनेता की कल्पना को आधार देता है। उसके बाद निर्देशन और अभिनय का सारा भाग निर्देशक और अभिनेता का अपना होता है और इसलिए वह कला-सृष्टि का अधिकारी होता है।

नाटक-भाव है, रचना है और इससे भी ऊपर अभिनय है। भाव ही सम्पूर्ण वास्तविकता है। रचना उसी प्रकार नाटक की एक विशेषता है जैसे काव्य की। और नाटक स्वयं भी एक काव्य ही है। कवि प्रत्येक काव्य के द्वारा एक नवीन रचना करता है, सृष्टि करता है। कवि की काव्य-कृति को अनुकरण नहीं कहा जाता, नहीं माना जाता, तब कवि-नाटककार की रचना अनुकरण क्यों कर हो जाती है। प्रत्येक कृति के पीछे, चाहे वह संगीत, नृत्य, चित्र, काव्य या वस्तु हो, एक आधार रहता है और वह आधार भौतिक तथा भाव जगत का योग होता है। इसी आधार पर प्रत्येक रचनाकार नवीन सृष्टि करता है, नाटककार भी वैसा ही करता है। जब गायक के स्वर-

ताल, नर्तकी की मुद्रा, चित्रकार की चित्रकारी और वास्तुकार की कृति को अनुकरण नहीं कहा गया तो नाटककार की कृति और उसके अभिनय को अनुकरण कैसे कहा जा सकता है। वास्तविकता तो यही है कि शेक्सपीयर ने ही न तो जूलियस और सीज़र के व्यक्तित्व को सामने रखकर नाटक की रचनानुकृति की और न ही अभिनेता ने उन्हें सामने रखकर भावानुकृति की, फिर कैसे नाटक या अभिनय को अनुकरण कहा जा सकता है, कैसे वह चरित्र का अनुकरण करता ? चरित्र की तो नाटककार उद्भावना करता है और अभिनेता उस उद्भावना का अपनी विशेष भावन प्रतिभा से आरोप कर एक कला कृति उत्पन्न करता है। जब संगीत, नृत्य, वास्तु एक नवीन उद्भावना के कारण कला हैं तो नाटचकृति और अभिनय भी एक कला है नाटच और अभिनयकला में अन्य कलाओं से किसी प्रकार का अंशात्मक भेद नहीं किया जा सकता, यदि कोई भेद किया जा सकता है तो वह गुणात्मक ही। अर्थात् नाटक अन्य कलाओं से श्रेष्ठ कला है क्योंकि उसमें सभी कलाएं पुञ्जीभूत हो जाती हैं।

नाटक रचनात्मक, भावात्मक और अभिनयात्मक संयोजन से उत्पन्न एक नवीन कला है। रचना के साथ-साथ दर्शकों—आस्वादकों के भावन—रसास्वादन का इसमें अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है और अभिनय में नाटक की सम्पूर्णता निखरती है। निकॉल ने नाटक को अभिव्यंजना कला (अनुकरण नहीं) माना है। नाटक में अनुकरण से अधिक महत्व का स्थान अभिव्यक्ति—आत्माभिव्यक्ति का है। मनुष्य ने किसी अनुकरण के रूप में किसी कला की सर्जना नहीं की वरन् सबके मूल में मानव हृदय की अभिव्यक्ति की बेचैनी (Unrset) किसी कला-सर्जन को जन्म देती है। सूर्य के प्रतपन, वर्षा के सिंचन, पवन की शक्ति, अग्नि के तेज आदि को देखकर व्यक्ति ने उनकी मंगलकारी कृपा के लिए धन्यवाद स्वरूप जो हाथ पसारा, उनको प्रसन्न करने के लिए जो नृत्य और प्रार्थना की वह किसी का अनुकरण नहीं वरन् आत्माभिव्यक्ति ही थी जो धीरे-धीरे सामूहिक अभिव्यक्ति के रूप में परिवर्तित होकर सामूहिक नृत्य गान और पुनश्च नाटक का आधार बनी। यूनान में डायोनिसस की पूजा या भारत में वैदिक कर्मकाण्डों द्वारा उत्पन्न नाटच-स्वरूपों मे अनुकरण का तत्व नहीं, अभिव्यक्ति का तत्व दिखाई पड़ता है। जिन वीर या धार्मिक

भावना के स्मृति-उत्सवों से नाट्यकला की उत्पत्ति का संबंध जोड़ा जाता है उसमें मूलतः व्यक्ति और समाज की अभिव्यक्ति की भावना ही निहित रहती है। कथा वस्तु नाटककार की अभिव्यक्ति का आधार बनकर आती है, नाटककार या अभिनेता की अनुकर्त्ता बनकर नहीं।

अभी तक हमने नाटक के विकास पक्ष पर विचार किया। अब नाटक के प्रक्रियात्मक पक्ष और उसके समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर क्रमिक विचार करेंगे।

नाटक में सामाजिक अन्तर्वस्तु का विस्तार

कला प्रक्रिया पर विचार करते समय कला के लालित्य-बोध के संबंध मे अनेक बातों पर विचार हो चुका है। नाटक पर विचार करते समय ज्ञात होता है कि नाटक मनुष्य के लालित्यबोध का समष्टिगत (Total) प्रतीक है। विभिन्न कलाएँ मानव हृदय की महत्वाकांक्षाओं की अभिव्यक्ति स्वरूप है। विश्व की हर वस्तु में मानव-हित-साधन की दृष्टि से स्वयं में अनेक अपूर्णताएँ है। सामाजिक परिवेश की अपनी विशेषता, मनुष्य की दृष्टि सीमा, माध्यम की सीमित क्षमता आदि के कारण मनुष्य की महत्वकांक्षा प्राय पूर्णता नहीं प्राप्त कर पाती। किन्तु उसमें वस्तुओं को पूर्ण देखने की ऐसी जिज्ञासु दृष्टि होती है कि वह अपनी बुद्धि व कल्पना प्रवणता के द्वारा यथासाध्य सुन्दर वस्तु निर्माण द्वारा अपूर्णता को पूरा करने, सज्जित (Configurate) और सीमा के विस्तार का सदा ही प्रयास करता रहा है। विभिन्न कलाओं का विकास मानव जीवन की इन्हीं सीमाओं को पूर्णता प्रदान करने की प्रक्रिया का द्योतक है। विभिन्न कलाएँ मानव की भिन्न-भिन्न पूर्णता की सूचक है काव्य से मनुष्य वाणी संबंधी पूर्णता, चित्र से नेत्र संबंधी, संगीत से कर्ण, से वास्तु से स्पर्श और निवास आदि की पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास करता है। फिर भी सबका लक्ष्य एक ही रहता है, और वह है मानव के अपूर्ण जीवन को विशेष प्रकार (अनुभूति प्रवणता) से पूर्ण करना। किन्तु कलाओं का अन्तिम ध्येय एक होने पर भी माध्यम की भिन्नता और उनकी मर्यादा उनकी अभिव्यंजना शैली और सामर्थ्य को सीमित कर देती है। इसीसे उनके रूप और वैशिष्ट्य भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे शिल्प की

साकारता चित्र में नहीं है और न चित्र का रंग-वैशिष्ट्य शिल्प में है। नृत्य की गतिमयता शिल्प, चित्र और अन्य स्थिर कलाओं में नहीं है। संगीत श्रव्य कला है, उसके श्रुति—माधुर्य का अनुभव चित्रकला में कहाँ मिलेगा ? किन्तु नाटक एक ऐसी कला है जिसमें काव्य, संगीत नृत्य, शिल्प, स्थापत्य आदि सब की संहृति रहती है। इसीलिए नाटक में जीवन को पूर्णता प्रदान करने का परिवेश अधिक विस्तृत रहता है और नाट्यकला को अधिक सार्वजनीयता प्राप्त है। नाट्यकला भिन्न-भिन्न रुची के आस्वादकों में जिस प्रकार लोकप्रियता प्राप्त कर सकती है वैसा शेष कलाओं में संभव नहीं है। अन्य कलाओं में माध्यम बदलने से ही कला का स्वरूप और सिद्धांत बदल जाता है किन्तु नाटक में विभिन्न कलाओं के योग के बाद भी वह नाट्यकला रहती है तथा उसमें और अधिक परिष्कार आता है। इसीलिए अन्य की अपेक्षा उसकी सामाजिकता का दृश्य-फलक अधिक विस्तृत हो जाता है। नाटक एक ऐसी कला है जो मानव की पूर्ण लालित्य-बोध की प्रतीक है और इस पूर्णता के कारण अपने समाज या राष्ट्र के शताब्दियों के कलात्मक और सांस्कृतिक दाय से जुड़ी रहती है; तथा विभिन्न युगों में नए-नए सामाजिक संदर्भों मे अपने इसी पारम्परिक रूप से शक्ति ग्रहण करती है और उसे नया संस्कार नई अर्थवत्ता तथा नई दिशा देती है। अतः किसी भी समाज और युग के नाटक के अध्ययन से उसके सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की पूर्णता का सहज ही पता लगाया जा सकता है। भारतीय नाट्याचार्य भरत ने नाटक मे मनुष्य के प्रतीक ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला और कर्म का संपुट माना है जिसमें मानव का सम्पूर्ण जीवन चित्रित होता है। आरनाल्ड हाउसर का विचार है कि "कला के किसी भी अन्य रूप मे सामाजिक संगठन के आंतरिक संघर्ष का इतना प्रत्यक्ष चित्रण नहीं होता जितना दुखान्तकी (नाटक) मे। साहित्य की यह सबसे विवेकपूर्ण विधा है जो मनुष्य की अभिप्रेरणा को पर्याप्त और योग्य दिशा में अभिनिर्देशित करती है।"[1]

नाटक में सामूहिक आस्वादन—

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि नाटक मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति के माध्यम

---

१. सोशल हिस्ट्री आफ आर्ट, पृ० ६७।

की दृष्टि से व्यापक आयामशाली कला है। इस कारण इसके कलात्मक आस्वाद्य का समाज भी अधिक विस्तृत है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन इस संबंध में उल्लेख्य है, "नाटक गंभीर अभिनेय कला की सर्वोत्तम सृष्टि है। मानव चरित्र को शक्ति और गति देने में, सामूहिक प्रतिक्रिया और प्रेरणा उत्पन्न करने में, जीवन का नव निर्माण करने में जितना कार्य अभिनेय नाटक कर सकता है उतनी कोई कलाकृति नहीं। नाट्यकला ही समृद्धिशाली देशों की प्रतिनिधि और सर्वोच्च कला रही है। विविध राष्ट्रों में कला संबंधी उत्कर्ष को मापने के लिए नाटक ही प्रमुख उपादान रहा है। आज के अधिकांश साहित्य-रूप व्यक्तिगत उपयोग के लिए हैं, सामूहिक उपयोग के लिए नाटक ही प्रधान साहित्यांग है।"[1] निस्संदेह नाट्यकला में जो ओजस्विता, सजीवता और व्यापकता है वह कला के किसी भी अन्य रूप से अधिक पाई जाती है। अपनी इसी व्यापकता और एक धरातल पर सबका सामञ्जस्य उपस्थित करने की विशेषता के कारण इसे हर संस्कृति अपना संदेशवाहक बनाती रही है।

नाटक में सामूहिक आस्वादन की विशेषता होने के कारण यह एक महत्वपूर्ण सामाजिक कला है। नृत्य, संगीतादि तथा काव्य रचनादि की अपेक्षा नाट्यकला का प्रस्तुतीकरण सामूहिक सहयोग और सामूहिक उद्योग पर आधारित है। नाटक की पूर्णता अभिनय पर आश्रित है और अभिनय के लिए अनेक स्त्री-पुरुष का सहयोग आवश्यक होता है तथा रंगमंच के निर्माण एवं व्यवस्था और निर्देशन के लिए अनेक व्यक्तियों के उद्योग की आवश्यकता होती है। सभी के सम्मिलित उद्योग से ही नाटक को प्रस्तुत किया जा सकता है। संस्कृत के प्राचीन अथवा आज के भी एकपात्रीय नाटकों का प्रस्तुतिकरण बिना सामूहिक उद्योग के संभव नहीं है। इस दृष्टि से नाटक का सामाजिक परिवेश जितना व्यापक है उतना अन्य किसी कला का नहीं। अन्य कलाओं का सम्पादन और आस्वादन अकेले भी संभव है और समूह के साथ भी, लेकिन नाटक का एकांत आस्वादन और सम्पादन कोई अर्थ नहीं रखता।

---

१. "आलोचना" पत्रिका, नाटक विशेषांक, जुलाई १९५६ पृ० ६।

नाटक एक ऐसी कला है जिसमें समाज के सभी वर्गों के व्यक्तियों का रंजन करने की शक्ति है। इसी बात को संस्कृत के विश्व प्रसिद्ध नाटचकार कालिदास ने भी कहा कि भिन्न-भिन्न रुचिवाले लोगों के लिए प्रायः नाटक ही एक ऐसा उत्सव है जिसमें सबको एक सा आनन्द मिलता है। नाटक की इस सर्वंजन सुलभता के कारण वह संसार के सभी देशों और सभी सभ्य-असभ्य जातियों एवं शिक्षित-अशिक्षित समुदायों में समान रूप से लोकप्रिय कला है। आज भी गाँवों में नाटक मंडलियों के पहुँचते ही मीलों दूर के गाँवों से सारा का सारा जन समाज बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष बड़े उमंग से नाटक देखने के लिए उपस्थित होते हैं और रात-रात भर तथा कभी-कभी तो सुबह तक सभी बैठे उसे देखते रहते हैं। सामूहिक स्पर्शता (Appeal) की इतनी महत्वपूर्ण सामाजिक कला सचमुच ही समाजशास्त्रीय अध्ययन का विषय है जहाँ विस्तृत समाज के रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार, भाषा-भाव आदि सभी कुछ का एक ही स्थल पर दर्शन हो जाता है। हम नाटक नहीं देखते वरन् रंगमंच पर अपने व्यक्तित्व, समाज और संस्कृति की झांकी देखते हैं।

नाटक द्वारा सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का सम्प्रेषण—

नाटक किसी देश की सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक होता है। उसमें अपने समाज की सभ्यता और संस्कृति की मुखर प्रतिच्छवि होती है। किसी देश, काल और संस्कृति का जीता-जागता चित्र उपस्थित करनेवाली नाटक सर्वोत्तम सामाजिक कला है। जिस युग में किसी राष्ट्र की ईहा भव्य प्रयत्न की ओर उन्मुख रहती है, वहाँ नाटक की प्रखर उन्नति होती है और नाटक आगे बढ़कर उस युग के सांस्कृतिक दाय को संरक्षण प्रदान करता है। तीसरी से आठवीं शताब्दी के अंत तक गुप्त वंश तथा हर्ष के शासन की पाँच शताब्दियों के भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग का जीवित चित्रण उस समय के काव्य और नाटकों में ही उपलब्ध है। एथेन्स में पेरेक्लीज, रोम में आगस्टस और इंगलैंड में एलिजाबेथ प्रथम के शासन काल की चरम गाथा उस युग के नाटकों में ही सुरक्षित है। नाटककार भास (४०० ई० पू०) के 'अविभारक' नाटक में तत्कालीन समाज में पनपती हुई वर्ण-भेद की कटुता, 'दरिद्रचारुदत्त' में राजनीति, विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' में सम्राट के प्रति

भक्ति और तत्कालीन राजनीति, और शूद्रक (प्रथम शताब्दी) के 'मृच्छकटिक' में जनसाधारण का जीवन और शासन व्यवस्था का जो जीवन्त चित्रण मिलता है, भारतीय इतिहास के लिए दूसरा कोई इतना प्रामाणिक स्रोत उपलब्ध नहीं। भास के 'दरिद्रचारुदत्त' और शूद्रक के मृच्छकटिक में इतनी ईमानदारी से समाज का चित्रण किया गया है जो आज के आधुनिक नागरिक जीवन का भ्रम उत्पन्न करता है। इन्हे देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'चारुदत्त' और 'मृच्छकटिक' जैसे संवेदनशील और यथार्थवादी नाटक की उस काल में रचना और अभिनय एक प्रौढ़ और सुशिक्षित जनसमुदाय में ही सम्भव था। डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार "यह नाटक (मृच्छकटिक) 'कला के लिए कला' का उत्कृष्ट उदाहरण है, और फिर भी भारत की विवेकशीलता और निर्मलता इसमें परिव्याप्त है।'[1] कालिदासकृत 'अभिज्ञानशकुन्तलम्', 'मालविकाग्निमित्रम्' और विक्रमोर्वशीयम्' में सम्राट स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के भारतीय जीवन का स्वर्णिम उत्थान देखने को मिलता है।

वास्तव में समाज में जितनी भी कलाएं है इन सब में नाटय-कला ही सर्वाधिक समाज वैज्ञानिक है। समाज का जितना यथार्थ रूप नाटक द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है उतना अन्य किसी भी कला द्वारा नही। ऐतिहासिक कथानक का आश्रय लेकर निर्मित नाटक अपने पुरातन समाज की संस्कृति का यथार्थ चित्र उपस्थित करता है और वर्तमान सामाजिक कथानकों के आधार पर विद्यमान समस्याओं का चित्र उपस्थित करके अपेक्षित विश्लेषण प्रस्तुत करता है। जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक नाटक 'चन्द्रगुप्त' भारत की मौर्यकालीन भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आदि सभी परिस्थितियों का ज्ञान करानेवाला सफल नाटक है जिसमे तत्कालीन भारतीय समाज में तेजी से पड़नेवाले बौद्ध दर्शन के प्रभाव और उसके कारण राजा और जनता का सामाजिक नैराश्य भोग-विलास मे बाह्य आक्रमणकारियों की योजनाओं की अज्ञानता तथा देश के नागरिकों का स्वयं ही जागरित होने और आक्रमणकारी सिकंदर से रक्षा आदि का

१. भारत की संस्कृति और कला, पृ० १५६।

सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। इस नाटक में तत्कालीन भारतीय समाज के रहन-सहन, वेश-भूषा, रीति-नीति, युद्ध-विग्रह आदि का यथातथ्य रूप इस सीमा तक चित्रित करने का प्रयास किया गया है कि दर्शक उस युग के पवन में साँस लेने लगता है। नाटककार ने नाटक में प्राचीन इतिहास और संस्कृति के माध्यम से वर्तमान में अपेक्षित राष्ट्रीयता तथा देश भक्ति के प्रति भी लोगों को सचेत किया है। प० लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्त नाटकों में आधुनिक समाज की विभिन्न समस्याओं का सफलतापूर्वक चित्रण किया गया है। 'सन्यासी' में लड़के-लड़कियों की आधुनिक समाज की सह-शिक्षा की समस्या, 'सिंदूर की होली' में धन की लिप्सा तथा उसके लिए जघन्य कर्म करने की प्रवृत्ति का चित्रण, तथा 'राजयोग' में असम विवाह की समस्या उठाकर आधुनिक समाज की बेचैनी को सामने लाने का प्रयास किया गया है।

समाज की राजनीतिक व्यवस्थाओं की स्थापना और परिवर्तन में योग देने का जितना श्रेय नाटक को है उतना किसी अन्य कला को नहीं। अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए नाटक का आश्रय लेना हर युग की आवश्यक परम्परा बना रहा। कौटिल्यीय अर्थशास्त्र के पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि नागरिक जीवन के इस अंग पर राज्य को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता पड़ गई थी।[1] नाटक का महत्व समाज में इस हद तक बढ़ गया था कि उसका देश की आतरिक व्यवस्था तथा अन्य देशों के गुप्त रहस्यों का पता लगाने के लिए राज्य की ओर से नट-नटियाँ गुप्तचरों के वेश में एक राज्य से दूसरे राज्यों में भेद लेने के लिए भेजी जाती थीं जिनका मैत्री अथवा आक्रमण आदि की दृष्टि से बड़ा महत्व होता था।[2] नट-नाटियाँ अभिनय व्यापार से आकर धन कमा रही थी जिनसे समाज की बहुत बड़ी धन-राशि उनकी ओर खिचती जा रही थी। फलस्वरूप राज्य की ओर से इनका वेतन निश्चित कर दिया गया था जो २५० से लेकर ७०० 'पणँ' तक होता था तथा राज्य की ओर से नटों की मंडली पर कर लगने लगा था। नाटक के लिए नगर में

१. **कौटिल्य अर्थशास्त्र, अध्यक्ष प्रकरण २७।३६, ४१।**

२. **वही, योगवृत्त अधिकरण ५।१६, १७।**

भिन्न-भिन्न स्थलों पर नाट्य शालाएं बनाना नागरिक व्यवस्था का अंग था। इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि कौटिल्यकालीन समाज में नाटक सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया था और राजनीतिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए भी इसका प्रयोग हो रहा था।

आधुनिक युग में रूस, चीन और अमेरिकी समाज में राजनीतिक सिद्धांतों के प्रचार के लिए नाटक का बड़ा व्यापक सहारा लिया जा रहा है। रूस के लेनिनग्राड में वहाँ की साम्यवादी सरकार द्वारा बनाए गए रंगमंच 'रेड स्क्वायर' के माध्यम से साम्यवादी सिद्धांतों का प्रचार किया जाता है। चीन में पीकिंग, शंघाई, और ल्हासा में 'पीपुल्स थियेटर' नाम से सरकारी रंगमंचो का प्रयोग साम्यवादी सिद्धांतों के प्रचार के लिए किया जाता है। विश्व के अन्य साम्यवादी देशों ने भी रंगमंच को अपनी नीतियों के प्रचार के लिए आवश्यक माध्यम के रूप से अपनाया है। इन देशों में नाटक नियंत्रण का एक साधन है और राज्य ने जिस प्रकार के मूल्य चाहे हैं, जनता को सिखा दिया है। प्रजातांत्रिक देशों में अमरीकी सरकार का प्रत्यक्ष रूप से अपना कोई पृथक रंगमंच नहीं हैं तथापि विभिन्न राजनीतिक दल चुनावों के पूर्व अपने-अपने सिद्धांतो के प्रचारार्थ नाटक का सफल प्रदर्शन करते हैं।

नाटक और सामाजिक-स्थिति का सह-संबन्ध—

समाज की राजनीति की ही भांति अर्थनीति और नाटक का भी युग-पद संबंध है। बिना राजनीतिक प्रश्रय, उदारता और आर्थिक सहायता के यह कला पनप ही नहीं सकती। आर्थिक व्यवस्था से तो नाटक का इतना घनिष्ट संबंध है कि रंगमंच आर्थिक सम्पन्नता का माध्यम माना जाता है। रंगमंच किसी युग विशेष की अर्थनीति, राजनीति, जनरुचि और सामाजिक व्यवस्था के अनुसार ही निर्मित होता है। देश की परतंत्रता तथा आर्थिक और राजनीतिक पतन के युग में काव्य-महाकाव्य लिखा जा सकता है, कहानी-निबंध आदि की रचना हो सकती है, किन्तु नाटक की रचना नहीं हो सकती क्योंकि नाटककार के समक्ष रंगमंच ही नहीं रहता (जो नाटक का प्राण है) तो मात्र बाह्य काया की रचना भी वह किस आधार पर कर सकता है। रंगमंच के आदर्शों को ध्यान में रखकर ही तो कोई नाटक

लिख सकता है किन्तु उस राजनीतिक और आर्थिक अशांति के युग में जब कि व्यक्ति-व्यक्ति और सारे राष्ट्र का अस्तित्व ही खतरे में पड़ा हो, सांस्कृतिक और आर्थिक सम्पन्नता का प्रतीक रंगमंच कैसे जीवित रह सकता है। वास्तव में देश की हत्या के साथ साहित्य और विशेषतः नाटक की भी हत्या हो जाती। देश की परतंत्रता का साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक पर अधिक प्रभाव पड़ता है क्योंकि नाटक का जन जीवन से जितना घनिष्ठ संबंध होता है उतना किसी अन्य साहित्य-रूप का नहीं। नाट्य-साहित्य की समृद्धि देश की समृद्धि पर ही निर्भर करती है क्योंकि नाट्य सृजन की प्रेरणा रंगमच से प्राप्त होती है और परतंत्र-युग में रंगमंच का निर्माण प्रायः असंभव होता है। इसका प्रमाण हमारा अपना या अन्य देशों का इतिहास है। सम्राट हर्षवर्द्धन की मृत्यु (सन् ६४७) के पूर्व तक भारतवासी स्वतंत्र थे, समृद्धिशाली राज्यव्यवस्था थी, इसलिए उस समय तक हमारे देश में जिस समृद्ध नाट्य साहित्य का विकास हुआ उसकी समता विश्व के किसी भी सर्वश्रेष्ठ नाट्य साहित्य से की जा सकती है। हर्षवर्द्धन के समय तक संस्कृत भाषा में एक से एक बड़े नाटक लिखे गए और उनका अभिनय अच्छे से अच्छे विविध अनुकूल रंगमंचों पर हुआ। किन्तु हर्षवर्द्धन की मृत्यु के उपरान्त ही भारतवर्ष की राजनीतिक स्वतंत्रता भंग हो गई। किसी शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के स्थान पर देश में अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए जिनका ध्यान व धन अधिकतर पड़ोसी राज्यों से संबंध विच्छेद, संघर्ष अथवा गृह कलह में लगा रहता था। पारस्परिक द्वेष और युद्ध तो था ही, साथ ही साथ विदेशी आक्रमणकारियों का भी भयकर भय सामने आ गया जिससे इन राज्यों की सत्ता तक संकट में पड़ गई। फलतः ऐसे अशांति काल में सांस्कृतिक और मनोरंजन संबंधी क्रिया कलाप जो सामूहिक स्तर पर संभव हो सकें, कैसे सम्पन्न हो सकते थे। घर पर बैठकर या दरबार में रहकर तो कवि लोग काव्य रचना कर सकते थे किंतु समाज में आए बिना तो नाट्य रचना की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात संस्कृत नाटकों की धारा अत्यन्त क्षीण हो गई और १२ वी शती तक बिलकुल सूख गई।

नाटक के यथोचित विकास के लिए चिर शांति का होना आवश्यक है

क्योंकि नाटक रंगमंच का खेल है और रंगमंच शांत वातावरण में ही उद्भूत होता है। इंगलैंड में जूलियस सीजर के शासन की समाप्ति (१२वीं शताब्दी) के पश्चात धीरे धीरे सामाजिक शांति स्थापित होती गई और एलिजाबेथ का शासन काल इंगलैंड का स्वर्ण युग हो गया। एलिजाबेथ स्वयं सांस्कृतिक क्रियाकलापों, विशेषकर नाटक एवं रंगमंच के उन्नयन में दत्तचित्त थी। इसलिए उसके युग में रंगमंचीय व्यवस्था में बड़ा परिष्कार हुआ और उन्हीं दिनों विश्व प्रसिद्ध नाट्यकार शेक्सपीयर के नाटकों का आविर्भाव हुआ। इस युग में इंगलैंड में एक दृढ़ शासन व्यवस्था और सामाजिक शांति के कारण देश की संस्कृति और कलाओं का खूब विकास हुआ। परन्तु हमारे देश में इस शांत वातावरण के अभाव के कारण १०वीं शती के बाद के ८०० वर्षों तक नाटकीय परम्परा राजनीतिक-सामाजिक अस्थिरता के कारण मृत-प्राय पड़ी रही। १९वी शताब्दी में जब पुनः रंगमंच के विकास की बात उठी तो अंग्रेज शासकों ने अपने मनोरञ्जन और सांस्कृतिक प्रचार के लिए नाटकों का अभिनय किया। देश में रंगमञ्च के विकास में बहुत कुछ इन्हीं अंग्रेजों की नकल की गई।

आज राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से विश्व के दो देश सर्वाधिक सम्पन्न है—रूस और अमेरिका। इन्हीं दोनों देशों के पास आज विश्व के सर्वाधिक महत्व-पूर्ण और उच्चकोटि के रंगमंच हैं। इसका कारण यही है कि हर स्वतंत्र राज्य अपने राष्ट्र की सांस्कृतिक उन्नति में रंगमंचों को बड़ा महत्वपूर्ण समझता है। इसलिए अच्छे से अच्छे तकनीकी रंगमंचों के निर्माण के लिए वह सहायता भी देता है। ऊपर-नीचे खिसकाए जाने वाले रंगमंच, चक्रिल रंगमंच, (Revolving Theatre) रंगमंच पर ही हर प्रकार के भयंकर दृश्यों का तकनीकी विधाओं द्वारा चित्रण का रूस, अमेरिका और योरप के देशों में खूब प्रयोग होता है। इन रंगमंचों का निर्माण इतना व्यय साध्य होता है कि सामान्य स्थितिवाले देश इसका निर्माण नहीं कर सकते। अमेरिका और यूरोपीय देशों में किसी राजनीतिक अथवा सामाजिक विचार व्यवस्था के प्रचार के लिए इन रंगमचो का बड़ा कुशल प्रयोग किया जाता है।

नाटक और दर्शक-समूह—

नाट्य-रचना और नाट्य-प्रदर्शन के साथ दर्शकों की स्थिति का भी महत्व-

पूर्ण स्थान है। किसी भी नाटककार के नाटकों के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उन लोगों के बारे में भी ज्ञान आवश्यक है जिनके लिए उसने नाटक लिखा है और जिनके साथ उनका सामाजिक सम्बन्ध था। अपने समकालीन समाज के दर्शको की रुचि और महत्वाकांक्षा का विरोध कर कोई भी नाटककार सफलता से दूर ही रहेगा। इतालवी नाटककार टेरेंस (१६०–१५९ ई० पू०) ने अपने नाटकों में लोक रुचि की जिस कमी के बारे में बार-बार असतोष प्रकट किया है उसका कारण रोम के उस समय के दर्शक-समाज के साथ सामञ्जस्य स्थापित न हो सकना है। वे नाटको में षडयंत्रकारी रचनाएँ उचित अनुपात में रखते थे नाटकीय संवादो को परिमार्जित रूप देते थे, जब कि और दर्शक भोंड़ी नकलों के अभ्यस्त थे। टेरेंस अपने समाज के अनुकूल नहीं थे। यदि वे इटली के पुनर्जागरण काल में हुए होते तो सफल कॉमेदीकार होते क्योंकि उस समय उन्हें विद्वान दर्शक मिलते जो उनकी उद्देश्यपूर्ण रचना-सौष्ठव का आनन्द ले सकते। टेरेंस ने अपने समय की जनता की रुचि के अनुकूल लिखना स्वीकार नहीं किया। किन्तु शेक्सपीयर की समकालीन सफलता और लोक प्रियता का रहस्य यह था कि वह अपने समय की लंदन की जनता के अनुकूल नाट्य-रचना कर पूर्ण आत्माभिव्यक्ति करने मे समर्थ थे। इसका मूल इस बात में है कि जागरूक कलाकार बिना किसी हिचक के अपने ऊपर लगाए गए अपने सामाजिक प्रतिबंधो या आकांक्षाओं को स्वीकार कर लेता है लेकिन उसकी कला इस बात मे होती है कि उन मार्ग बाधाओ को मार्ग के सोपानों में परिणत कर लेता है और कला के उच्च स्तरों तक पहुंच कर ऐसे मूल्यों का ही प्रतिपादन करता है जो प्रभाव मे हितकारी ही होते हैं।

उसी एक ही समाज में युग के परिवर्तन के साथ सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन हो जाता है। प्राचीन काल के नाटककारों के बहुत से ऐसे कथा भाव आज उसी समाज में अग्राह्य हैं क्योकि मूल्यों के परिवर्तन के कारण आधुनिक दर्शकों को उनसे कोई सहानुभूति नहीं हो सकती। यूनान का प्रसिद्ध प्रथम यथार्थ-वादी नाटकार यूरिपिडीज (५ वीं शताब्दी ई० पू०) के 'आलसेस्टिस' की मधुर करुणा आज उसी-समाज के लिए पति की उस निंदनीय तत्परता के कारण खंडित हो जाती है जिससे वह अपनी स्नेहमयी पत्नी को अपने लिए मर जाने देता है, परन्तु उस समय की यूनानी जनता के लिए पति का यह व्यवहार जरा भी निंदनीय नहीं था। वे राज्य के लिए पुरुष नागरिक का इतना महत्व समझते

थे कि पुरुष के लिए उसकी पत्नी के आत्मोत्सर्ग में उन्हें कोई अनौचित्य नहीं दिखाई देता था। युरिपिडीज के ही नाटक 'मीडिया' में पति के विश्वासघात का प्रतिशोध लेने के लिए बच्चों की निर्मम हत्या को आज नितान्त घृणास्पद माना जायगा।

होमर की कविताओं के रचनाकाल तक यूनानी जनता में एक विश्वास प्रचलित था कि जहाजी बेड़े के प्रस्थान के समय कुमारी कन्या की बलि देने से हवाएँ अनुकूल रहती हैं। एथेन्स के दर्शक जो डायोनीसियस की रंगशाला में बैठते थे, उनके लिए अपने नाटकों में इसे स्वीकार करना कठिन नहीं था परन्तु आधुनिक समाज को इस प्रकार के अन्धविश्वासों से कोई सहानुभूति नहीं हो सकती। शेक्सपीयर स्वयं चाहे भूत-चुड़ैलों में विश्वास करते हों या नहीं परन्तु वे जानते थे कि उनके दर्शकों को इन अतिमानवी प्राणियों और प्रेतच्छायाओं के अस्तित्व में कोई संदेह नहीं है। इसी से जहाँ अवसर हुआ अपने नाटकों में इनका प्रयोग करने में कभी हिचक नहीं की। कोई आधुनिक नाटककार विषय का निरूपण करते हुए प्रेत अथवा चुड़ैल का आह्वान करने का साहस नहीं कर सकता, क्योंकि उनके समकालीनों को उन पर विश्वास नहीं। आज हम टेलीपैथी अथवा मानसिक चिकित्सा के संदर्भ में इससे विचित्र बातों को स्वीकार कर सकते हैं, परन्तु यह नहीं मान सकते कि एक कन्या की बलि का सागर के तूफानों पर प्रभाव पड़ सकता है या कोई प्रेतच्छाया अपने पुत्र को अपनी हत्या का प्रतिशोध लेने का आदेश देने अथवा अपने घातक को अपने रक्त सने केशों से डराने के लिए पृथ्वी पर आ सकती है।

इस सबका कारण यह है कि नाटक में सामुदायिकता का तत्व अन्य साहित्य या कला रूपों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित है। सब कलाओं में नाटक अधिक लोकतन्त्रात्मक है, क्योंकि जन समूह के बिना उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। नाटक जन-समूह का ही क्रिया-व्यापार है। यदि नाटक केवल एक जाति, एक वर्ग या श्रेणी को ही आकर्षित करने को सोचता है तो उसे कभी सफलता नहीं मिल सकती; वह तो संस्कारों की विभिन्नतावाले एक समूचे समुदाय की कला होनी चाहिए। ब्रैंडर मैथ्यूज का कथन है कि "नाटक को अभिजातीय आधार पर संगठित करने के प्रयत्न की असफलता निश्चित

है और साधारण जन से विलग करने के प्रत्येक प्रयत्न ने इसे शक्तिहीन ही बनाया है। यह खेद जनक बात है कि कभी-कभी नाटककारों ने अपने नाटकों की रचना सामान्य लोगों की रंगशालाओं को छोड़कर केवल अभिजात वर्ग की रुचियों के अनुकूल करके संतोष कर लिया। यह बात हर व्यक्ति के लिए अच्छी है, सच्चे नाटककार के लिए तो और भी कि वह जीवन क्षेत्र में जाकर सामान्य जन से मिले।'[१]

नाटक का दर्शक-वर्ग एक समूह होता है और सभी समूहों की तरह इसमें भी अपनी विशेषताएं होती हैं। नाटककार सम्भावित दर्शकों के समूह को ध्यान में रखकर ही नाट्य रचना करता है। प्रत्येक समूह ऐसे व्यक्तियों का बना होता है जो समूह रूप में होने के कारण अपनी कुछ व्यक्तिगत विशेषताएँ और स्वार्थ भूल जाते है और कुछ ऐसी विशेषताएँ और स्वार्थ जो दूसरे व्यक्तियों में भी होते है, उनके प्रति अधिक सजग हो जाते है। नाटक का दर्शक-वर्ग भी एक समूह होता है और उसकी अपनी सामूहिक विशेषता इस बात में निहित होती है कि वह मनोरंजन और आनन्द की इच्छा से एकत्र होता है। राजनीतिक सम्मेलनों की भांति उसका कोई गंभीर प्रयोजन नही होता, इसी से यह समूह उपदेश या निर्देश नहीं सुनना चाहता। यही कारण है कि महान नाटककारों ने कभी उपदेश देना नही चाहा। उन्होंने जीवन को उसी रूप में प्रस्तुत कर दिया, जैसा उसे देखा। मानवीय अस्तित्व की असीम जटिलता में से एक या दूसरे पक्ष को प्रस्तुत किया, जिससे दर्शक उसमें स्वयं ही जो निष्कर्ष चाहें, निकाल लें। कोई भी नाटककार दर्शन के क्षेत्र में अग्रणी नहीं हुआ। महान नाटककारों के लिए यह तथ्य उनकी शक्ति थी कि वे अपने समय से बहुत आगे बढ़े हुए नही थे। उनके मत समकालीनों के ही मत थे। लैतनू का कथन है, "नाटकीय कला अनिवार्य रूप से सामूहिक साहित्य है और समूह के लिए होती है। इसलिए उसके स्वीकृत मतों में समाज में प्रचलित विचारों से अधिक और कुछ नही अभिव्यक्त किया जा सकता।"

नाटक का समूह भीड़ का दूसरा नाम नही है। भीड़ अनियंत्रित और अनिर्दिष्ट लक्ष्य वाली होती है। किन्तु नाटक का समूह नियंत्रित और निर्दिष्ट

१. नाटक साहित्य का अध्ययन, अनुवादक इंदुजा अवस्थी।

लक्ष्य पूर्ण । समूह समुदाय का औसत होता है । दर्शक, समूह अपने समाज के सदस्यों के मुख्य वर्गों का प्रतिनिधि होता है । प्रत्येक समूह की अपनी एक आत्मा होती है, जो सभी उपस्थित व्यक्तियों की आत्मा का योग मात्र नही होती । उसमे अपने समुदाय या समाज की आकांक्षा का प्रतिनिधित्व रहता है । नाटककार की कला और प्रतिभा इसी में होती है कि वह इसे पहचान और उसके अनुकूल रचना करे । परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि किसी भी युग में नाटक का स्वरूप वही होता है जो वहाँ की जनता को स्वीकार्य होता है । एथेन्स के स्वर्ण युग में यूनानियों ने उच्चतम त्रासदी की उपलब्धि की और रोम के पतन के दिनों में नाटक अश्लील और आवेगपूर्ण मूक नाटक मे बदल गया ।

चूँकि दर्शकों का समूह एक नियत समय के लिए और समान उद्देश्य को लेकर संघटित होता है, अतः दर्शकों की प्रतिक्रिया व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होती है । व्यक्तिगत की अपेक्षा समूह के सदस्य रूप में दर्शक की मनःस्थिति बहुत भिन्न हो जाती है । समूह के सदस्य के रूप में व्यक्ति अपेक्षाकृत बौद्धिक कम और संवेगात्मक अधिक हो जाता है । दर्शक की समूह मे ग्रहणशीलता, उत्सुकता, सहनशीलता और निर्देश ग्रहण करने की क्षमता बहुत बढ़ जाती है । उसके सदस्यों का सामान्यीकरण भी हो जाता है अर्थात् दर्शकों की व्यक्तिगत विभिन्नताओं की मात्रा कम और समानताओं की मात्रा अधिक हो जाती है । समाज द्वारा मान्य स्थापनाओं का दबाव बढ़ जाता है । ऐसी स्थिति में दर्शक उन तत्वों का विरोध नहीं कर सकता है जो उसे व्यक्तिशः पसन्द नहीं है । व्यक्ति जब किसी समूह का अंग बनता है तब उसकी व्यक्तिगत सत्ता का अधिकांश लुप्त हो जाता है । उसके अवचेतन मे यह धारणा बन जाती है कि जिसे कोई अकेला नहीं देख सकता । फलस्वरूप समूह की प्रतिक्रियाएँ अधिक तीव्र हो उठती है । समूह में व्यक्ति के सामाजिक घुलन का नतीजा यह होता है कि वह समूह यदि किसी निषेधात्मक (Toboocd) क्रिया में संलग्न होता है तो वह इस एक निरंतर प्रक्रिया मे बँध जाता है और नाटक की सामूहिक आस्वादन की प्रक्रिया के साथ प्रारम्भ से अन्त तक संलग्न रहता है । वस्तुतः सामूहिक आस्वादक की यह

प्रक्रिया मनोविज्ञान का विषय है और इस दृष्टि से उस पर और विस्तार से विचार किया जा सकता है।

हीगेल का विचार है कि "कवि जनता के लिए, विशेष रूप से अपने राष्ट्र और अपने युग की जनता के लिए सृजन करता है। अतः कलाकृति ऐसी होनी चाहिए कि वे उसे बुद्धिमत्तापूर्वक समझ सके और उसमें अपनापन अनुभव कर सकें।" हीगेल का यह विचार नाटक पर अधिक गंभीरता से लागू होता है। नाटक निश्चित रूप से दर्शकों के लिए लिखा जाता है। सामान्यतया सफल नाटक की दर्शक संख्या पाठक संख्या से कई गुनी अधिक होती है और प्रत्येक दर्शक नाटक देखने का मूल्य पुस्तक के मूल्य से अधिक देता है। उस मूल्य के बदले दर्शक कोई भौतिक वस्तु नहीं पाता, पाता है केवल एक अनुभूति। यह अनुभूति उसके सांस्कृतिक दाय की होती है। अतः दर्शकों में अनुभूति की सृष्टि करना ही नाटककार का उद्देश्य है। किन्तु यही उद्देश्य उसके माध्यम का एक अनिवार्य अंग भी बन जाता है। माध्यम के रूप में दर्शकों की अपनी समस्याएँ, शक्तियाँ और सीमाएं हैं। जिससे नाटककार की रचना प्रक्रिया प्रभावित होती है। चित्रकार या प्रगीतकार भले ही ग्राहकों की उपेक्षा करते हुए नितांत वैयक्तिक कृतियों का निर्माण कर दे किन्तु यदि नाटककार यह प्रवृत्ति अपनाता है तो मानो वह उसी माध्यम को अस्वीकार करता है जिसमें वह काम करना चाहता है। अतः सफल नाट्य रचना के लिए यह आवश्यक है कि नाटककार अपने दर्शकों का पूरा-पूरा ध्यान रखे।

इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य दर्शकों की अनुभूति का स्पर्शण है। नाटककार को सदा सजग रहना चाहिए कि नाटक किस प्रकार दर्शकों के मन में उन अपेक्षित अनुभूतियों को जगा देता है जिनका आस्वादन दर्शक मूलतः करना चाहता है। इस अनुभूति प्रक्रिया का विश्लेषण संसार के अनेक कला और साहित्य मनीषियों ने किया है और इस सम्बन्ध में अनेक स्थापनाएं की गई हैं। रस और साधारणीकरण, विरेचन (Catharsis), तदाकार परिणति (Ampathy), रसान्तर्य (Aesthetic distance) एवं तादात्मीकरण (Identification) की स्थापनाएं इस दिशा में महत्वपूर्ण उपलब्धियां हैं। हीगेल ने सामान्य मानवता के उस नित्य तत्व को जिसके

प्रति दर्शक प्रतिक्रिया करता है और जो अनिवार्य रूप से नाटक में उपस्थित रहता है, 'इच्छा' कहा है। सुश्री गैलावे ने दर्शकों की अनुभूति प्रक्रिया के क्रमिक चरणों का बड़ा सरल विवेचन प्रस्तुत किया है: दर्शकों के मन में सर्वप्रथम नाटक के किसी एक या अनेक चरित्रों के प्रति दिलचस्पी पैदा होती है। फिर यह दिलचस्पी सहानुभूति में बदल जाती है, सम्भवतः उन क्षणों में जिनमें नायक किसी गहरी इच्छा या आवश्यकता की अभिव्यक्ति शक्तिशाली ढंग से कराता है। जब इस इच्छा की पूर्ति बाधित होती है तो रंग प्रक्रिया में एक तनाव आ जाता है जो क्रमशः बढ़ता जाता है। इसी बीच दर्शकों की व्यक्तिगत इच्छाओं का उदात्तीकरण (Sublimation) होता है अर्थात् अपने उद्देश्य को पाने की नायक की इच्छा में दर्शकों की इच्छाओं की परिणति और उसका केन्द्रीकरण होता है। इस प्रकार दर्शकों का नायक के साथ कम से कम उसकी इच्छा के साथ तादात्मीकरण हो जाता है और अंत में जब कि नायक अपने उद्देश्यों को पाने में सफल या असफल होता है तो दर्शकों को चरम अनुभूति (Climax) जनित संतोष होता है। निष्कर्ष रूप में गैलावे ने दर्शकों के दृष्टिकोण से नाटक की ३ आवश्यकताएं बताई हैं। रंगस्थल में दर्शकों को अभिभूत कर देनेवाली पहली वस्तु विचार, संवेगों अथवा भावों की उत्पत्ति या उद्देश्यहीन क्रियाएँ नहीं हैं, वरन् वह है 'इच्छा', अपने व्यक्तित्व को प्रतिष्ठापित करने के लिए व्यक्ति का प्रयत्न और इस प्रतिष्ठापन द्वारा अपने परिवेश (Milieu) में अपने संगतिपूर्ण स्थान की प्राप्ति। दूसरी वस्तु, इसके लिए वह जिन क्रियाओं को अपनाता है, वह नाटकीय क्रिया है। तीसरी वस्तु जो कि नाटककार की उद्दिष्ट कृति है, वह है नाटकीय अनुभूति (Climax)। यह अनुभूति अभिनय के मध्य भंग की गई संगति के रंगमंच पर पुनर्स्थापन द्वारा दर्शकों के मन में उत्पन्न संतोष की गहरी अनुभूति है।[1]

---

१. "आलोचना" त्रैमासिक, जुलाई १९६४, लेख-रंगमंच : एक माध्यम', कुँवर जी अग्रवाल।

७

रंगमंच का विकास और समाज

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि शेली ने एक स्थल पर कहा है, "काव्य का समाज के कल्याण के साथ जो सम्बन्ध है, वह नाटक में सबसे अधिक दिखाई देता है। इस बात में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि समाज जितना ही उन्नत होता है उसकी रंगशाला उतनी ही उन्नत होती है। यदि किसी समय बहुत ही उच्चकोटि के नाटक रहे हों और बाद में उन नाटकों का अंत हो गया हो तो समझना चाहिए कि इसका कारण उस देश का उस समय का नैतिक पतन है। वास्तव में रंगशाला और नाटकीय आदर्शों के साथ किसी देश की सभ्यता, संस्कृति अथवा नैतिकता की यह तुलना परम उपयुक्त प्रतीत होती है क्योंकि नाट्यकला वह सर्वश्रेष्ठ कला है जिसके द्वारा किसी देश के आचार-विचार, रहन-सहन, भाषा-जनरुचि, सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक स्थिति आदि बातों का परिचय आसानी से प्राप्त हो सकता है। कोई भी नाटककार अपने देश के सामाजिक, राजनीतिक, एवम् धार्मिक आदर्श के ही आधार पर सोचता और लिखता है, तथा किसी भी रंगमंच का निर्माण, तत्कालीन समाज की आर्थिक स्थिति, राज नीति, जनरुचि और कलात्मक एवम् प्राविधिक स्तर के आधार पर ही होता है। एक ओर जहाँ किसी मैदान में चबूतरे या चौकी पर कुछ लोगों द्वारा विभिन्न प्रकार के चेहरे (मुखौटे) लगाकर नाटक करते देखकर हम यह कह सकते हैं कि यह अर्द्ध विकसित, अल्प सम्पन्न और साधनहीन समाज की स्थिति का परिचायक है वहीं बड़े से बड़े, भयानक या असंभाव्य दृश्यों की योजना करनेवाले, चक्रिल रंगमंच ऊपर नीचे उठाए और गिराए जाने वाले रंगमंच एवं दर्शकों की अधिकाधिक सुविधा की दृष्टि से बने रंगमंच समाज की समृद्धिपूर्ण विकसित अवस्था के द्योतक हैं। आज रूस, अमेरिका, इंगलैण्ड, जापान आदि वैज्ञानिक और आर्थिक प्रगति में अग्रगण्य देशों के पास जैसी बड़ी बड़ी साधन सम्पन्न रंगशालाएं हैं वैसी एशिया या अफ्रिका के देशों के पास क्यों नहीं ? वास्तव में यह इसी बात का पर्[illegible] है कि

जो राष्ट्र जितना ही विकसित होगा उसके नाटक और रंगशालाएं उतनी ही विकसित होंगी।

व्यक्ति की अभिवृत्तियां और सामाजिक पूर्ति

समाजशास्त्र का विद्यार्थी किसी तथ्य का अध्ययन यह मानकर करता है कि व्यक्ति अपनी अभिप्रेरणाओं को अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक स्थिति के अनुसार पूर्ण करता है। अभिप्रेरणाओं की पूर्ति के स्वरूपों का अध्ययन ही तत्कालीन समाज की संस्कृति का अध्ययन होता है। जैसे हड़प्पा की खुदाई मे प्राप्त उस युग के बर्तन तथा अन्य प्रसाधन सामग्रियों, एलोरा, अजन्ता और खजुराहो के भित्ति-चित्रों, मूर्तियों, और शिल्प कला के अध्ययन से हम उस युग के सामाजिक दर्शन, रहन-सहन के तरीके आदि का पता लगाते हैं वैसे ही ई० पू० ३०० में भरत नाट्यशास्त्र मे वर्णित भारतीय नाट्यशास्त्र के स्वरूपों तथा यूनानी नाटककार यूरिपिडीज (५ वीं शती ई० पूर्व) के समय के डायोनिसियस देवता के पूजास्थल, जो रंगशाला मे परिणत कर लिए जाते थे, के अध्ययन से हम तत्कालीन सामाजिक दर्शन, भौतिक सम्पन्नता, व्यक्ति की अभिप्रेरणाओं कलात्मक स्वरूपों आदि का परिचय पा सकते है। तत्कालीन रंगमंचों के प्रकार, उनकी निर्माण प्रक्रिया एवं व्यवस्था के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारतीय अथवा यूनानी समाज की कलात्मक अभिरुचि अत्यंत उच्चकोटि पर पहुंची थी, वे अपनी मनोरंजन संबंधी आवश्यकता की पूर्ति के लिए जिन नाटकों का अभिनय करते थे उनके लिए अत्यंत परिष्कृत तरीको से निर्मित रंगशाला की आवश्यकता होती थी। भरत के अनुसार हमारे यहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के छोटे बड़े नाटकों के प्रदर्शन और उनके दर्शकों की सामाजिक स्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न नाट्यगृहों की आवश्यकता होती थी। बहुत बड़े नाटकों के प्रदर्शन के लिए, जिसके दर्शक प्रायः राजकुल के लोग हुआ करते थे, विकृष्ट नाट्यशाला और मध्यम कोटि के बड़े नाटकों के अभिनय के लिए चतुरस्त्र नाट्यशाला की आवश्यकता होती थी जिसमें सामाजिक स्थिति के अनुसार सभी वर्ग के लोगों के बैठने की व्यवस्था होती थी। कुलीन-धनी व्यक्ति अपने वैयक्तिक मनोरंजन के लिए घरों मे ही छोटी सी त्रिभुजाकार नाट्यशाला रखते थे। आज भी हमें कहीं त्रिभुजाकार नाट्य-

शाला नहीं दिखाई पड़ती। यह इस बात का प्रतीक है कि तत्कालीन समाज के लोगों की कलात्मक मनोविनोद की अभिरुचि अत्यंत विकसित थी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाट्य-रंगमंच का विकास मानव के सामाजिक विकास के साथ जुड़ा हुआ है। यूनान और भारत दोनों ही देशों की प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं मे नाट्यकला का प्रमुख स्थान रहा है। आज भी जो देश जितने ही सम्पन्न हैं, उनके पास उतनी उन्नत नाट्य रंगमचीय सम्पदा है। नाटक दृश्य कला है और रंगमंच से उसका अविभाज्य संबंध है।

अभिव्यक्ति का माध्यम और सम्प्रेषण

इसलिए नाटक और रंगमंच किसी देश की विकासशील सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक कहे जाते हैं। जिस देश मे नाट्य-रचना की परम्परा जितनी ही विकसित होगी उस देश की रंगमंचीय निर्माण कला भी उतनी ही विकसित होगी। जहाँ नाटक किसी समाज के सैद्धांतिक आदर्शों का प्रतीक है वहीं रंगशाला उस समाज की कला, राजनीतिक सुविधा, आर्थिक सम्पन्नता जनरुचि और स्वयं नाट्य रचना के आदर्शों का द्योतक है। यह भ्रम हो सकता है कि रंगमंचीय कला नाट्य से भिन्न कला है। वास्तव मे नाट्य कला के दो भेद हैं, एक नाट्य रचना की कला और दूसरी रंगमच निर्माण की कला। रंगमंच ही वह नैतिक आधार है जिसे ध्यान में रखकर आदर्श मानकर ही कोई नाटक लिख सकता है। नाटक वह कला है जिसकी सफलता का परीक्षण रंगमंच पर होता है और रंगमंच युग-विशेष की जन-रुचि और तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर निर्मित होता है। नाटक दृश्य-काव्य है, प्रदर्शन उसका प्रधान गुण है और प्रदर्शन का प्रमुख माध्यम है रंगमंच। नाटक का मूल उद्देश्य प्रदर्शन ही होता है और प्रदर्शन के लिए जितनी आवश्यकता सफल अभिनेता की होती है उससे कहीं अधिक रंगमंच की क्योंकि बिना रंगमंच के नाटकीय अभिनय का कोई अर्थ नही। नाटकीय अभिनय का नाम लेते ही किसी न किसी रंगमंच का दृश्य सामने उपस्थित हो ही जाता है। रंगमंच माध्यम है नाटकीय कथावस्तु के प्रस्तुतीकरण और अभिनय का। किसी भी कला का रूप निर्माण उसके माध्यम की आधारशिला पर ही होता है। माध्यम ही कलाकार की भावना को आकार देता है। कला की उत्कृष्टता का पूर्ण प्रभाव उसके माध्यम

की सम्भावनाओं का पूर्ण और सफल उपयोग है किसी भी कला की प्रकृति को समझने के लिए उसके माध्यम की सीमाओं और शक्तियों का पूर्ण परिचय आवश्यक है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह इसलिए आवश्यक है कि कलाकार अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए जिन माध्यमों का सहारा लेता है, सामाजिक मूल्यों को प्रकट करने में उनकी सीमाएं कहाँ तक सक्षम हैं। चित्रकला का रंग, रेखा और आकारों द्वारा मनुष्य की संवेदना को प्रभावित करने की क्षमता, मूर्ति कला में मिट्टी, धातु आदि द्वारा अभीष्ट भावों की सम्प्रेषणता, संगीत की ध्वनि लहरियाँ या काव्य की शब्द और प्रतीक योजना तथा नाटक का अभिनेता और रंगमंचीय विधान अपने अन्तर्भूत भावों को किस सीमा तक प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत करता है। भोक्ता अथवा दर्शक के मर्मस्पर्शण (Appeald) की उसमें कितनी क्षमता है, इस बात का अध्ययन भी कला की अन्तर्वस्तु (Content) के विश्लेषण के लिए आवश्यक है। प्रत्येक कला-रूपों का कलाकार अपनी सर्जनात्मक कल्पना की अभिव्यक्ति के लिए अपने माध्यम के साथ घनिष्ठता स्थापित करता है, मूर्तिकार पत्थर जैसे कठोर माध्यम के द्वारा भी कोमलतम भावनाओं की अभिव्यक्ति करने मे पूर्ण सफल होता है, लेकिन इस सफलता का जितना विस्तार नाटक और उसके माध्यम अभिनय-रंगमंच के साथ जुड़ा है उतना किसी अन्य के साथ नहीं। क्योंकि इसमे मानवीय चेतना सदैव जीवित ढंग से संवेद्य और सम्प्रेषित होती है, जो बात हाव-भाव से, मूक अभिनय से स्व नहीं हो पाई, उसे वाणी द्वारा, रंगसज्जा द्वारा समझाने की सरल क्षमता नाटक में ही है। नाटक का माध्यम रंगमंच है और नाटककार अपने रंगमंच की क्षमता के ही आधार पर नाटक की रचना करता है। बिना रंगमंच की आवश्यकता का अनुभव किए जो नाटक प्राचीन काल मे या आज एक स्थान से दूसरे स्थान पर पैदल यात्रा करते हुए खेले जाते हैं, प्रभावान्विति की दृष्टि से अपूर्ण और अविकसित होते थे। रंगमंच युग की अभिवृत्तियों, सामाजिक स्थितियों और आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं के अनुसार निर्मित होते हैं, फलस्वरूप उस सम्पूर्ण समाज की वास्तविक स्थिति के परिचायक होते हैं। इस आधार पर उस समाजों अथवा युगों में जहाँ रंगमंच का अभाव रहा, या है, वह उसकी समाजिक अविकसित अवस्था का द्योतक है। आरम्भिक अवस्था मे

नाटकों का अभिनय खुले मैदानों में घूमते हुए होता था। परन्तु समाज विकसित हुआ तो नाटकों के अभिनय के लिए मंदिर या चबूतरों आदि। उपयोग होने लगा। सभ्यता के विकास के लोगों की कलात्मक अभि-रुचि में भी वृद्धि हुई और नाट्याभिनय के लिए मंदिर अथवा चबूतरों के स्थान पर राजभवन या स्वतंत्र भवन का प्रयोग होने लगा जिसे रंगशाला कहा जाता था। तात्पर्य यह कि रंगशाला का निर्माण इस बात का प्रतीक है कि समाज की सभ्यता के विकास और रंगमंचीय कला में एक रूपता है। प्रारम्भिक अवस्था में रंगमंचीय खुला मैदान किसी मन्दिर का कोई चबूतरा या टीला ही हुआ करता था परन्तु एक ही स्थान पर किसी भी समय और स्थिति में दर्शकों को सभी सुविधायें प्रदान करते हुए कलात्मक रूप से अनेक घटनाओं और दृश्यों का अभिनय किया जाता एक बड़ी खोज की चीज थी।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि नाटक का सम्पूर्ण कार्य-व्यापार रंगमंच पर होता है और रंगमंच का विकास मानव समाज के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। रंगमंच की दृष्टि से सफल नाट्य ही सामाजिकों के बीच अंतः सम्बन्ध स्थापित करनेवाले सदेहवाहन का सफल माध्यम हो सकता है। इसी सामाजिक महत्व की दृष्टि से भारत और यूनान की रंगशालाओं का संक्षिप्त विवेचन यहाँ करूँगा।

भारतीय रंगशाला और समाज

भारत और यूनान दोनों की प्राचीन सांस्कृतिक निधियों में नाट्य-कला का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इतिहास में संस्कृति सभ्यता के अभ्युदय की दृष्टि से चार देशों का महत्वपूर्ण स्थान है—भारत, मिश्र, यूनान और चीन। परन्तु इन चारों में जिन देशों ने संसार के मानव ज्ञान को व्यापक रूप से प्रभावित किया वे हैं भारत और यूनान। ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से ये दोनों देश बहुत समय तक विश्व की सभ्यता के गुरु के रूप में देखे गए। अतः ये ही दोनों देश कलात्मक वैभव की दृष्टि से संसार के सिर मौर रहे। नाट्य कला का विकास पहले भारत में हुआ या यूनान में यह विवादास्पद विषय है किन्तु नाट्यकला की दृष्टि से ये ही देश सर्वाधिक सम्पन्न थे और जैसा कि पिछले पृष्ठों के विवेचन से स्पष्ट है, नाटक संस्कृति

के अग्रदूत होते हैं। संस्कृति न केवल भाषा है और न ही रीति-रिवाज, रहन-सहन ही, वरन् एक जाति का सम्पूर्ण जीवन ही संस्कृति है और ऐसी ही संस्कृति का प्रतिनिधित्व नाटक में होता है। अतः नाट्याभिनय का भौतिक आधार रंगशाला है और रंगशाला सामाजिक विकास का द्योतक है इसलिए किसी देश के नाट्-रंगमंच के अध्ययन के आधार पर उस देश की सभ्यता और संस्कृति के स्वरूप का भी विश्लेषण किया जा सकता है।

भारत में रंगशाला की स्थिति का सबसे पहला परिचय आचार्य भरत द्वारा रचित 'नाट्यशास्त्र' में प्राप्त होता है। भरत संस्कृत-साहित्य के ही नहीं, विश्व की सभी भाषाओं के प्रथम नाट्याचार्य माने जाते हैं जिन्होंने नाट्य रचना के विभिन्न तत्वों पर सबसे पहले विस्तृत रूप से विचार किया। इनका समय ईसा से ३०० ई० पू० बताया जाता है। इन्होंने नाट्य रचना अभिनय, रंगशाला तथा उससे सम्बन्धित अन्य विषयों पर विस्तृत ग्रंथ की रचना की जिसे देखने से ज्ञात होता है कि अवश्य ही इनके पूर्व नाटक लिखने और खेलने की बड़ी पुष्ट और सुष्ठ परम्परा रही होगी। आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व लिखा गया भरत का नाट्य शास्त्र इतना विस्तृत, पूर्ण और निर्दोष है कि कोई भी सहज अनुमान लगा सकता है कि इसकी रचना के पूर्व भारतीय समाज में नाटकों को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की परम्परा अवश्य रही होगी। संस्कृत और पालि ग्रंथों के विवेचन से ऐसा ज्ञात होता है कि नाटक प्राचीन भारतीय जीवन का अभिन्न अंग था। पाणिनि (भरत से लगभग ३०० वर्ष पूर्व) से लेकर हिन्दी के पृथ्वीराज-रासो (११ वीं शती ई० सन्) तक नाटकों के विवरण प्रायः सभी ग्रंथों में पाए जाते है। कौटिल्यीय अर्थशास्त्र में तत्कालीन जीवन में नाटक के प्रयोग और प्रभाव का व्यापक विवेचन है जिसका वर्णन पिछले अध्याय में हो चुका है।

भारतीय समाज में नाटक के उपर्युक्त ऐतिहासिक महत्व को ध्यान में रखते हुए यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आज से २ या ३ हजार वर्ष पूर्व सामाजिक अंतः सम्बन्धों को स्थापित करने वाले तथा संस्थागत मूल्यों का आदर्श उपस्थित करने वाले नाटकों को खेलने लिए हमारे देश में किस प्रकार के रंगमंच होते थे। रंगमंच समाज के मनोरंजन के साधन होने के

साथ-साथ तत्काल शासक और शासन व्यवस्था की प्रसिद्धि के प्रचार के प्रमुख साधन थे। अतः रंगमंच की सम्पन्नता का अध्ययन कर हम बड़ी आसानी से जान सकते है कि यदि उस काल की मनोरंजन की व्यवस्था इतनी उच्च-कोटि की थी तो सामाजिक जीवन, रहन-सहन का स्तर कितने उच्चकोटि का होगा। भारत के प्राचीन रंगमंचों की स्थिति का विस्तृत और मौलिक विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र में ही मिलता है। इन रंगशालाओं के अध्ययन का सबसे बड़ा महत्व यह है कि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का इनसे ज्ञान होता है।

भरत ने जिस गंभीरता से नाट्य सिद्धांतों की स्थापना की है उसे देख कर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके पूर्व भी नाटकों के अभिनय के लिए रंगशालाएं बनाई जाती होंगी। नाटक एक अभिनय कला है और यदि नाटक के अभिनय की परम्परा न रही होती तो वास्तव में नाटक लिखने और नाटक खेलने के लिए नाट्यशालाओं के निर्माण की इतनी विस्तृत व्यवस्था हमें न प्राप्त हुई होती। भरत द्वारा प्रतिपादित नाट्य सिद्धांत और रंगशाला निर्माण की व्यवस्था इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने अपने समकालीन नाटक सम्बन्धी आवश्यकताओं का विस्तृत अध्ययन अवलोकन कर उन्हें शास्त्रबद्ध किया होगा।

नाट्यशास्त्र में तीन प्रकार की रंगशालाओं का उल्लेख मिलता है। विकृष्ट, चतुरस्त्रय और त्र्यस्त्र। विकृष्ट नाटयशालायें प्रायः बहुत बड़े नाटकों के हेतु उपयुक्त होती थीं जिसमें युद्ध आदि दृश्य दिखाए जाते थे, जैसे देवासुर संग्राम या कौबेररंभाभिसार नाटक। ऐसी नाट्यशालाओं का आकार चूंकि बहुत बड़ा होता था और इनके उपयुक्त बड़े नाटकों की रचना बहुत कम होती थी अतः बहुत कम ही बनती थी। चतुरस्त्रय नाट्यशालों का ही प्रचलन समाज में सबसे अधिक था जो कि राज्याश्रित होती थीं। त्र्यस्त्र नाट्यशालाएं जन सामान्य के व्यक्तिगत उपयोग के लिए होती थीं। सामान्य कुलीन और धनी व्यक्ति मनोरंजन के लिए प्रायः अपने घरों में ही त्र्यस्त्र रंगशाला का निर्माण करा कर छोटे नाटकों का अभिनय कराया करते थे। यह त्रिभुजाकार होती थी। आज भी हमें कहीं त्रिभुजाकार नाट्यशाला देखने को नहीं मिलती। यद्यपि ये तीनों प्रकार की नाट्यशालाएं समाज में प्रचलित थीं किंतु अधिक प्रचार

चतुरस्त्र नाट्यशाला का ही था क्योंकि विकृष्ट नाट्यशालाएं प्रायः बहुत बडी होती थी। इसलिए दर्शकों को पात्रों का अभिनय और संवाद ठीक ठीक नही सुनाई पड़ता था तथा ध्वनि विस्तारक यंत्र जैसा कोई साधन न होने के कारण कठिनाई यह थी कि अभिनेता यदि स्वाभाविक रूप से बोलें तो सभी दर्शक समाज को वह शब्द नहीं सुनाई पड़ता था। इसलिए प्रायः इनका प्रचलन नहीं था। त्र्यस्त्र नाट्यशाला की व्यवस्था प्रायः इस तरह की है कि उसमें बहुत छोटे नाटक खेले जा सकते थे जिनसे बहुत थोड़े लोग (प्रायः दो तीन परिवार के लोग) अपना मनोरंजन कर सकते थे। इसलिए सामाजिक दृष्टि से इनका महत्व कम होता था। इसलिए भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में यही सुझाव दिया है कि सभी दृष्टियों से चतुरस्त्र रंगशाला ही श्रेष्ठ होती है और उसका ही निर्माण उपयुक्त है। यह नाट्य मंडप चौंसठ हाथ लम्बा और ३२ हाथ चौड़ा होता था और इतना ही बड़ा मंडप अभिनेता के अभिव्यक्तिकरण को दर्शक तक पहुँचाने मे उपयुक्त था। बड़े नाट्य मंडप में जो कुछ संवाद बोला जाता था वह वर्णो के स्पष्ट न होने के कारण (अधिक चिल्लाने से) अत्यन्त बेसुरा हो जाता था। अनेक भावों और रसों से युक्त जो अभिनय रंगमंच पर दिखलाना है वह नाट्यघर के बड़े हो जाने से अत्यंत अस्पष्ट हो जाती थी। इसीलिए सब प्रकार के नाट्यघरों में चतुरस्र नाट्यशाला ही श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें गाना बजाना सदा ठीक से सुनाई पडता है।

कितनी वैज्ञानिक और सरल बात है कि नाट्यशाला में सबसे बड़ी बात जो ध्यान रखने की है वह यह कि उसमे होनेवाला सारा अभिनय और सम्वाद वहाँ उपस्थित सभी दर्शकों को आसानी से सुनाई और दिखाई दे। यही बात तो आज की नाट्यशाला या सिनेमा गृह मे मुख्य रूप से ध्यान में रखी जाती है। नाट्यशास्त्र में यह भी व्यवस्था दी गई है कि नाट्यमंडप का आकार पर्वत की गुफा के समान होना चाहिए अर्थात आगे जहाँ दर्शक बैठते हैं वह चौड़ा और ऊँचा हो जो रंगमंच पर पहुँच कर सीपे के समान संकरा हो जाय। इसका लाभ यह था कि रंगमंच पर बोला गया प्रत्येक शब्द प्रेक्षागृह में दर्शकों को बिलकुल साफ और बिना गूंज के सुनाई पड़ेगा।

नाट्यगृह में छोटे-छोटे झरोखे इस प्रकार बनाने की व्यवस्था थी कि उसमें हवा के कारण शब्द न गूँजे, जिससे गाने बजानेवालों के शब्द की गम्भीरता बनी रहे। विंध्य प्रदेश के सरगुजा राज्य में खुदाइयों से जिन सीताबेंगा और जोगीमारा गुफाओं और उसके भीतर बने नाट्य मण्डप का पता चला है वे सभी उपरोक्त व्यवस्थाओं के आधार पर ही बनी दिखाई देती हैं। विद्वानों ने इनका निर्माण काल दो सौ ई० पू० के लगभग ठहराया है।

नाट्यशाला का आधा स्थान अभिनेताओं के अभिनय आदि के लिए सुरक्षित होता था और आधा दर्शकों के लिए। आज दर्शकों के लिए अधिक स्थान रहता है,अभिनेताओं के लिए कम। किन्तु प्राचीन युग में पात्रों को अभिनय के लिए आज की अपेक्षा अधिक स्थान प्रदान करने का यही उद्देश्य होता था कि बड़े से बड़े नाटकों का रंगमंच पर आसानी से अभिनय किया जा सके। इसीलिए उस युग के संस्कृत नाटक बहुत बड़े थे और उनमें इतने अधिक दृश्यों आदि की भरमार होती थी कि आज के बड़े से बड़े रंगमंच पर उसे दिखाना असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन कार्य है। कौवेररम्भाभिसार, मालविग्निमित्रम्, शाकुन्तलम् आदि ऐसे ही बड़े नाटक हैं।

रंगशाला की सजावट की ओर भी खूब ध्यान दिया गया था। शोभा के लिए लकड़ी की बनी हुई पशु-पक्षी और मानव की प्रतिमाएँ रखी जाती थीं, खिड़की जाली दार होती थी और स्तम्भ कामदार होते थे। अनेक प्रकार के पदार्थों का प्रयोग कर दीवार को खूब चमकीला बनाया जाता था।

रंगशाला के निर्माण की पूरी व्यवस्था इतनी वैज्ञानिक है कि वह आज के युग के लिए भी एक चुनौती है। नाप का आधार अणु रखा गया था, और एक-एक अणु तक सही निर्माण की व्यवस्था थी। आज का विज्ञान स्पष्ट ही कहता है कि भवन, विशेषकर ऐसे भवन जो बहुत बड़े बनते हों और जिसमें विशाल जन समुदाय को एकत्र करने की व्यवस्था करनी हो, उसका निर्माण उस स्थल की भूमि, मिट्टी, ऊँचाई-निचाई आदि की पूरी परीक्षा करके ही होना चाहिए। नाट्यशास्त्र में ऐसे व्यवस्थापक को 'विचक्षण' कहा गया है।

नाट्यशाला की वास्तुकारी में स्तम्भों के निर्माण का महत्वपूर्ण स्थान था। ये नाट्य मंडप के सम्बल तो होते ही थे, साथ ही विभिन्न जातियों के बैठने के स्थान-संकेत भी थे। भरत के समय तक हिन्दू संस्कृति में जातिवाद पूरी तरह से पनप चुका था और उसके समाज विघटनकारी परिणाम भी दिखाई पड़ने लगे थे। जातिवाद के दुष्परिणाम को रोकने और समाज के सभी वर्गों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए ही भरत ने 'नाट्यवेद' की उत्पत्ति की बात कह कर सार्ववर्णिक सिद्धांत की स्थापना की। नाटक एक ऐसा वेद माना गया जिसका आनन्द द्विजों के साथ शूद्र भी प्रेक्षागृह मे बैठ कर ले सकें। सभी वर्णों के लिए अलग-अलग स्थान निश्चित थे जिसका संकेत स्तम्भों से ही प्राप्त होता था। इस व्यवस्था के आधार पर वर्णों के लिए स्तम्भों का स्थान निश्चय एवं नामकरण भी कर दिया जाता था। सबसे पहले पूर्व-दक्षिण की ओर ब्राह्मणों के बैठने के लिए सफेद रंग का ब्राह्मण-स्तम्भ,' पश्चिम-दक्षिण की ओर लाल रग का 'क्षत्रिय-स्तम्भ,' पश्चिम-उत्तर में पीले रंग का 'वैश्य-स्तम्भ' और पूर्व उत्तर में नीले रंग का 'शूद्र-स्तम्भ' स्थापित होता था। विदेशियों के लिए भी थोड़े से स्थान की व्यवस्था थी।

भरत के नाट्यशास्त्र का सूक्ष्म विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि नाट्य रचना और अभिनय के पीछे महान उद्देश्य कार्य कर रहा था। यह भारतीय समाज व्यवस्था को दृढ़ता प्रदान करने का दूरदर्शी समाज-सेवियों का एक क्रांतिकारी कदम था। प्रतीत होता है कि महाभारत काल के बाद भारतीय समाज व्यवस्था विश्रृंखलित होने लगी थी।[1] वैदिक समाज मे शूद्रों के लिए कोई स्थान नहीं था। वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज मे पर्याप्त रूढ़ हो चुकी थी और समाज में वर्ग वैषम्य तथा उसके कारण संघर्ष उठ रहे थे, जिससे उनमें विक्षोभ हो चला था। समाज में व्यापक शिक्षा का जन्म हो गया था किंतु सभी को शिक्षा प्राप्ति का अधिकार नहीं था और शिक्षित तथा परिष्कृत रुचि के अभाव में उनके लिए आनन्द का

---

१ नाट्यशास्त्र, १/६।

२ नाट्यशास्त्र, १।१०४-११८।

कोई उपयुक्त माध्यम शेष नहीं रह गया था। इन सब सामाजिक उपेक्षाओं और दमन की नीतियों के कारण निम्न वर्ग में तीव्र असंतोष हो गया था। जिसे समाज के विचारशील उदार जन भली भाँति देख रहे थे। इसलिए कुछ जागरूक व्यक्तियों की ओर से इन स्थितियों को समाप्त कर मानवता की स्थापना करनेवाले आदर्श साहित्य की मांग होने लगी थी।[२] इस सांस्कृतिक और सामाजिक विघटन को दूर करने के लिए राष्ट्रीय नेता के समक्ष यह प्रश्न अवश्य ही उत्पन्न हुआ होगा कि ऐसी स्थिति में कौन सा उपाय हो सकता है जिसके द्वारा भारत की समस्त जनता, ऊँच-नीच, आर्य-अनार्य विद्वान-मूर्ख ऐसे मंच पर उपस्थित किए जाएं जिससे उनमें संगठन और और एकता की भावना पुनः आ जाय और भेद-भाव दूर हो। इस समस्या को सुलझाने में यदि धर्म असफल रहा तो कला ने अपना हाथ आगे बढ़ाया। इस क्षेत्र में नाट्य कला ने सर्वाधिक व्यवहार्य और सफल योग दिया और इस कार्य का सारा दायित्व अर्थात भारतवर्ष की विभिन्न जातियों में सांस्कृतिक एकता उत्पन्न कराने का श्रेय 'नाट्यशास्त्र' के प्रणयिता आचार्य भरत को ही है। भरत ने ही सर्वप्रथम भारत की सांस्कृतिक एकता के अमोघ साधन के समुचित उपयोग का स्वप्न देखा। तत्कालीन स्थिति के आधार पर कुछ ऐसा चाहते थे जिससे निम्न जातियों की उपेक्षा की बात समाप्त हो और सभी को एक समान सुख और शांति प्राप्त हो,। भरत ने समय की आवश्तकता के अनुसार नाट्यशास्त्र की रचना की और बताया कि नाटक ऐसी कला है जिसका आनन्द समाज के सभी वर्ग समान रूप से ले सकते हैं और सभी के लिए यह धर्म, अर्थ, यश और सदुपदेश देनेवाला है। समाज की प्रबल मान्यता दिलाने की इच्छा से नाट्य शास्त्र को वेदों के समकक्ष रखकर 'नाट्यवेद' या 'पन्चमवेद' कहा गया। इससे यह पता चलता है कि नाटक की उत्पत्ति विशेष सामाजिक चेतना का परिणाम थी और उसे वेद के समकक्ष रखना यह सिद्ध करता है कि तत्कालीन शूद्र और द्विज वर्गों के संघर्ष को कुण्ठित कर, सबको सामूहिक उन्नति का मार्ग दिखाकर सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने का रहस्य इसमें निहित था। इससे सब ओर जहां मनोरंजन के साथ साथ निम्न वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रकट की गई वहीं इसके कथावस्तु के तथ्यों के द्वारा ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था तथा सांस्कृतिक नाटकों का प्रचार होता रहा जिसके लिए

नाटकों का कथानक अभिजात्य वर्ग के ख्यात वृत्त ही होते थे, तथा रंगशाला मे प्रेक्षकों के सामाजिक संस्तरण (जाति व्यवस्था) के ही अनुसार बैठने का विधान था। सार्वजनिक दृष्टिकोण होते हुए भी सामाजिक स्थिति और जाति व्यवस्था का पूरा ध्यान रखा गया और सभी वर्गो के बैठने के लिए रंगशाला मे अलग अलग स्थान और संकेत निश्चित किए गए। स्तम्भों का निर्माण और उनकी रंग व्यवस्था इस बात का प्रतीक है कि ये स्तम्भ नाट्यगृह के सहारा तो थे, ही साथ ही एक विशेष सामाजिक व्यवस्था के निर्देशक भी थे। जातियों के बैठने का स्थान स्तम्भों के रंगों से निर्दिष्ट कर दिया जाता था। चूंकि भारतीय समाज में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ जाति मानी गयी है, इसलिए इनके बैठने का स्थान सबसे आगे वाले स्तम्भ के निकट रखा गया। जातीय गौणता के अनुसार क्षत्रियों और वैश्यों के पीछे शूद्रों को बैठने का निर्देश था। वर्णों के आधार पर स्तम्भों का स्थान निर्माण और नामकरण भी किया गया। सबसे पहले पूर्व-दक्षिण की ओर सफेद रंग जहां ब्राह्मण बैठते थे, उसका नाम 'ब्राह्मण स्तम्भ', लाल रंग का स्तम्भ 'क्षत्रिय-स्तम्भ', पीले रंग का वैश्य-स्तम्भ और नीले रंग का 'शूद्र स्तम्भ' कहलाता था। रग का निर्देश भी पूर्णतया भारतीय सिद्धांत से प्रभावित है सफेद रंग सर्वोत्तम माना गया है जो सात्विक गुणों से युक्त होता है, इसीलिए सात्विक प्रवृत्ति वाली ब्राह्मण जाति के लिए निर्दिष्ट था। इसी प्रकार लाल रंग सफेद की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण और राजसी प्रवृत्ति का माना गया है जो क्षत्रिय जाति वालों का प्रतीक था। नीला रंग सबसे निम्न श्रेणी का माना जाता है जो सबसे निम्न जाति वाले शूद्रों के लिए निर्दिष्ट थ। [९] इस प्रकार स्पष्ट है कि जाति क्रम के अनुसार आगे पीछे की व्यवस्था के साथ ही रंग की श्रेष्ठता को भी जातीयता से सम्बन्धित कर दिया था। स्तम्भों की नींव में जो धातुएं तथा अधातुएं रखी जाती थीं उनमें भी जातीय संस्तरण के महत्व का ध्यान रखा जाता था जैसे ब्राह्मण स्तम्भ की नींव मे सोना और शूद्र की नींव में लोहा डाला जाता था।

सामाजिक व्यवहार में संदेश वाहन के साधनों में भाषा का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा चाहे किसी भी देश और किसी भी युग की क्यों न हो, यदि उसमें ठीक ठीक वही आशय व्यक्त करने की शक्ति नहीं है

आधार पर लोग नाचते गाते और अभिनय करते थे। बहुत दिनों तक प्रारम्भिक यूनानी नाटकों का अभिनय बाजारों में होता था और दर्शकगण स्थायी रूप से रखी बेंचों पर बैठते थे। बाद में धीरे-धीरे अभिनय मन्दिर के चबूतरों तक खिंच आया और उसमें कोरस के साथ नाटकीयता का अधिक प्रवेश हुआ। डायोनिसिया की पूजा उस पहाड़ी या बलिवेदी पर की जाती थी जो 'बैकस' या सुरोदेवता की समझी जाती थी। इसी वेदी के सम्मुख डायोनीसियस के सम्मान में सहगायन (कोरस) और अभिनय होता था।

डायोनीसियस त्योहार के समय प्रस्तुत किए जाने वाले नाटक ग्रीस समाज की सभ्यता और संस्कृति के परिचायक हैं। ग्रीस के स्वर्णिम युग में डायोनीसिया से सम्बन्धित उत्सवों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान हो गया था। इसका मूल कारण नाटकीय प्रतिद्वन्दिता ही नहीं वरन् यह था कि रंगमंच सम्पूर्ण ग्रीक समाज के लिए समान रूप से खुला था जो कि एथेन्स का धन, वैभव, शक्ति और जनता के उत्साह के साथ ही, उसकी कलात्मक और साहित्यिक प्रतिभा का परिचायक था। राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक समृद्धि का रंगमंच पर प्रदर्शन किया जाता था। एथेन्स के प्रतिष्ठित एवं लक्ष्मी के वरद-पुत्र के अतिरिक्त विदेशों के राजदूत भी निमंत्रित किये जाते थे और इसे यहां तक महत्व दिया जाता था कि कैदियों को भी नाटक देखने के लिए जमानत पर छोड़ दिया जाता था।[१]

दर्शकों के लिए बना प्रेक्षागृह एक मन्दिर के समक्ष खुले आकाश के नीचे विस्तृत ढालुए मैदान पर होता था। दर्शकों के बैठने का स्थान एकदम खुला रहता था जो पहाड़ी ढाल पर गोलाकार बेंचों के रूप में बना रहता था और जहाँ समतल स्थान पर अभिनेता खड़े होते थे वहाँ से पहाड़ पर बहुत ऊँचे तक सीढ़ीनुमा बेंचें बनाई जाती थीं। अभिनय वाद्य स्थल मे होता था, उस अर्द्धवृत्ताकार समतल स्थान में जो आगे आसनों की वक्राकार पंक्तियों में मिल जाता था। यहाँ पर यदि हम उसी युग के भारतीय रंगमच पर किंचित दृष्टि डालें तो हमें दोनों देशों के रंगमंच के साथ उसके

---

१. ड्रामा आन स्टेज, पृ० ६-७

सामाजिक और कलात्मक विकास की प्रगति का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। पिछले पृष्ठों पर देख चुके हैं कि ईसापूर्व ३०० ई० में आचार्य भरत ने नाट्य अभिनय के लिए रंगशाला निर्माण की अत्यन्त विस्तृत व्यवस्था दी है, उसकी निर्माण विधि आज की दृष्टि से भी अत्यन्त वैज्ञानिक और श्रम साध्य है, रंगशाला निर्माण के साथ उन सभी बातों का पूरा पूरा ध्यान रखा गया जिसे हम आज की नाट्यशाला और सिने-गृह के लिए आवश्यक मानते हैं। उसकी अपेक्षा उसी युग के अन्य देश यूनान का रंगशाला-शिल्प कितना सामान्य था कि उसमें दर्शकों की सुविधा, ध्वनि के नियंत्रण आदि का कोई ध्यान नहीं था। इन बातों के आधार पर एक ही युग के दो विकासशील देशों की समकालीन सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति का अनुमान लगा सकते हैं।

दर्शकों के प्रेक्षागृह के लिए मंदिर के चारों ओर वृत्ताकार रूप में इतनी भूमि घेरी जाती थी कि एक साथ १५ से २० हजार तक दर्शक नाटक देख सके। आज जब इतने बड़े नाट्य मंडप में अभिनेता की स्थिति का अनुमान लगाया जाय तो सहज ही स्पष्ट हो सकता है कि इतनी दूरी पर खड़ा व्यक्ति कितना छोटा लगेगा और उसकी कोई मुख-मुद्रा देख पाना कितना कठिन होगा। दर्शकों से इस दूरी के कारण और आकार की छोटाई की मजबूरी के कारण अभिनेताओं को ऊँचे-ऊँचे जूते पहनने पड़ते थे और वे ऐसे मुखौटे पहनते थे जो उनके सिर से ऊपर उठे रहते थे जिससे उनका कद बड़ा प्रतीत हो। स्पष्ट है कि इस प्रकार से सज्जित अभिनेताओं के लिए तीव्र शारीरिक और मानसिक संवेगात्मक क्रियाएँ दिखाना असंभव था। ब्रैंडर मैथ्यूज के शब्दों में 'ऐसी रंगशाला जीवन की करुणा और हास्य का यथातथ्य चित्रण करने वाले नाटकों की अपेक्षा मूकनाटिका और बाजीगरों के प्रदर्शन के लिए अधिक उपयुक्त है।"[1] इसकी अपेक्षा उसी काल की भारतीय रंगशाला-शिल्प के साथ हमेशा इस बात का ध्यान रखा गया था कि मण्डप का आकार इतना बड़ा और निर्माण ऐसा होना चाहिए कि अभिनेता अपने आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक—सभी प्रकार के अभिनय द्वारा प्रेक्षकों को पूर्णतया भावाभिभूत कर ले, भाषा का प्रयोग इस सुन्दर ढंगसे हो कि वह

१. नाटक साहित्य का अध्ययन, अनुवादिका इंदुजा अवस्थी, पृ० ३०।

दर्शकों के हृदय को स्पर्श करे। नाट्य मण्डप ही इस प्रकार से वैज्ञानिक ढंग से बनाया जाता था कि सुन्दर शिल्प और सज्जा के साथ दर्शकों को हर प्रकार की सुविधा प्रदान कर सके और उच्चरित शब्दबिना गूंजे ही दर्शको तक अपने सच्चे और स्वाभाविक रूप में पहुँच जाएँ।

प्राचीन यूनानी रंगमंच पर दृश्यों में अद्भुतता लाने के लिए यांत्रिक क्रियाओं का भी प्रयोग किया जाता था; जैसे नाटक के अभिनय के लिए एक प्रकार की क्रेन का प्रयोग किया जाता था जिसके माध्यम से देव-प्रतिमा को ऊपर से नीचे लटका कर रंगमंच पर स्थापित कर दिया जाता था। जब नाटककार अपनी कथा वस्तु के समुचित नियोजन में असमर्थ होता था तो उपर्युक्त विधि का सहारा लेता था। इस प्रक्रिया को 'ड्यूसेक्स मैसिका कहते थे। यूरीपिडीज अपने नाटकों के लिए प्रायः इस मशीन का प्रयोग करता था।

नाटकों के सबसे प्रारम्भिक युग में एस्किलस (ई० पू० ५२५-४५६) के समय तक केवल एक ही पात्र (जो कि नाटककार स्वयं होता था) सम्पूर्ण नाटकीय कथा का अभिनय करता था। किन्तु एस्किलस ने अन्य अभिनेता का भी रंगमंच पर सहयोग लेना आरम्भ किया। सोफोक्लीज (४९५-४०६ ई० पू०) ने स्वयं अभिनय में भाग नहीं लिया किन्तु उसने एक तीसरे पात्र का भी रंगमंच पर प्रवेश कराया। नाटक का सम्पूर्ण अभिनय इन्हीं तीनों अभिनेताओं में बहुत दिनों तक विभाजित रहा जो कि मुखौटा, वेश-भूषा और ध्वनि परिवर्तन के द्वारा अपना अभिनय परिवर्तित करते थे। यूरोपीडीज (४८०-४०६ ई० पू०) ने कई नाटकों में बच्चों का भी प्रवेश कराया किन्तु वे मूक अभिनय करते थे। स्त्री चरित्र का अभिनय पुरुष पात्र ही करते थे। यूनानी दुखान्त नाटक धार्मिक और संगीत प्रधान होते थे। अतएव अभिनेताओं को ऊँची आवाज में अपना स्वर मधुर बनाने का प्रयास करना पड़ता था। सुखान्तकी का अभिनय बेकस या सुरादेवता की स्तुति में होता था।

प्रेक्षा गृह में दर्शकों के बैठने की विशाल क्षमता (१५००० से २०००० तक) इस बात की परिचायक है कि उस काल की यूनानी जनता में नाटक

अत्यन्त लोकप्रिय था और सारा समाज ही उसका दर्शक होता था। स्त्री पुरुष, वृद्ध, बच्चे सभी इसका आनन्द लेते थे। पांचवीं शती ई० पू० तक नाटक देखने के लिए क्या मूल्य देना पड़ता था, कहा नहीं जा सकता (चौथी शती ई० पू० में यह मूल्य दो 'ओवल' था)। पेरेक्लिस का कथन है कि जो व्यक्ति प्रेक्षा गृह मे जाने का खर्च वहन नही कर सकते थे उन्हें मदद दी जाती थी। प्रेक्षागृह में जाने वालो की इतनी प्रतिद्वन्दिता थी कि टिकट खरीदना (जैसा कि आज सिनेमा घरों में होता है। इतना दुष्कर कार्य था कि गरीब जनता केवल सहायता कोष के आश्रय द्वारा ही नाटक देख सकती थी। धन का विवरण पैसों के रूप में न किया जा कर निःशुल्क टिकटों के रूप में किया जाता था।

प्रेक्षागृह के संरक्षण एवं दर्शकों के बैठन के लिए राज्य की ओर से एक वैतनिक 'सुपरिटेन्डेण्ट' नियुक्त किया जाता था। वे दर्शकों के बीच संघर्ष की स्थिति आने पर उन्हे शांत भी कराते थे। प्रेक्षागृह में प्रवेश के लिए प्रयुक्त टिकट धातु, मिट्टी या अन्य पदार्थों से बने होते थे। राज्य के द्वारा पुरोहितों, बड़े अधिकारियों और विदेशी दूतों को सम्मान का स्थान दिया जाता था। आगे की ६० सीटें इन्हीं के लिए सुरक्षित रहती थीं। औरतें पुरुष से अलग बैठती थीं। गणिकाएं सम्भ्रांत कुल की स्त्रियों के बगल मे बैठती थीं। प्रेक्षागृह १२ भागों मे बटे होते थे। हर जाति के बैठने का स्थान निश्चित था। उनके टिकट पर उनकी जाति का प्रतीक अक्षर अंकित रहता था।

प्रदर्शन सुबह से शाम तक चलता रहता था अतएव दर्शक अपना जल-पान, भोजन' शराब, सूखे फल और मिठाईयां अपने घरों से साथ ले जाते थे। प्रेक्षागृह में ये वस्तुयें बिकती भी थीं। खलनायकों या भद्दे अभिनय करने वालों पर कभी कभी सडी गली चीजों का प्रहार भी होता था। दर्शकों के आराम की कोई व्यवस्था नहीं थी। दर्शकों में बदमाश प्रकृति के भी कई लोग होते थे जो चिल्लाते, सिसकारी मारते और झगड़ा करते थे। दर्शकों में प्रायः थोड़े से विचारवान और शिक्षित लोगों को छोड़कर अन्य लोग नाटक की कहानी भी नहीं जानते थे। वे धन की प्रशंसा में कही

गयी पंक्तियों को हेय समझते थे और स्वतंत्रता पर कही गई पंक्तियों की प्रशंसा करते थे। किसी भी प्रभावित करने वाली वस्तु के प्रति वे सतर्क थे और साथ ही नैतिक, राजनीतिक तथा विरोधी विचारों का भी उन्हें ज्ञान था। उनका दृष्टिकोण उपयोगितावादी था।

पिछले पृष्ठों पर स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी देश की आंतरिक और बाह्य व्यवस्थाओं और अंतः सम्बन्धों के निर्धारण में रंगमंच का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है और यह एक ऐसी कला है जिसके माध्यम से बड़ी आसानी से किसी राज्य में व्यवस्था स्थापित की जा सकती है, उसके नागरिकों को आदर्श नागरिक बनाया जा सकता है, देश भक्ति और स्वामि-भक्ति का प्रचार किया जा सकता है और साथ ही सारी व्यवस्था में उसके द्वारा क्रांति उत्पन्न की जा सकती है, तत्कालीन राज्य के प्रति विद्रोह उत्पन्न किया जा सकता है और अपने शत्रु-देशों से नट-नाटियों को सहायता से राजनीतिक भेद पाया जा सकता है। इस तथ्य को भारतीय राजनीतिक विद्वानों ने भी भली-भांति समझा और प्राचीन यूनानियों ने भी। इसीलिए कौटिल्य ने नागरिक जीवन के इस अंग पर राज्य द्वारा कड़ी व्यवस्था और नियंत्रण रखने का आदेश दिया गया है और इधर यूनानी राज्य व्यवस्थापकों ने भी नाटक और रंगमंच की गतिविधियों पर भी बराबर कड़ी निगाह और नियंत्रण रखा।

यूनानी रंगमंच पर राजकीय नियंत्रण रखा जाता था और उसके प्रयोग और नाटकों के प्रदर्शन पर कड़ी दृष्टि रखी जाती थी। रंगमंच की बनावट और सजावट का काम राज्य ही करता था, इससे लेखकों को नाटक में दृश्य योजना के प्रति बड़ी सावधानी रखनी पड़ती थी। राज्य की ओर से नाटक लिखने और खेलने के नियम बने हुए थे जिन्हें प्रत्येक नाटककार और अभि-नेता को मानना पड़ता था। जब कोई नाटककार नाटक प्रदर्शित करना चाहता था तो उसे अपने नाटक की पाण्डुलिपि राजकीय आलोचकों को दिखाकर उनकी अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी। ये राजकीय आलोचक जब इन नाटकों को अपने प्रशासकीय आदर्श और देशहित के अनुकूल समझते थे तभी अनुमति देते थे। जब कोई नाटक उनके द्वारा उपयुक्त समझा जाता था तो इसकी सूचना लेखकों को मिलती और राज्य ही सहगायकों की योजना

बनाता। तब नाटककार पात्रों को उनका पाठ सिखलाते और भाव प्रदर्शन की शिक्षा देते। आधुनिक युग के सिनेमा तथा उसके प्रदर्शन की अनुमति प्राप्त करने की पद्धति इसी नियंत्रण का अनुकरण है। इस व्यवस्था के अनुसार सरकार उन प्रदर्शनों को स्वीकृति नहीं देती जिससे राष्ट्र का किसी प्रकार अहित हो।

यूनान मे जब ये नाटक राज्य द्वारा स्वीकृत होकर खेले जाते थे तो जनता दूर-दूर से बड़े चाव से इन्हें देखने आती थी। ये नाटक एथेंस में ही खेले जाते थे और अनेक उपनिवेश के लोग भी इन्हे देखने के लिए उपस्थित होते थे। उस समय एथेंस नगर एक तीर्थ स्थल बन जाता था। प्रत्येक वर्ष राष्ट्रीय उत्सवों पर नाटक खेले जाते थे और राज्य की ओर से नाटकों की प्रतिद्वन्दिता का भी आयोजन होता था। प्रतिद्वन्दिता में भाग लेने वाले नाटकों की उत्तमता का निर्णय करने के लिए ५ निर्णायक रखे जाते थे। प्रथम, द्वितीय और तृतीय नाटकों का पुरस्कार उनके लेखकों को दिया जाता था। विजय प्राप्त करने वाले नाटककारों को प्रेक्षागृह में ही राजकीय और नागरिक सम्मान दिया जाता था। राजकीय प्रबंध में नगर के धनी नागरिक भी मुक्त हस्त धन की सहायता करते थे। अतः इन्हे भी राज्य की ओर से सम्मान दिया जाता था। [१]

राष्ट्रीय रंगमंच की मर्यादा की रक्षा राज्य के सभी लोग एक मत से करते थे। कवियों और नाटककारों पर राष्ट्र के हित और उत्थान का भार था। इसलिए वे नाटकों में निजी विचार स्वतंत्रता से नहीं रख सकते थे। उनका उन्हीं विचारों और आदर्शों को लोकप्रिय बनाने का अधिकार था जिससे राष्ट्र की उन्नति हो। यूनानी नाटक केवल मनोरंजन के ही साधन न थे वरन् उनके द्वारा मनोरंजन तो कम और राष्ट्रीय तथा धार्मिक मतों का प्रचार अधिक होता था। वे डायोनीसियस की पूजा अर्चना के साधन थे फलतः केवल राष्ट्रीय उत्सवों पर ही खेले जाते थे।

यूनानी नाट्यशाला का उपरोक्त स्वरूप और महत्व ईसा पूर्व ५०० वर्षों के यूनानी समाज में नाटक और रंगमंच के प्रभाव का सुन्दर चित्रण

---

१. ड्रामा आन स्टेज, पृ० ५

कर रही है। वर्तमान के नगरीकरण, औद्योगीकरण, राजनीतिक, श्रमिक, वैज्ञानिक आंदोलनों आदि का भी रंगमंच की तकनीक पर समान प्रभाव पड़ रहा है। लोक संस्कृति भी जिस प्रकार नागरिक जीवन से प्रभावित हो रही है उसी प्रकार लोक रंगमंच पर भी व्यापक प्रभाव पड़ रहा है। समाजशास्त्र में सामाजिक मूल्यों के सम्प्रेषण के इस महत्वपूर्ण माध्यम के अध्ययन का अभी तक कोई प्रयास नहीं किया गया है। किन्तु समाज के प्रतीकात्मक जीवन के अध्ययन के लिए रंगमंच जैसे महत्वपूर्ण माध्यम को छोड़ा नहीं 'जा सकता" रंगमंच पर समाज की समस्त कलाओं का प्रदर्शन होता है इन कलाओं के माध्यम से समाज की संस्कृति का अध्ययन किया जा सकता है। वर्तमान समाज में गतिशीलता का जो स्वरूप है, रंगमंच उससे पूर्णतया प्रभावित है। अतः वर्तमान की समस्याओं का अध्ययन करने का यह एक बहुत महत्वपूर्ण माध्यम है।

●

८

सामाजिक मूल्य और लोकनाट्य

⊙

मनुष्य को सामाजिकता के विकास में जहाँ प्रकृति से सीधा सहयोग प्राप्त हो गया वहाँ उसे कोई कठिनाई नहीं हुई किन्तु प्रकृति तो निर्मम और कठोर होती है, उसे मनुष्य की सुख-सुविधा से कोई मतलब नहीं होता, बिना सामाजिक तथ्यों का ख्याल किए घटा करती है अर्थात् प्राकृतिक घटनाएँ सर्वदा मनुष्य के पक्ष में नहीं रहा करती। ऐसे स्थानों पर आदिम मनुष्य ने हमेशा अपने प्रयत्न को असफल और असमर्थ पाकर प्रकृति से समझौता करने का प्रयास में कल्पना किंवा जादू भावना का सहारा लेना आरंभ किया। इसके लिए उसने प्राकृतिक शक्तियों के रूप में अनेक देवी-देवताओं की कल्पन आरम्भ की, उसकी प्रशंसा में कथाएँ गढ़ना, उन्हें प्रसन्न करने के लिए नाचना, गाना, बलि चढ़ाना आदि आरंभ किया ताकि इन कार्यों से देवी देवता प्रसन्न हो जाएँ और प्रकृति मानव इच्छा के अनुकूल पानी बरसा दे या नदी की बाढ़ रुक जाय। प्रकृति को अपनी इच्छा के अनुकूल बनाने की आदिम मानव की इस कल्पना शक्ति ने आरम्भिक आदि साहित्य की भावना को जन्म दिया जो हमारे बीच आज लोक गाथाओं (Myths) के नाम से प्रचलित हैं। इन कथाओं को अधिक ग्राह्य और लोक प्रिय बनाने के लिए इनका संबंध समूह की उन प्रमुख घटनाओं अथवा व्यक्तियों से भी जोड़ा गया जिन्होंने अपने समूह की अस्तित्व की रक्षा के लिए कठोर संघर्ष और अपूर्व साहस का कार्य किया। फलतः उनके जीवन से संबंधित कहानियों का विस्तार हुआ जो लोक कथाओं (Folktale) के रूप में विकसित हुई। इन्हीं लोक गाथाओं और लोक कथाओं के नृत्य और संवाद आदि के अभिनयात्मक प्रदर्शन से सर्वप्रथम किसी समाज में नाटक का जन्म हुआ जिसने सभ्यता के विकास में धीरे-धीरे परिष्कृत होते हुए शास्त्रीय रूप ग्रहण कर अपना एक अलग स्तर बना लिया।

लोकनाट्यों का विकास—

मानव सभ्यता के विकास का हम जो रूप देखते हैं उसके आधार पर यह निर्विवाद रूप से मानना पड़ेगा कि लोक जीवन के अनुकरण और परिष्कार पर नागरिक जीवन का आरम्भ हुआ। आदिम सभ्यता मे सभी मनुष्य, सभी समूह एक से थे किन्तु जीवन यापन के स्वरूप, रोजगार धंधे आदि में भेद के कारण समूह वर्गों में बँटने लगा और जब यह अलगाव ज्यादा प्रभावशाली हुआ तो ग्रामीण अथवा लोक सभ्यता और नागरिक सभ्यता का अलग अलग अस्तित्व बन गया। इसी अस्तित्व-भेद के कारण दोनों वर्गों की जीवन प्रणालियों मे भी भेद हो गया। समूहागत गाथाओं, कहानियों और नाटकों से अलग वर्गगत कविता, महाकाव्य और नाटको का जन्म हुआ। यूनानी और भारतीय प्राप्त शास्त्रीय नाटकों के मूल इतिहास यही संकेत देते हैं। एस्किलस और यूरोपीडीज (पांचवीं शती ई० पू०) द्वारा डायोनीसियस की जिन पौराणिक गाथाओं को त्रासदीयो का रूप देकर पूजा स्थलों के समक्ष अभिनय आरंभ किया गया उससे पूर्व ही एरियन (७वीं शताब्दी ई० पू०) अर्द्ध पौराणिक गाथाओं को नाच-गान के द्वारा बाजारों में घूम-घूम कर प्रदर्शित करता था और बाद में एस्किलस और यूरोपीडीज ने संस्कारित कर तथा सोफोक्लीज ने उसमें और अधिक परिष्कार लाकर उन बाजारू नाटकों से त्रासदीयों को एकदम अलग कर दिया। मतलब यह कि एक समूहगत जीवन की जो समष्टिगत चीज थी वह वर्गगत होकर खंडों में विभक्त होकर विकसित होने लगी। भारत में भी चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के नाटककार भास और अश्वघोष के नाटको का जो रूप प्राप्त होता है उसे देखकर स्पष्ट ज्ञात होता है कि समूहगत या लोकगत जीवन की समष्टि परम्परा से अभी तक अपने को जोड़े रखने का प्रयास है किंतु बाद मे धीरे धीरे परवर्ती नाटककारों द्वारा स्वरूपों का बिलगाव कर संस्कृत—संस्कारगत नाटकों की रचना आरम्भ कर दी गई, क्योंकि इस अलगाव के लिए पाणिनि जैसे लोगों का तेज दबाव पड़ रहा था जिसकी ब्राह्मणवादी संस्कृति में अधिक अवहेलना संभव नहीं थी।

छठीं शताब्दी ई० पू० बुद्ध के काल में अभिनेत्री 'कुवलया' का वर्णन मिलता है जिसने अपने शृङ्गारपरक अभिनय के द्वारा सैंकड़ों की संख्या मे

भिक्षुओं को पथभ्रष्ट किया था। नाटककार भास जिनका समय ४०० ई० पू० निश्चित हो चुका है, उनके पूर्ववर्ती नाटककार अश्वघोष के जो ३ नाटक प्राप्त हुए हैं, वे तीनों बुद्ध के जीवन से संबंधित कथानक वाले हैं जो उस समय लोक चर्चा का मुख्य विषय था। भास के भी प्रायः सभी नाटक लोक कथाओं से संबंध रखते हैं। रामायण और महाभारत की घटनाओं को लेकर लिखे गए भास के नाटक 'रामायण' और महाभारत से कम मेल खाते है और लोक सामान्य के चर्चाओं के अधिक निकट हैं। रामायण की कथा पर आधारित 'प्रतिमानाटकम्' और महाभारत से संबंधित 'पंचरात्रम्' तो विशुद्ध लोक कथा मात्र हैं। इन नाटकों की कथा अपने मूल आधार—रामायण और महाभारत से असम्बद्ध ही नहीं, विपरीत भी हैं। इन कहानियों की अपने ढंग से लोकप्रियता ने ही भास को इन पर नाट्य रचना की प्रेरणा दी होगी। भास के नाटकों को देखने से पता चलता है कि ये नाटक उनकी कृति बनने के पूर्व लोक के बीच अभिनय के विषय किसी न किसी रूप में अवश्य रहे होंगे। फिर भी हमें इतना ध्यान रखना चाहिए कि लोक में इन अभिनयों का आधार प्रायः प्रेम कहानियाँ ही होती थी, दूसरे विषय की रचनाएँ अभिनय के लिए कम रुचिकर होती थीं। उनके चार नाटक—स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगंधरायण, चारुदत्तम्, और अविमारकम् प्रेम कथा से सम्बद्ध हैं, जो उस समय लोक प्रचलित थी। वासवदत्ता और उदयन की प्रेमकथा को लेकर ग्रामीण जीवन में अभिनय तक होते रहे। वासवदत्ता का वह ग्रामीण अभिनय भास ने अपनी आँखों से देखा होगा। यही कारण है कि उनका 'स्वप्नवासवदत्तम्' नाटक रंगमंच पर अभिनय की दृष्टि से संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। प्रथम शताब्दी ई० पू० के एक अन्य प्रसिद्ध नाट्यकार शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिक' में नाटककार अपने युग की सबसे अधिक लोकप्रिय कहानी उसी दरिद्र चारुदत्त और वेश्या वसंतसेना की प्रेमकथा को नाटयरूप में भाषाबद्ध कर प्रशस्ति प्राप्त की। किन्तु परवर्ती युग में ब्राह्मणवादी संस्कृति के दबाव में लोक धारा से भिन्न होकर सर्वथा नई संस्कारगत धारा का निर्माण किया जिससे अभिनय का स्वरूप और नाटक की कथावस्तु आदि सभी कुछ उनकी भिन्न संस्कृति के अनुकूल बदल गया। किन्तु ऊपर के तथ्यों से जो कुछ भी निष्कर्ष निकलता है वह इतिहास की कसौटी पर संस्कृत में नाट्य शिल्प का विकास

लोक में प्रचलित प्रेम कथाओं और उनके ग्रामीण अभिनयों से हुआ। संस्कृत नाटक में विदूषक नाम का पात्र इसी लोक अभिनय की देन है। बाद में लोक धर्म के इन्हीं अभिनयों को पंचम नाट्यवेद का रूप भरत के नाट्यशास्त्र में दिया गया। यह तो उस स्वरूप का पक्ष था जिसकी आरम्भिक लोक परम्परा से शास्त्रीय नाटकों का जन्म हुआ। बाद की सामाजिक परिस्थितियां और भी इस प्रकार की होती गई कि लोक नाटकों की परम्परा अपने अलग अस्तित्व में जीती रही।

रामायण, महाभारत, कौटिल्यीय अर्थशास्त्र, पातंजलि महाभाष्य आदि के अध्ययन से पता चलता है कि हमारे देश में नाट्यगान के द्वारा मनोविनोद की बड़ी प्राचीन परम्परा रही है। प्रश्न यह है कि मनोविनोद की इस परम्परा का आरम्भ कब हुआ? अशिक्षितों अथवा अर्द्धशिक्षितों के लोक जीवन में या पूर्ण शिक्षित और नागरिक कहे जानेवाले सभ्य समाज के बीच इस परम्परा ने जन्म लिया। कौन सी अथवा कैसी कथाओं ने अभिनय को प्रेरणा दी, इन्ही प्रश्नों के साथ नाटक के जन्म का भेद छिपा है।

सामाजिक संस्तरण और लोकनाट्य—

प्रथम उपलब्ध नाटककार भास के समय तक वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् रामायण और महाभारत आदि शिक्षित वर्ग के स्वाध्याय के विषय थे। किंतु स्वाध्याय के इन विषयों के रहते हुए भी यज्ञादि समारोह के अवसर पर मनोरंजन के लिए नाटक की आवश्यकता क्यों पड़ी। भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र के प्रथम अध्याय में इसे समझाया है जिसका मूल "ग्राम्य धर्मप्रवृत्ते" और "वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम्" पदों में निहित है। जातियों के विस्तार से जनसंख्या बढ़ चुकी थी, ग्रामीण और नागरिक तथा अशिक्षित और शिक्षित सभ्यता का भेद स्पष्ट रूप से बढ़ चुका था। जनसंख्या के विस्तार के अनुपात में वेद का स्वाध्याय करने वाले न्यून हो चले थे। परिणाम यह हुआ कि वैदिक धर्म, यज्ञ और आचार-निष्ठा के ऊपर लोक धर्म, लौकिक आचार और लोकोत्सव अधिक अपनाए जाने लगे। नगर निवासी कृषि कार्य से दूर रह कर कला-कौशल और व्यवसाय की ओर विशेष ध्यान देने लगे लेकिन उनमें भी अशिक्षितों की संख्या अधिक होने के कारण नगरों में

भी इन्हीं के आचार-विचारों का अधिक प्रचार रहा। ग्रामों में रहने वाली कृषक जनता और नगरों के अशिक्षित समुदाय अपने ग्राम्यधर्मी लोकोत्सव पूर्ण उत्साह के साथ करते रहे किन्तु नगरों के शिक्षित और अभिजात्य वर्ग को भी ये उत्सव भाते थे। लेकिन अपनी श्रेष्ठता और पृथक श्रेणी को बनाए रखने के लिए वे उनमें आत्मसात नहीं हो पाते थे। अतः उन्होंने स्वयं ग्राम्यधर्म को परिष्कृत कर उसे शास्त्रबद्ध कर नाटकों की रचना के नियम बनाए और लोकवर्ग से भेद के लिए तथा अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए नाटक के शास्त्रीय विवेचन को वेद के समकक्ष रखकर 'नाट्य-वेद' या 'पंचमवेद' की संज्ञा दी। सभी लोक धर्मी नियमों को बदलकर स्थान कथावस्तु, राजवंश का नायक तथा विशिष्ट नाट्यशालाएं आदि रखने का नियम बनाया और नाट्य रचना की परम्परा इसी शास्त्रीय सीमा में बद्धमूल हो गई। इसी भेद के कारण लोक जीवन में प्रचलित अभिनय को सामान्यतया ग्रामीण और निम्नकोटि की जनता वाला अभिनय समझकर शास्त्रीय वर्ग द्वारा इसकी पूरी उपेक्षा कर दी गई और इसकी अलग परम्परा बन गई। यह परम्परा इतनी रूढ़ हुई कि आज भी लोक नाट्य और रंगमंच ग्रामीण और निम्न स्तर की जनता की ही सम्पत्ति माना जाता है।

इसी क्रम में एक बात और : यद्यपि यह सत्य है कि नाट्यशास्त्र प्रणेता भरत ने सांस्कृतिक तथा सामाजिक संतुलन लाने की दृष्टि से एक ऐसे सामूहिक उत्सव (नाट्यवेद) की उत्पत्ति की बात कही जिसमें द्विजों के अतिरिक्त शूद्र जातिवाले भी भाग लेकर अपना मनोरंजन कर सके। तथापि समाज के भीतर जातिवाद की रूढ़ और कठोर हो चुकी परम्परा ने इसे सत्य नहीं होने दिया। संस्कृत नाटक नगरों में ही देव मंदिरों या राजभवनों में उच्चजाति के सुशिक्षित और सुरुचि सम्पन्न नागरिकों के ही समक्ष अभिनीत होता था और चूँकि नाटक देखना भी एक कला माना जाने लगा था अर्थात नाटक देखनेवालों को विशेष गुणसम्पन्न होने की भी बात हो चुकी थी अतः सभी लोग आसानी से नाटक नहीं देख सकते थे। इनमें भी शूद्र जातिवालों को और भी अधिक कठिनाई थी। उन्हें देव स्थानों पर जाने की सदा मनाही रही, हीन जाति का होने के कारण न तो स्वयं राज दरबारों में जाने का साहस कर सकते थे और न ही उनके लिए उसमें प्रवेश आसान था। दूसरी

बात यह कि अभिजात्य वर्ग चूँकि शूद्रों को कला की दृष्टि से हीन समझता था और स्वयं धनी प्रतिष्ठित होने के कारण ललित कलाओं का विशेष रसज्ञ होता था इसलिए अपने बीच इन हीन कला-पारखियों का बैठना भी उचित नहीं समझता था। प्रेक्षागृह में यद्यपि सबसे पीछे शूद्र-स्तम्भ के पास शूद्रों के बैठने की व्यवस्था थी किन्तु फिर भी उसमें वे प्रवेश नहीं कर सकते थे। राज समाज, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के लिए ही विशेष व्यवस्था रहा करती थी। राजकीय प्रश्रय होने के कारण ये प्रेक्षागृह बड़े खर्चीले होते थे, इनका निर्माण सर्वसाधारण के बूते की बात नहीं थी। इन कारणों से समाज के निम्नवर्ग और उच्च वर्ग मे भरत के सार्ववर्णिक सिद्धांत के बावजूद भी सदैव अंतर बना ही रहा। इस कारण सामान्य वर्ग वाले ग्रामीणों के नाटको का सदा ही अलग दल रहा। अपने मनोरंजन के लिए साधारण स्थिति के लोग खुले मैदानों, आम्रकुंजों अथवा इसी प्रकार के अन्य स्थलों पर और सस्ते उपकरणों की सहायता से अभिनय किया करते थे और इनका अपना अलग अस्तित्व बना रहा।

इन उपरोक्त बातों के विवेचन का अर्थ सिर्फ इतना ही रहा कि लोक नाट्यों के विकास के साथ सशक्त सामाजिक परिवेश जुटा हुआ था। उनके जीवन के आवश्यक अंग मनोविनोद की पूर्ति का यह प्रभावशाली माध्यम रहा और इसी कारण नागरिक और शिक्षित जनों ने भी इसे परिष्कार और संस्कार के साथ अपनाया। स्पष्टतः नाटकों का दो धाराओं में विकास होने लगा--नागरिक और अभिजात्य सभ्यता के साथ शास्त्रीय नाटक तथा ग्रामीण और अशिक्षित जनता के साथ उनका परम्परित लोक नाटक।

लोकगाथा, लोककथा और लोकनाट्य—

लोकनाट्यों का अध्ययन किसी भी प्रकार लोकगाथाओं और लोककथाओं से अलग करके नहीं किया जा सकता क्योंकि लोकनाट्यों में लोक गाथाओं या कथाओं का नाटकीय प्रदर्शन ही प्रस्तुत किया जाता है या यों कहें कि अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए उन आदर्शों का दृश्यात्मक प्रस्तुतिकरण ही लोकनाट्यों का लक्ष्य रहता है। इसलिए लोकनाट्यों के अध्ययन के लिए

लोकगाथाओं और लोककथाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। लोकगाथाओं और लोककथाओं के समाजशास्त्रीय प्रकृति पर चौथे अध्याय में पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं किन्तु प्रसंगवशात् किंचित् महत्व-दर्शन आवश्यक है।

लोकगाथा, लोककथा या लोकनाट्य किसी जाति की महत्वपूर्ण सम्पत्ति है जो यह बताती है कि किसी जाति का जीवन दर्शन या आवश्यकता पूर्ति का दृष्टिकोण क्या रहा है। लोकगाथा या कथा का आधार नैतिक प्रतीक होता है। इनके द्वारा किसी जाति के सामाजिक आदर्शों, दर्शन, जीवन यापन और परम्परा की अभिव्यक्ति होती है। लोक कला की प्रत्येक विधा का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण परम्परा का निर्वाह होता है। प्रत्येक पीढ़ी आगे आनेवाली पीढ़ी को अपनी परवर्ती पीढ़ी की थाती सौंपती जाती है और वह प्रायः ज्यों का त्यों उसका निर्वाह करती जाती है। उसमें परिवर्तन की गुंजाइश बहुत कम होती है। लोककला की हर विधा ऐसे प्रसंगों पर अव-लंबित रहती है जिनसे जनता पहले से ही परिचित रहती है। किसी व्यक्ति विशेष के काल्पनिक प्रसंगों के प्रयोग की गुंजाइश प्रायः नगण्य रहती है, और कहीं कहीं वर्जित भी होती है। पहले के वक्ता जो कुछ कहते आए हैं वही सबसे बड़ा प्रमाण है। इनके प्रसंग किसी भी पौराणिक ऐतिहासिक तथा किवदंतियों पर आधारित श्रृंगारिक आधार शिला पर रचे जाते हैं जो दर्शकों के जीवन में संस्कारगत जुड़े रहते है और जिनके पात्र सदा ही किसी न किसी रूप में उनके प्रेरणा स्रोत होते हैं। इन पात्रों को 'Culture Hero' (लोक-नायक) कहा जाता है। इनका समाज इनसे आशा करता है कि ये नायक उनकी सबसे महत्वपूर्ण आशा-आकांक्षा पूर्ण करेंगे और उनका मार्ग बताएंगे। रामचन्द्र के जीवन से संबंधित लोकगाथा में मनुष्य अपने आदर्श जीवन के लिए जिस सुराज की कामना करता है उसका पूरा चित्रण और संघर्ष की कहानी उसमें निहित रहती है। 'शीरीं-फरहाद की कथा में रेगिस्तानी प्रदेश—ईरान की जनता की वह गहन कामना निहित है जिसमें वह अपने संस्कृति नायक से यह आशा करती है कि वह एक मीठे पानी की नदी बहादे। ये लोक नायक अपने जीवन से यह तथ्य प्रस्तुत करते हैं कि परिस्थितियों से पलायन नहीं वरन् संघर्ष करके नैतिक विजय प्राप्त करनी चाहिए। और इन नायकों की जीवन गाथा मात्र कल्पना नहीं होती, उनके पीछे

सामाजिक आदर्श की आकांक्षा छिपी रहती है। प्रो० राजारामशास्त्री का मत है, "लोक कथाएँ ऐसी कहानियाँ होती हैं जिनका कुछ वास्तविक आधार होता है किन्तु कहते और सुनते-सुनते उनकी कुछ वास्तविकता लुप्त हो जाती है और अनेक प्रकार की काल्पनिक बातें प्रविष्ट हो जाती है।...पौराणिक कल्पनाओं और लोककथाओं को आज भी साधारण जन काल्पनिक नहीं समझते थे। उनके लिए कल्पनाएँ सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का वास्तविक अंग थी।"[1]

उच्च भूमिकावाले भारी भरकम कथा प्रसंग तथा दर्शनशास्त्र, वेद-पुराण, रामायण-महाभारत आदि उच्चादर्श निरूपित करनेवाली कथावस्तु से लोकनाट्य सदा ही दूर रहते हैं। नाट्य जैसी हल्की-फुल्की लोकानुरंजक सुखद परम्परा को गंभीर तत्वों से बोझिल बनाना उचित नहीं समझा जाता। महाभारत तथा रामायण जैसे लोकप्रिय ग्रन्थों से ऐसे ही प्रसंग इन नाट्यों में लिए जाते हैं जिनमें लोक रुचि और लोकादर्श निहित रहते हैं तथा जिनके साथ लोक जीवन की दैनिक तथा लौकिक क्रियाएँ जुड़ी रहती हैं; जैसे द्रोपदी-स्वयंबर, रुक्मिणी मंगल, बिल्वमंगल, हरिश्चन्द्र, नल दमयंति, भर्तृहरि, सावित्री-सत्यवान, ध्रुव चरित्र, भक्त प्रहलाद आदि आदि। इन प्रसंगों में भी उन्हीं पर जोर रहता है जिनका जनता के पारिवारिक जीवन से लगाव हो। उनके सभी आध्यात्मिक, दार्शनिक तथा अलौकिक तत्व निकाल दिये जाते हैं और वे ही तत्व प्रयुक्त होते हैं जिनका संबंध उनके वर्तमान जीवन में होता है। उनके सभी अलौकिक पात्र इन नाट्य रचनाओं में लौकिक पात्र की तरह अवतरित होते है। लोकनाट्य रचयिता यह प्रबल आधार लेकर चलता है कि ये कथा प्रसंग जनता के बीच पूर्णतः व्याप्त हैं उनका सिर्फ संकेत काफी है।

लोकनाट्य के कथा वस्तु की अपनी विशेषताएं हैं; यद्यपि लोककला के सभी अंगों का विशेष गुण परम्परा निर्वाह में है किन्तु लोकनाटक में हमेशा नए कथा प्रसंग और नये कथानक युग की विशेषता के साथ जुड़ते जाते है। अर्थात् लोककला में लोकनाट्य एक जीवंत स्वरूप है तथा अन्य परस्परित और रूढ़। किसी लोकगीत या लोककथा का एक ही स्वरूप बहुत दिनों तक एक सा निरंतर

१. सामाजिक मनोविज्ञान, राजारामशास्त्री, पृ० ४७-४८।

प्रवाहित होता आता है किन्तु लोकनाट्य हमेशा नई घटनाओं व स्थितियों को युग की माँग अनुसार ग्रहण करता चलता है। युग सापेक्ष सामाजिक चित्रण उसकी अपनी विशेषता है। हर युग में लोक नाटकों का कथानक युग अथवा सामाजिक स्थिति के साथ बदलता रहा है। जमींदारी प्रथा के समय लोकनाटकों में जमींदारों, कारिंदों आदि का जो कथानक चलता था वह आज सामाजिक परिवर्तन के अनुरूप बिलकुल बदल कर चोर बाजारी करनेवालों, हड़तालों, घूसखोरी आदि के कथानकों में परिवर्तित हो गया है।

कथोपकथन लोकनाट्यों का बहुत ही महत्वपूर्ण तत्व है। पात्र जो कहते हैं, जिन शब्दों मे कहते हैं तथा जिन भावलहरियों में वे गीत गाते हैं और जिन अंग भंगिमा तथा मुद्राओं में उनकी अभिव्यक्ति करते हैं उन्हीं मे दर्शकों को मतलब रहता है। कैसा रंगमंच बना, कितनी रोशनियाँ सजावट में लगाई गईं, कितने पर्दे टंगे, कितने अंकों में नाटक प्रस्तुत किया गया, कैसी वेश-भूषा का प्रयोग हुआ, इन सब बातों की ओर दर्शक ध्यान नहीं देता। उसकी रुचि केवल कथावस्तु के मार्मिक प्रसंग, पात्र के मधुर कण्ठ और उसके गाए हुए गीत संवाद मे है। एक विचित्र बात यह भी कि पात्रों को उपयुक्त पोशाकों के बजाय, विपरीत पोशाकें पहनाकर भी दर्शकों को मौलिक पात्रों का अनुभव करा देते हैं। संवाद भी गा-नाचकर अनावश्यक रूप से लम्बा करके भी ये पात्र अपना अभिप्राय पूर्ण रूप से प्रकट कर देते हैं। अभिनय में भी किसी नियम की रूढ़ि नहीं। जहाँ अभिनय के लिए विशिष्ट अंग मुद्राओं की आवश्यकता होती है वहाँ विपरीत मुद्राओं का प्रयोग करके भी वांछित प्रभाव उत्पन्न करते हैं। सात्विक अभिनय में तो पग-पग पर अनियमितता बरती जाती है, क्योंकि जहाँ रोना होता है वहाँ पात्र गाकर रोता है और जहाँ हंसना होता है वहाँ पात्र रोकर हँसता है। भयंकर घृणा, क्रोध तथा रौद्र के भाव भी पात्र गाकर अत्यन्त पेचीदी नृत्य मुद्राओं से अत्यन्त वांछित ढंग से प्रकट करते हैं।

यही स्थिति पात्रों के चुनाव के संबंध में भी है। लोकनाट्यों के नायक-नायिका तथा पात्रों में उच्च चरित्र तथा उच्चादर्शों का होना आवश्यक नहीं समझा गया है। जाति तथा वर्ग-भेद के ध्यान की कोई आवश्यकता नहीं होती। नायक उच्चादर्शी भी हो सकते हैं और चोर, लंपट, डाकू, दुराचारी

भी, शूद्र भी हो सकता है और ब्राह्मण भी, वह राजा भी हो सकता है, रंक भी। लोकनाट्यों में नाट्यवस्तु, कथोपकथन, पात्र, चरित्र, तथा दर्शकों की दृष्टि से भी कोई गरीब, अमीर, जाति-कुजाति, ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं रहता। उनका प्रमुख लक्ष्य मनोरंजन प्रदान करना होता है, जनता को शिक्षित करना नहीं। अतः जिस नाटक से दर्शकों को अधिक से अधिक मनोरंजन प्राप्त हो सके वही सबसे सफल समझा जाता है। ऐसे नाटकों में दयाराम धावड़ी, रिसालू लुटेरा, बदमाश आशिक आदि हैं जिनको जनता बड़े चाव से देखती है। इनमें कई नाटक अश्लील होते हैं। फिर भी महत्वपूर्ण बात यह होती है कि दुश्चरित्रपात्रों का अन्त में अपकर्ष और सत्यवादी एवं न्यायपरायण पात्रों का उत्कर्ष बतलाया जाता है अथवा सत्य की विजय और असत्य की पराजय दिखाई जाती है।

लोकनाट्यों में अतिरंजित मनोरंजनात्मक तथा अश्लील तत्वों का बाहुल्य होते हुए भी संगीत एवं नृत्य की दृष्टि से पर्याप्त सफल और प्रभावकारी होते हैं। उनमें शृंगारिक तत्वों की अभिव्यक्ति निम्न स्तर की अवश्य होती है परन्तु बीच-बीच में समाज के ऐसे अहितकारी शोषक और असामाजिक तत्वों पर बहुत ही गहरा कटाक्ष करते हैं जिससे वे तत्व सबके सामने प्रकट हो जाते है और समाज में उनके प्रति अश्रद्धा और अवहेलना की भावना जाग जाती है। ऐसे नाट्यों में उत्तर प्रदेश का स्वांग तथा राजस्थान और गुजरात का भवाई नाट्य अत्यंत लोकप्रिय है। कुशल भवाई कलाकार जब अपने दल के साथ अपने यजमान (आश्रयदाता) के यहाँ प्रदर्शनार्थ जाता है तो गाँव के सभी असामाजिक तत्व भयभीत हो जाते हैं क्योंकि इन भवाई प्रदर्शनों में उनके कुकृत्य तथा दुराचरणों का भंडाफोड़ होने को होता है। कभी-कभी तो प्रदर्शन के पूर्व ही ये तत्व जिनमें गाँव के बनियाँ, शोषक, साहूकार, जमींदार आदि ही प्रमुख होते है, भवाइयों को बिना प्रदर्शन किए ही इनाम देकर विदा कर देते हैं।

लोकनाट्यों के सम्बन्ध में उपरोक्त विवेचन का मुख्य तात्पर्य यही है कि यह स्पष्ट हो सके कि ये किस प्रकार अपने सामाजिक जीवन से घुले मिले हैं। भिन्न-भिन्न लोकनाट्य अपने सामाजिक जीवन के पूर्ण प्रतिनिधि हैं। एक

समाज के भिन्न-भिन्न समुदायों का अध्ययन करने के लिए विभिन्न अंचलों म खेले जानेवाले लोकनाटचों, लोकगाथाओं और लोकगाथाओं का अवलोकनात्मक अध्ययन किया जाय तो बड़े महत्वपूर्ण तथ्य हाथ लगेंगे। इन लोकनाटचों से लोकमानस की ४ बातें स्पष्ट रूप से प्रकट होती है—

१—प्रत्येक लोकनाटच में जन जीवन की महत्वाकांक्षाओं का प्रदर्शन होता है, जन मानस किस प्रकार की सामाजिक मर्यादा, नैतिक आदर्श या अपने लक्ष्य की प्राप्ति के प्रति संघर्ष चाहता है। इनमे सदा ही सत्य की विजय और असत्य की पराजय दिखाई जाती है।

२—लोकमानस अपनी सामान्य सांसारिक वृत्तियों अर्थात् वासनाओं की कैसी स्वच्छंद तुष्टि चाहता है, जो शीरीं-फरहाद, लैला-मजनू, सुल्ताना-डाकू आदि प्रेम सम्बन्धी और साहसिक लोकनाटकों मे अभिनीत होती हैं।

३—समकालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थितियों का अति यथार्थपूर्ण प्रदर्शन एवं हास्य और व्यंग्य के द्वारा उनकी बुराइयों का पर्दाफाश और उपहास करना।

४—स्वयं इस समाज के जीवन यापन, मिलने-जुलने और शिष्टाचार व्यक्त करने की भावनाएँ तथा अभिजात्य वर्ग के प्रति उनकी धारणाओं की सुन्दर झांकी प्राप्त होती है।

लोकनाट्यों का वर्गीकरण—

लोक साहित्य आरम्भ से ही स्पष्टतया दो वर्गों में विभाजित रहा—पहला पौराणिक कल्पना के देवी-देवताओं के जीवन से सम्बन्धित गाथाएँ जिन्हें लोकगाथा (Myth) के नाम से अभिहित किया जाता है और दूसरा समाज के उन साहसिक व्यक्तियों से सम्बन्धित कथा साहित्य जिनका जीवन मुख्यतया शौर्य, श्रृंगार, अथवा संघर्षपूर्ण घटनाओं से पूर्ण है। इसे लोककथा (Folktale) कहा जाता है। लोकनाटच सीधे-सीधे इन्ही लोककथाओं और लोकगाथाओं से सम्बन्धित होते हैं, अतः इन्हीं के आधार पर लोकनाटचों को भी दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—एक, धार्मिक लोकनाटच और दो, लौकिक या सामाजिक लोकनाटच। धार्मिक परम्परा के कथानक का सम्बन्ध किसी पौराणिक महापुरुष, कोई अवतार या देवी-देवता

से रहता है। इनका मुख्य उद्देश्य इन महापुरुषों के चरित्र का समाज के समक्ष अभिनय कर उनके द्वारा स्थापित सामाजिक मर्यादा और व्यवस्था का आदर्श प्रस्तुत करना होता है। उत्तर भारत में ऐसे धार्मिक लोकनाट्य के रूप में रामलीला, रासलीला और जात्रा सबसे महत्वपूर्ण हैं।

लौकिक या सामाजिक नाट्य परम्परा का मुख्य विषय वीर पुरुषों के शौर्य तथा शृंगार का वर्णन और समाज की उन घटनाओं का चित्रण है जो सीधे लोकजीवन से सम्बन्धित हैं। इनमें सामाजिक व्यंग्य या शृंगारिक विषयों की प्रधानता रहती है। इस कोटि के नाटकों में नौटंकी, बिदेसिया, स्वांग, भवाई, भांड़ आदि आते हैं। इनके कथानकों में ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, शृंगारिक आदि सभी विषयों का समावेश रहता है। इन विषयों से सम्बन्धित वे ही कथानक लोकनाट्यों में प्रदर्शित किए जाते हैं जिनका सीधा सम्बन्ध ग्रामीण या निम्नवर्ग की जनता से होता है। अपने ही जीवन से सम्बन्धित रहने के कारण ये लोकनाट्य ग्रामीण और निम्न वर्गीय जनता के लिए बड़े आकर्षक और प्रभावशाली होते हैं जैसे राजा भर्तृहरि, भक्त पूरनमल, सुल्ताना डाकू, हीरा-रांझा शीरी-फरहाद आदि लोकप्रिय नाटकों की इतनी ख्याति है कि दूर-दूर से ग्रामीण जनता इन्हें देखने के लिए टूट पड़ती है। इनके कथानकों में इतना आकर्षण होता है, गीतों में इतनी प्रभविष्णुता होती है, कथोपकथन में इतना व्यंग्य और हास्य होता है कि जनता मुग्ध होकर रात भर, और कभी-कभी तो सूर्य निकलने तक बैठी रह जाती है। ग्रामीणों के लिए सामूहिक अपील के रूप में इससे बढ़कर दूसरा कोई भी साधन नहीं है।

उपरोक्त दोनों प्रकार के लोकनाट्यों के सम्बन्ध में इस बात में कोई सन्देह नहीं कि इनका अभिनय विशुद्ध मनोरंजन प्रधान दृष्टि से होता है, ग्रामीण जनता के मनोरंजन के ये सबसे बड़े साधन हैं तथापि इनके पीछे परम्परा से निहित इच्छापूर्ति का उद्देश्य निहित रहता है। आज देहातों में खेली जानेवाली न तो रामलीला, रासलीला ही और न ही नौटंकी या स्वांग निरे मनोरंजन के साधन हैं, वरन् उनके द्वारा सामाजिकों पर जो प्रच्छन्न प्रभाव पड़ता है वह मनोरंजन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रभाव का विवेचन विभिन्न लोकनाटकों के साथ किया जायगा।

सामाजिक मूल्य और लोकनाट्य

रामलीला —

भारतीय जनजीवन में राम और कृष्ण अपने अत्यंत महान मानवीय गुणों के कारण धर्म, राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति आदि सभी दृष्टियों से इतने लोकप्रिय हुए कि कालांतर में समाज उन्हें अवतार के रूप में पूजने लगा। उनके व्यक्तिगत गुण उनके सामाजिक कार्य और व्यवस्थाएँ, धर्म तथा पीड़ितों की रक्षा के लिए किए गए कार्य इतने उच्च स्तर के थे, उनकी व्यवस्थाओं के कारण उनका समाज इतना सुखी और सम्पन्न था कि उनकी बादवाली पीढ़ी उन्हें अलौकिक शक्ति से युक्त मानने लगी और राम और कृष्ण ईश्वरीय कोटि में पूजे जाने लगे। जैसा कि समाज की सामान्य प्रवृत्ति रहती है, महापुरुषों के चारित्रिक गुणों और व्यवस्थाओं का यश हमेशा वह काव्य, संगीत आदि द्वारा स्थायी रखना है तथा उनका अनुकरण कर अपने समाज के लिए आदर्श उपस्थित करना है। समाज वीर तथा धार्मिक पुरुषों का सदा काव्य रूप में यशोगान और नाट्य रूप में अभिनय करता रहा है। मानवता के सभी संभव गुणों से युक्त राम और कृष्ण के जीवन काल में पूज्य मानकर अभिनीत होने लगा। धार्मिक भावनाओं के अधिक निकट होने के कारण ये भक्तों के लिए उपास्यदेव के रूप में पूज्य हुए फलस्वरूप उनके चरित्र का अभिनय धार्मिक प्रवृत्ति के उन भक्त लोगों द्वारा आरंभ होता था जो विशेषतः देव मंदिरों में ही रहते थे। यह अभिनय ही कालान्तर में उपास्य की लीला के नाम से अभिहित होने लगा, जैसे रामलीला, रासलीला आदि। कई शताब्दियों तक ये लीला नाटक मंदिरों में ही आबद्ध रहे जिसके कारण भावुक जनता के लिए श्रद्धा के रूप में कुछ ऐसे असाधारण गुण इन नाटकों में आए जो मंदिरों के ही वातावरण में उत्पन्न तथा विकसित हो सकते थे। किन्तु जब सामाजिकता की दृष्टि से क्रांतिकारी व्यक्तित्वों द्वारा (उत्तर प्रदेश में रामलीला को तुलसी और बंगाल में कृष्ण लीला को चैतन्य महाप्रभु) मंदिरों के बद्ध वातावरण से मुक्त कर सामाजिक चेतना के माध्यम के रूप में खुले समाज में लाया गया तो इनमें एक अपूर्व शक्ति आई जिसने विदेशियों द्वारा पददलित और अपने सामाजिक गौरव को भूले भारतीयों में चेतना की एक अपूर्व शक्ति फूंकी। मंदिरों से बाहर निकलने पर इन लीला नाटकों में लोक जीवन की समस्त कलात्मक और सांस्कृतिक झाँकी तो दिखलाई ही पड़ी, साथ ही उनके द्वारा सामाजिक संगठन का बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य हुआ। जनता की मूर्त

और जीवन्त कलाएं, नृत्य और गीत, विश्वास तथा आचार-विचार-व्यवहार परिधान तथा वाणी सभी कुछ इनमें प्रकट हुए। यही कारण है कि राम तथा कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित लीलाओं में लोकनाट्यों का सर्वाधिक समृद्ध एव प्रतिनिधि रूप मिलता है।

लीलाओं के रूप में लोकनाट्यों के कई रूप भारतीय समाज में प्रचलित है, जैसे, रामलीला, रासलीला, नृसिंह लीला, वाराह लीला आदि किन्तु इन सब में समाजशास्त्रीय दृष्टि से रामलीला का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। उसका कारण यह है कि अन्य लीलाओं के नायकों की अपेक्षा रामलीला के नायक राम का व्यापक पारिवारिक-सामाजिक जीवन देखने को मिलता है और उनके चरित्र में सामाजिक संगठन का जितना मर्यादित और उदात्त रूप देखने को मिलता है उतना अन्य किसी में नहीं।

रामलीला के कथानक का मुख्य प्रतीकार्थ यही है कि समाज में निरंकुश तथा अत्याचारी शासक सदा दमनीय हैं। सामाजिक अव्यवस्था फैलाकर, दूसरे राज्यों को लूटमार कर भले ही कोई राजा और राज्य धनी हो सकता है किंतु सामाजिक सुख-शांति और आदर्शात्मक (Normative) व्यवस्था उनके द्वारा कभी भी स्थापित नहीं हो सकती। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, समाज में इसीलिए रहता और उसके कठोर से कठोर नियमों का पालन करता है कि उसका जीवन अन्य सबके जीवन की सुख सुविधाओं का ध्यान रखते हुए सुखी और सम्पन्न रहे अतः जब तक अत्यंत व्यापक स्तर पर सामाजिक मान्यता को महत्व नहीं मिलेगा, समाज का अंग विशेष या एक समाज विशेष भले ही समृद्ध हो तो क्या व्यापक स्तर पर सामाजिक अव्यवस्था को ही प्रश्रय मिलेगा जिससे उसका निरंकुश सामाजिक संगठन छिन्न-भिन्न हो जायगा और एक नवीन आदर्शात्मक सामाजिक व्यवस्था की स्थापना होगी। रावण ने सिर्फ अपनी शक्ति बढ़ाने और सर्वोपरि होने के लिए तत्कालीन समाज के समस्त मूल्यों का उल्लंघन किया, बिना कारण ही दूसरे राज्यों को पददलित किया, उन्हें कष्ट दिया तथा हर व्यवस्था के विपरीत कार्य करना ही अपना लक्ष्य बनाया, इसलिए राम जैसे आदर्श पुरुष ने एक संगठित सेना की सहायता से उस पर चढ़ाई कर उसे पराजित कर पुनः एक आदर्श राजा को उस राज्य का स्वामी बनाया और स्वयं एक सुन्दर शासन-व्यवस्था का आदर्श प्रस्तुत किया।

इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर भारत के कोने-कोने में वैसे ही शासन की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए राम के जीवन का विभिन्न प्रकार से प्रादेशिक विशेषताओं के अनुसार अभिनय किया जाता है। इस अभिनय में समाज के प्रत्येक ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, युवा-वृद्ध एकत्रित होते हैं ।

रामलीला के उपरोक्त उद्देश्य से स्पष्ट है कि रामलीला समाज के समक्ष एक आदर्श उपस्थित करती है जिसमें समाज के भाई-भाई, माता-पिता, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, सेनापति-सेना, राजा-प्रजा आदि जितने भी अंतः सम्बन्ध हो सकते हैं उन सबका बड़ा सुन्दर व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है। इसमें अभिनय के भीतर यह प्रेरणा तत्व निहित रहता है कि रामत्व (आदर्श व्यवस्था) रावणत्व (असंगठित व निरंकुश व्यवस्था) पर सदा ही विजयी होता रहा है, अत्याचारी शासक और उसके दुष्कर्म सदा ही रामत्व अर्थात् जनता की महान शक्ति के द्वारा नष्ट होगा। देश जब पराधीन था तब रामलीला रामराज्य के आदर्शों की स्थापना की प्रेरणा देती थी और जब स्वाधीन हो गया है तब उसके कार्यान्वियन की ओर प्रेरित करती है।

रामलीला के अभिनय से भारतीय समाज का धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी दृष्टियों से बड़ा उपकार हुआ। देश की सामाजिक और राजनीतिक चेतना के लिए तो ऐसे लोक रंगमञ्चों तथा नाट्यों का सर्वत्र और सर्वदा महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यद्यपि लोकनाट्य के रूप में यह बहुत प्राचीन है, आदि कवि वाल्मीकि द्वारा ही इसका सूत्रपात हो गया था किन्तु विदेशी शासन की विगत ५ शताब्दियों में सामाजिकता की दृष्टि से रामलीला का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। पराधीनता के समय जनता खुले रूप से शासन और उसकी बुराइयों का विरोध नहीं कर सकती। ऐसे समाज में साहित्य और धर्म का 'कांता सम्मित' (Latent) मार्ग ही उसमें जीवन और जागृति ला सकता है। मुसलमानी शासन युग का प्रायः सम्पूर्ण भक्ति साहित्य और धार्मिक लोकाभिनय उसका प्रमाण है। एक ओर जहां प्रतीक रूप में सुशासन-कुशासन का साहित्य द्वारा वर्णन होता था वहीं दूसरी ओर रामलीला, रामलीला के अभिनय द्वारा उसका दृश्यात्मक रूप प्रस्तुत कर जनता में क्रांतिकारी प्रभाव उत्पन्न किया जाता था। हिन्दी के प्रसिद्ध

रासलीला

कृष्ण के जीवन से संबंधित लोकनाटय को रासलीला या कृष्णलीला कहा जाता है। भारत की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परम्परा मे लोकनायक श्रीकृष्ण का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है और वह भी इसलिये कि कृष्ण का सम्पूर्ण कार्य क्षेत्र समाज के अत्यंत सामान्य कोटि के माने जानेवाले वर्ग मे ही सम्पन्न हुआ। जातीय सस्तरण मे ग्वाला जाति को कोई महत्व-पूर्ण स्थान नही प्राप्त है, वरन् उन्हें बहुत सामान्य स्तर का समझा जाता है। कृष्ण ने इन्हीं ग्वाला जातिवालों के बीच जन्म लेकर समाज सेवा, वीरता, राजनीति, धर्मनीति आदि का जो कार्य किया वह सम्पूर्ण भारतीय साहित्य और इतिहास में अद्वितीय है। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। समाज में आदर्श व्यक्तित्व की जितनी बहुविविधता हो सकती है वह सब उनमें थी। किन्तु समाज में जो उनका सर्वप्रिय व्यक्तित्व था वह था रास रसिक कृष्ण का। बाल्या और युवा वस्था में अपने ग्वाल-गोपी मित्रों के साथ उन्होंने जिस प्रकार से मनोविनोद किये थे वे भावुक और धर्म प्रिय सामाजिकों को बड़ा प्रिय लगा। इसलिये भक्ति का प्रत्यक्ष आनन्द लेने के लिए उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व से अभिनय हेतु जो स्वरूप चुना गया वह यही रास रसिक कृष्ण का था। भारतीय जनता की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है कि जो व्यक्ति समाज संगठन और रक्षा का महनीय कार्य कर जाता है उसे भारतीय समाज में भगवत् स्थल बड़ी आसानी से प्राप्त हो जाता है। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, नानक, गुरुगोविन्द सिंह आदि ने इसी विशेषता के कारण भगवत् स्थल को प्राप्त कर सदा के लिए पूज्य स्थान प्राप्त किया। ऐसे व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह अपने व्यक्तित्व की गुरुता को भूलकर सामान्य कोटि का किन्तु लगन-प्रिय समाज-सेवक हो जाता है। जन-मन-रंजन भी इनकी अपनी विशेषता होती है। अपनी सम्पूर्ण गुरुता को भूल कर कृष्ण ने अपने व्यक्तित्व को समाज में आत्म सात् कर दिया और ग्वाल-गोपियों के साथ बड़ी तन्मयता एवं माधुर्य से कभी मुरली बजाकर मनोविनोद करते, कभी माखन चोरी के द्वारा और जब आवश्यकता पड़ती तो समाजविध्वंसकारी तत्वों का नाशकर लोगों की रक्षा करते। इस अभि-नय को देखकर सामाजिक इतने भाव विभोर हो जाते हैं कि सभी अपनत्व

की चेतना खोकर कृष्ण के चरित्र में साधारणीकृत हो जाते हैं। माखन चोरी और मुरलीवादन के अतिरिक्त तत्कालीन समाज में अव्यवस्था फैलाने वाली निरंकुश शक्तियों— कंस, पूतना आदि के उन्मूलन की युक्तियों का अभिनय देखकर आत्म रक्षा के लिए संगठन की भावना जागृत होती है।

दर्शक (सामाजिक) रास के कृष्ण में सहस्त्रों वर्ष पूर्व जन्म लेकर वृन्दावन में विचरण करनेवाले एक बालक की कल्पना करते हैं, जिसने कंस जैसे अन्यायी राजा को अपने बाहुबल से पछाड़ा था, जिसमें बांसुरी की तान अलापने के साथ-साथ पूतना जैसी कपटी और क्रूर नारी के प्राण हरण करने की शक्ति भी थी, जो अगणित सुंदरियों के मध्य रहता हुआ भी योगिराज कहलाता था, रास उसके बाल्यकाल की झाँकी है, जिसमें नृत्य है, संगीत है, साहित्य है, कला है, राजनीति-कूटनीति है और है एक वीर जाति की संस्कृति की झाँकी। इन विचारों के साथ वह कृष्ण की शोभा और शक्ति का आनन्द लेता है।

रामलीला की अपेक्षा रासलीला मे संगीत और नृत्य की प्रधानता रहती है। इसीलिए इसे संगीतनाट्य भी कहा जाता है। रासलीला ब्रजभूमि के नृत्य पर आधारित एक नाट्यशैली थी जो समस्त उत्तर भारत में व्याप्त हो गई। आज भी परम्परा के अनुसार प्राय नित्य यमुना के पुलिन पर किसी वृक्ष के समीप या किसी मंदिर के प्रांगण में अथवा ऊँचे टीले पर एक चौकी रख दी जाती है और उसके नीचे चार-पांच संगीतज्ञ विविध वाद-यंत्रों के साथ बैठ जाते हैं और फिर विभिन्न प्रकार के धार्मिक पदों के गायन से रास-नृत्य आरंभ होता है।

जन सामान्य की दैनिक जीवन की व्यावहारिक भाषा में रासलीला की परम्परा में सोलहवीं शताब्दी में कृष्ण भक्त महात्माओं द्वारा जन्म लेकर विदेशियों द्वारा पराजित और निराश जनता को अपने धर्म, संस्कृति और सामाजिक परम्परा के लिए अपूर्व आस्था प्रदान की जो विदेशियों के बर्बर आक्रमण और अत्याचार का सामना करते-करते अपने सम्पूर्ण सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति निराश हो गई थी। जब विदेशियों के द्वारा अत्यंत त्रस्त होने पर भी कारण रहित दयालु भगवान को अपनी सहायता के लिए आगे आते न देखा तो उनके प्रति उनमें अनास्था उत्पन्न होने लगी। धर्म प्रधान भारतीय

समाज के लिए यह एक चिंतनीय अवस्था थी। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज में व्यवस्था बनाए रखनेवाले मुख्य तत्व धर्म से लोगों का विश्वास उठने लगा। आर्य जाति को अपने गुण-दोषों के सहित चली आनेवाली जातीय व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी और यही वह समय था जब भारतीय समाज तथा संस्कृति में विघटन बढ़ रहा था। एक जीवित जाति जब अधो-गति की सीमा पर पहुँचती है तब उसके भीतर से ही पुनर्निर्माण की शक्तियाँ स्वयमेव उत्पन्न हो जाती हैं और वह प्राचीन मूल्यों तथा जीवनादर्शों को नई परिस्थिति में नए रूप में खोज सकने में समर्थ होती है। भारतीय समाज ऐसी अनेक संक्रांतियों से गुजर चुका है। पंद्रहवीं-सोलहवीं शती के शासन काल में न केवल राजनीतिक अव्यवस्था और उत्पीड़न एवं सामाजिक सुरक्षा का अभाव था, वरन् सामाजिक जीवन बहुत पहले से विच्छिन्न और क्षीण होता जा रहा था, अनेक प्रकार की कुप्रथाओं ने घर कर लिया था। वल्लभा-चार्य ने अपने कृष्णाश्रय में कहा है कि, देश म्लेच्छाक्रांत है, गंगादि तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट हो रहा है, अशिक्षा और अज्ञान के कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है, सत्पुरुष पीड़ित तथा ज्ञान विस्मृत हो रहा है।' इसी स्थिति के कारण वल्लभाचार्य और हितहरिवंशदास में निराश हिन्दू जाति में पुनः संगठन के लिए ऐतिहासिक महापुरुष श्रीकृष्ण के चरित्र का गान अभिनय आरम्भ किया। कृष्ण की बाललीलाओं तथा साहित्य के द्वारा वर्णन और लीला रूप में अभिनय द्वारा दृश्य उपस्थित कराकर जनता में अपनी पुरातन संस्कृति के प्रति उस संकट काल में भी विश्वास बनाए रखने के लिए प्रेरणा बनाए रखना इनका लक्ष्य था। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए इन भक्तों ने कृष्ण के चरित्र का अभिनय रासलीला के रूप में आरम्भ किया जो पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बंगाल तक सारे उत्तरी भारत में बड़ी शीघ्रता से व्याप्त हो गया। इस आंदोलन का सूत्र पश्चिम में नरसी मेहता और पूर्व में चैतन्य महा-प्रभु ने सम्हाला। इन लोगों के प्रयास से हिन्दू जाति में अपने धर्म, संस्कृति और सामाजिक मूल्यों के प्रति पुनः आस्था की एक लहर दौड़ गई जो आज तक अक्षुण्ण रूप से रासलीला को बनाए रखे हैं। उस युग में इस प्रकार की चेतना जागृत करनेवाले कार्यों और भक्त महापुरुषों की एक धारा सी प्रवाहित हो चली थी। जनता में राग और आस्था उत्पन्न कराने का कार्य तो इन

कृष्ण भक्तों और रासलीलाओं द्वारा हुआ और अपनी सामाजिक सुरक्षा के लिए स्वयं ही जागृत होने का भाव जागृत हुआ रामभक्तों द्वारा प्रचारित लीलाओं से। इस प्रकार सामाजिक जागृति की जो परम्परा उस युग में चल पड़ी थी उसने डूबती हिन्दू जाति और उसकी सामाजिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न होने से बचा लिया। रामलीला और रासलीला का इससे बढ़कर और क्या सामाजिक कार्य हो सकता था।

डा० दशरथ ओझा का कथन है, "साहित्यिक नाटकाभिनय का कोई भी ऐसा रूप ढूंढ़ना कठिन है जो शताब्दियों तक इतनी मनोज्ञता के साथ चला आ रहा हो। इस रास में कोई ऐसी विशेषता अवश्य है जो राजा-रंक, विद्वान-मूर्ख, नास्तिक-आस्तिक, सेठ-भिखारी, महात्मा-दुरात्मा, रसिक-आमिक, बाल-वृद्ध आदि सभी वर्गों को प्रसन्न करने की शक्ति-रखती है। वह शक्ति क्या है ? वह विशेषता यह है कि रामायण महाकाव्य के तरह इसमें सबको अपनी अपनी रुचि के अनुकूल रसास्वादन कराने की सामर्थ्य है।" संगीतज्ञ को उच्च-कोटि की राग-रागिनियाँ और संगीत, भक्तों को भगवान की प्रत्यक्ष लीला, अभिनय और मनोविनोद प्रिय सामान्य जनता को अभिनय का पूर्ण आनन्द, ग्रामीण भोली-भाली जनता को अपने पूर्वजों के सुख-समृद्धिपूर्ण जीवन की मधुरिम झाँकी आदि सभी कुछ सभी को एक ही स्थल पर मिल जाती है। रामलीला के संगीत और नृत्य में इतनी मधुरिमा रहती है कि नितांत अनपढ़ से लेकर उच्च शिक्षित स्तर के लोग भी उसकी संगीत में तरंगायित होने लगते हैं, गाये जानेवाले पदों के शब्दों में इतनी हृदयस्पर्शिता रहती है कि प्रत्येक सहृदय सामाजिक भावविभोर हो जाता है। लोकनाट्यों के रूप में इन लीलाओं की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अन्य लोकनाट्यों जैसे, नौटंकी, स्वांग, विदेसिया आदि के बड़े साधारण और शृंगारिक कथानक व अभिनय के कारण बहुत से धार्मिक प्रवृत्ति के वृद्ध जन नहीं जाते, किन्तु इन लीला नाटकों को देखने के लिए समाज का प्रत्येक वर्ग टूट पड़ता है। यह इन लीला नाटकों के अत्यंत विस्तृत सामाजिक अपील की शक्ति के ही कारण होता है।

जात्रा नाटक

पन्द्रहवीं-सोलहीं शताब्दी में उत्तर में कृष्ण भक्ति के साथ कृष्णलीला

(रासलीला की जो धारा फूटी उससे पूर्व में चैतन्यदेव की भाव विभोरता में जात्रा (यात्रा) का रूप लिया। जात्रा नाटक में घूम-घूम कर कृष्ण की विविध लीलाएं दिखाई जाती थीं जो खुले रंगमंच के रूप में अपनी प्रभाव कारी परम्परा आज तक जीवित रखे हैं। विभिन्न प्रसिद्ध कवियों जयदेव, चंडीदास, चैतन्य देव आदि के पदों के आधार पर बंग भूमि में संवाद योजना के द्वारा कृष्ण यात्राएं बड़ी तत्परता से अभिनीत की जाती रही हैं। बंग देश का यह अतीत प्रिय लोक नाट्य रूप है जिसमें कृष्ण के चरित्र के अति-रिक्त शक्ति (देवी) के चरित्र संबंधी प्रसंगों का भी यात्रा रूप में अभिनय किया जाता है और बंगाल की भावुक भक्त जनता बड़ी तन्मयता से इसे देखती है। कालांतर में यात्रा मंडलियाँ लौकिक प्रेम की गाथाओं को भी कथावस्तु बनकर नाटक खेलने लगी।

लोक नाट्यों की परम्परा में यात्रा नाटक अत्यन्त प्राचीन है जिनकी परम्परा विद्वानों के अनुसार वैदिकशास्त्र से भी प्राचीन है। डॉ० पी० हार-विट्ज और डॉ० कीथ प्रभृत विद्वानों का भी मत है कि यात्रा नामक लोक नाट्यों के प्रभाव से ही संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति हुई। डॉ० दशरथ ओझा ने वैदिक काल से यात्रा नाटक की पूर्व परम्परा को बताते हुए लिखा है कि "देवप्रतिमा के जुलूस के साथ उसका (यात्रा नाटक का) संबंध इस बात का प्रमाण है कि यह नाटक मानव इतिहास के उस युग में प्रचलित हुआ होगा जब संसार की विभिन्न जातियां प्रारम्भ में अपने उपास्यदेव की प्रति-माएँ जुलूस के रूप में निकालकर नृत्य और संगीत के साथ अभिनय करती थीं। हमें मेसोपोटमिया के प्राचीन इतिहास में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईसा से चार सहस्र वर्ष पूर्व वहाँ की सुमेर जाति में इसी प्रकार देव प्रतिमा के जुलूस के साथ नाटक प्रचलित था।"[१]

यात्रा नाटक हमारे देश के आदि धार्मिक नाटक थे जिन पर समय-समय पर अनेक देवी-देवताओं की गाथाओं का प्रभाव पड़ता गया। इस प्रकार देश-काल के अनुसार 'शक्ति-यात्रा', 'शिव-यात्रा', 'राम-यात्रा', कृष्ण-यात्रा आदि अनेक यात्राएं प्रसिद्धि प्राप्त करती रहीं। इन्हीं विभिन्न यात्रा नाटकों

---

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० ५३।

का प्रभाव संस्कृत तथा अन्य नाटकों पर पड़ा। चैतन्यदेव के समय यात्रा नाटकों में कृष्णलीला का प्रभाव इतना बढ़ गया कि यात्रा नाटक से केवल कृष्णलीला का ही बोध होने लगा।

सामाजिकता की दृष्टि से देखने पर इनमें जनता की धार्मिक प्रवृत्ति और विश्वास ही मुख्य चीज मिलती है। बंगाल की भूमि में विदेशी शासकों के समय भी इनको अच्छा स्थान प्राप्त रहा जिससे जनता के धार्मिक विश्वासों का सदा ही संरक्षण होता रहा। भक्त जनता के उत्साह के साथ देव-गाथा का गान गाती, नृत्य दिखाती, एवं अभिनय के रूप में देव चरित्र प्रदर्शित करती हुई एक दम तन्मय हो जाती है। जनता धार्मिक भावनाओं की तृप्ति के साथ मनोरंजन भी पाती है। दर्शकों के संवेगों को स्पर्श करने और कथा की रोचकता बनाए रखने के लिए यात्रा नाटक में संगीत को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

स्वांग

लोकनाट्यों की परम्परा में हिन्दी क्षेत्र में 'स्वांग' का स्थान सबसे पुराना प्रतीत होता है। नवीं शताब्दी के सिद्ध कण्हपा ने 'आलो डोंबी ताए संग करिबय सांग, निधिण लरणह कपाली जोई लाग।' कहकर इसका प्रसंग उठाया है। जायसी ने अपने समय में स्वांग-तमाशा में औरतों के भी भाग लेने का वर्णन किया है और घुमक्कड़ व्यक्तित्ववाले कबीर ने दूर-दूर के क्षेत्रों में स्वांग और तमाशा देखने के लिए जनता को भेड़ बकरी की तरह टूटते देखकर कहा था कि—

> कथा होय तहँ स्रोता सोवें, वक्ता मूड़पचाया रे।
> होय जहां कहि स्वांग तमाशा, तनिक न नींद सताया रे।

इससे यह प्रकट होता है कि स्वांग जनता का अत्यंत प्राचीन और लोकप्रिय नाट्य रहा है। इसका कारण यह है कि इसमें ग्रामीण जनता को अपनी भावनाओं को अत्यंत मनोविनोदात्मक और व्यंगात्मक ढंग से प्रदर्शित करने का पूरा पूरा अवसर प्राप्त होता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता व्यंग्य प्रधानता है और इसी से इसकी हास्य-मनोविनोद की क्षमता और भी बढ़ जाती है। यह बहुत ही सामान्य वर्ग की जनता जैसे भंगी, धोबी, धानुक, कुर्मी, चमार,

डोम, काछी आदि द्वारा अभिनीत होता है। इसके अभिनेता एक ओर जहाँ अपनी विलक्षण बुद्धि, अद्भुत भाव-भंगिमा और मौलिक सूझ-बूझ के सहारे लोगों को हँसाते-हँसाते लोट-पोट करा देते हैं दूसरी ओर व्यंग्य की तीखी चोटों के सहारे समाज के चेहरे पर झूठे दम्भ, ढोंग-पाखंड, मान-मर्यादा जात-पाँत और दिखावटी शान-शौकत के नकाब को उघाड़ फेंकते हैं। इस व्यंग्य प्रधान अभिनय की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जो भोले-भाले ग्रामीण किसान और मजदूर, कारिंदों, पंचों, मुखियाओं और सेठ साहूकारों के विरुद्ध मुँह तक नहीं खोल सकते, वे इन नाटकाभिनय का सहारा लेकर उनकी सारी काली करतूतों का पर्दाफाश कर उन पर कठोर से कठोर व्यंग्य और उपहास करते है, जनता के भय के स्वरूप पंच, मुखिया, सेठ साहूकार आदि उनके उपहास के माध्यम बन जाते है जिसका सीधा प्रभाव इन शोषकों पर पड़ता है जो तरह-तरह से धर्म और कानून तथा झूठे रोब-दाब और एहसान की आड़ में जनता को चूसा करते हैं। घर में अनाज नहीं है, देह पर कपड़े नहीं है, गाँठ में पैसे नहीं हैं कोई परवाह नहीं। जीवन की आनन्द वृत्ति तो दबाई नहीं जा सकती, हँसे बिना तो जिया नहीं जा सकता। इसीलिए स्वांग के आयोजनों पर ग्रामीण जनता बड़े उत्साह से भाग लेती है। इनके आयोजनों से गाँव के सेठ साहूकार और शोषकों के अपनी काली करतूतों के पर्दाफास होने के भय से हाँथ-पाव फूल जाते हैं। गुजरात का 'भवाई' और महाराष्ट्र का 'तमाशा' तथा 'ललित' इसी कोटि का लोकनाट्य है। आगरा क्षेत्र में स्वांग 'भगत' के नाम से प्रसिद्ध है।

स्वांग का अभिनय देहातों में विशेषकर दो अवसरों पर होता है : एक तो विवाहोत्सव के अवसर पर स्त्रियों द्वारा नकलों के रूप में और दूसरा होली तथा अन्य अवसरों पर पुरुषों द्वारा व्यंग्यविनोदपूर्ण नकल। होली के अवसर में एक गाँव में एक युवक मंडली द्वारा खेले गए स्वांग का दृश्य द्रष्टव्य है जो गाँव के उन पंचों के ऊपर व्यंग्य प्रहार है जो भलाई के ठेकेदार हैं लेकिन ६० वर्ष की उम्र में भी दो-दो पत्नियाँ रखे हैं—

"ठाकुर ठकुराइन को रसिक नेत्रों से देखकर कहते हैं—'अब तो तुम्हारे ऊपर वह जोबन है कि कोई जवान भी देख ले तो तड़प जाए।' और ठकुराइन फूलकर कहती हैं, 'तभी तो नई नवेली लाए हो।'

'उसे तो लाया हूँ तुम्हारी सेवा करने के लिए। वह तुम्हारी क्या बराबरी करेगी।'

छोटी बीबी यह वाक्य सुन लेती है और मुँह फुलाकर दोनों के सामने से निकल जाती है।

दूसरे दृश्य में ठाकुर खाट पर लेटे हैं और छोटी बहू मुँह फेरे जमीन पर बैठी है। ठाकुर बार-बार उसका मुँह अपनी ओर फेरने की विफल चेष्टा करके कहते हैं—'मुझसे क्यों रुठी हो मेरी लाडली ?'

'तुम्हारी लाडली जहाँ हो वहाँ जाओ। मैं तो लौंडी हूं, दूसरों की सेवा टहल करने के लिए लाई गई हूँ।'

तुम मेरी रानी हो, तुम्हारी सेवा के लिए वह बुढ़िया है।

पहली ठकुराइन सुन लेती है और झाड़ू लेकर घर में घुसती हैं, कई झाड़ू ठाकुर पर जमाती है और ठाकुर साहब जान बचाकर भागते हैं।'

इसी तरह की दूसरी नकल भी उन्हीं ठाकुर साहब की हुई जिसमें ठाकुर साहब ने दस रुपये का दस्तावेज लिखाकर एक आना रुपये पर पाँच रुपये दिये, शेष नजराना, तहरीर, दस्तूरी और ब्याज में काट लिया। गाँव के अन्य कई मुखिया लोगों की भी नकल युवक मंडली ने किया। इस प्रकार की सारे गाँव और दूर-दूर के लोगों के समक्ष अपनी छीछालेदर देखकर ये मुखिया बड़े रुष्ट हुए और आपस में बदला लेने के लिए युवक मंडली के नेता जगन्नाथ के पिता पर पिछली दो झूठा लगान का सूद सहित बकाया लगा दिया जिसे जगन्नाथ के पिता को जमा करना पड़ा।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि ऐसे स्वांग-रूपकों का सहारा पाकर भोली-भाली, अशिक्षित और निम्न जनता अपने हृदय में संचित उन भावों का प्रदर्शन करने का अवसर पा जाती है जिनके कारण वह अपना विकास करने में स्वयं असमर्थ हैं। यदि इन नाटकों के द्वारा निम्न वर्ग की नकल का अध्ययन किया जाय तो उनकी सामाजिक, आर्थिक समस्या का हल निकालने में बड़ी सहायता मिल सकती है। धार्मिक वर्ग के नाटकों (रामलीला, रासलीला यात्रा आदि) में पौराणिक कथा-सूत्रों के कारण जो थोड़ा सा अभिजात्य का पुट मिलता है वह यहाँ आकर एकदम समाप्त हो जाता है। इस ढंग के नाटकों

में सबसे पहले स्वांग और नकलों का उल्लेख किया जा सकता है। भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक ग्रन्थों में जो इनका वर्णन मिलता है उससे पता चलता है कि स्वांग करनेवालों की पहुँच दूर-दूर के स्थानों और समाज के प्रत्येक स्तर के लोगों तक थी तथा ये उनके रहन-सहन वस्त्राभरण, स्वभाव आदि से भली-भाँति परिचित थे। औरंगजेब के समकालीन मौलाना गनीमत की मसनवी 'नौरंगे इश्क' में वर्णन है कि ये स्वांगी गरज हर कोम का जलवा दिखाते हैं और हर तरह से जमाने से काम लेते हैं।' यह बात काश्मीरियों और फिरंगियों (अंग्रेजों) की नकल करने के प्रसंग में कही गई है। तात्पर्य यह कि पेशे और गैर पेशेवर नकलचियों और स्वांग भरनेवालों का प्रभाव और महत्व बड़ा पुराना और यह किसी न किसी रूप में हमेशा स्वीकार किया जाता रहा है।

यद्यपि स्वांग और इस कोटि के अन्य नाटकों में सामाजिक आदर्श की दृष्टि से बड़ा सस्तापन अथवा अश्लीलता आ जाती है किन्तु फिर भी इसमें उनकी इच्छापूर्ति (Wishfulfilment) और महत्वाकांक्षा (Ambitions) का अभिव्यक्तिकरण बड़े सुन्दर और सीधे सादे ढंग से होता है। हमेशा निद्य तत्वों की पराजय दिखलाकर वे यह प्रकट करते हैं कि वे भी उसी व्यापक भावना के साथ हैं जिसके अनुसार असत्य तत्व हमेशा पराजित होते हैं। अतिरंजित मनोरंजकता और अश्लील तत्वों का बाहुल्य होते हुए भी स्वांग संगीत-नृत्य की स्थानीय छटा के साथ लोकजीवन के मुक्त हृदय को असीम आनन्द पहुँचानेवाला सफल साधन है।

नौटंकी

स्वाग की ही भांति नौटंकी भी ग्रामीण जनता के मनोरंजन का अत्यंत प्रिय लोकनाट्य है और आज इसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ गई है कि देहातों में होनेवाला कोई भी नाटक नौटंकी कहलाने लगता है। इसका कारण यह है कि एक तो नौटंकी में सामान्य भोले-भाले ग्रामीणों की शृंगार भावना (Sex-Feelings) को छूने की जितनी शक्ति है, उतनी अन्य नाट्य-रूपों में नहीं। दूसरे स्वांग की तरह यह कभी कथानक से न हटकर एक विशेष कथानक पर ही केन्द्रित रहता है। नौटंकी अथवा अन्य लोकनाट्यों में पहले

वाली विषयक आधार अर्थात् कथोपकथन और संवाद प्रस्तुत किया जाता है और तब उसी के आधार पर उन्हें खेला जाता है किंतु स्वाँग में कृति अथवा कथावस्तु का स्थान गौण और हास्यप्रद अभिनय तथा संगीत, नृत्य और विपरीत बातों की प्रधानता रहती है। स्वाँग प्रायः अपने कथा प्रसंगों को बहुत से व्यंग्यात्मक कथा प्रसंगों को जबरदस्ती जोड देता है जो नौटंकी में कथावस्तु के माध्यम से ही होता है। बहुत से विद्वान भी नौटंकी और स्वाँग में कोई भेद नहीं देखते और प्रायः दोनों को पर्यायवाची मानते हैं किन्तु वह ठीक नहीं है। नौटंकी में केवल वही कथानक अभिनीत होता है जो प्रेम प्रधान हो और जिसमें प्रेमी को प्रेमिका की प्राप्ति के लिए लम्बा संघर्ष करना पड़ता है जैसे, हीरा-रांझा, लैला-मजनू आदि। किंतु स्वाँग का कथानक किसी भी ऐतिहासिक, सामाजिक, पौराणिक राजनीतिक प्रसंग का सहारा मात्र लेकर व्यंग्य प्रधान अभिनय पर केन्द्रित होता है। इसीलिए स्वाग को 'नकल' भी कहा जाता है। स्वांग में कोई भी लोक में प्रचार या प्रसिद्धि पाई कथा अभिनीत की जा सकती है पर नौटंकी में शृंगार रस प्रधान अथवा प्रेम गाथा कोटि की ही रचनाएँ खेली जाती हैं। प्रेम लीला अथवा रोमांस का संघर्ष किसी न किसी रूप में होना ही चाहिए। इसी को नौटंकी कहा जाता है।

नौटंकी स्वांग की अपेक्षा अत्यंत अर्वाचीन है जिसका मूल रूप पंजाब की उस प्रसिद्ध लोककथा पर आधारित है जिसकी नायिका स्वयं नौटंकी नाम की राजकुमारी और उसके प्रेमपाश में बँधनेवाला नायक फूलसिंह है। फूलसिंह को अपनी भाभी के व्यंग्य के कारण नौटंकी को प्राप्त करने में जो कष्ट उठाना पड़ा वह लोक चर्चा की चीज़ हो गई और फिर लोककलाकार ने उस मधुरकथा को अभिनय का रूप देकर उसे लोकप्रिय बना दिया। इसी आधार पर जितने भी प्रणय लोककथाओं का ग्रामीण मंचों पर अभिनय हुआ वे सभी नौटंकी कही जाने लगी। इस प्रकार के अभिनय में ग्रामीण जनता की प्रेम सम्बन्धी भावनाओं, चित्ताकर्षकता, वाक्पटुता और सूर-वीरता का बडा सुन्दर परिचय मिलता है। उपरोक्त कथा के ही आधार पर नत्थाराम शर्मा ने 'संगीत नौटंकी राजकुमारी उर्फ अय्यारा औरत' लिखी और श्रीकृष्ण पहलवान की नौटंकी 'नौटंकी शाहजादी' में भी यही कथा है।

आरम्भ मे नौटंकी की कथावस्तु में समकालीन प्रेम-वियोग-संघर्ष की

ही घटनाओं का चित्रण हुआ करता होगा, किंतु बाद में ऐसे चित्रणों की लोकप्रियता देखकर परम्परागत प्रेम प्रधान ऐतिहासिक और साहसिक कथानकों को भी चुनकर विस्तृत आधार पर अभिनीत किया जाने लगा। इन्हीं कथानकों में 'शीरीं-फरहाद', 'लैला-मजनूं', 'सोनी-महिवाल आदि ऐतिहासिक प्रेम प्रधान कथानकों का अभिनय आरम्भ हुआ तथा उसी क्रम में वीर और साहसी, पुनश्च भक्त चरित्रों का भी मंच पर अभिनय किया जाने लगा। जैसे अमरसिंह राठौर, सम्राट अशोक, टीपू सुल्तान, भक्त प्रहलाद, गोपीचंद, पूरनमल, राजा भर्तृहरि, हरिश्चन्द्र आदि। विषय क्षेत्र की इसी व्यापकता और मार्मिक चयन के कारण ही नौटंकी की लोक प्रियता अहर्निश बढ़ती गई। इसी बढ़ती लोक प्रियता का ही परिणाम यह हुआ कि किसी भी तरह का लोक नाट्य नौटंकी कहलाने लगा चाहे वह रासलीला, रामलीला मंडली हो या कोई 'डांसपार्टी'।

मेला और उत्सवों के अवसर पर नौटंकी का विशेष रूप से आयोजन होता है। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों फर्रुखाबाद, शाहजहांपुर, एटा कानपुर, इटावा, मैनपुरी, मेरठ, सहारनपुर आदि की नौटंकियां विशेष लोक प्रिय हैं। इन जिलों में नौटंकियों का आकर्षण इतना अधिक है कि अच्छे से अच्छे सिनेमा भी दर्शकों के लिए महत्वहीन हैं। इसके पुराने शौकीन आज भी हजारों रुपया इसके प्रबंध के लिये जुटा सकते हैं। वस्तुतः यह हमारी जनता की लोक संस्कृति के प्रति निकटतम रुचि का परिचय कराने वाली वस्तु है। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि इस रूप में नाटक ने हमारी जनता से घनिष्ठतम संबंध बनाए रहता है प्रत्येक नौटंकी का अंत सूत्रधार (या निर्देशक) द्वारा उपदेशपूर्ण वक्तव्य से किया जाता है जिसमें वह भलाई पर चलते और सत्य और प्रेम के लिए संघर्ष करते रहने की बात कहता है।

बिदेसिया

शहरों में आज सिनेमा घरों के सामने नाटक देखने के लिए कहीं जन-समूह का उमड़ता हुआ वह उल्लास और उत्कंठा नहीं दिखाई पड़ती जो ग्रामों मे नौटंकी, स्वांग या बिदेसिया की सूचना मात्र पाकर ही सागर के ज्वार की तरह उमड़ती हुई दिखाई पड़ती है। जो लोग ग्रामीण जीवन के सम्पर्क

में रहे हैं वे जानते हैं कि गाँवों में नौटंकी या विदेसिया की खबर मात्र मिलने की देर रहती है कि दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह मील दूर से कोई बैलगाड़ी पर और कोई पैदल ही चना-चबेना बाँधकर चला चलता है। क्या बालक क्या युवा, क्या वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी वर्ग के लिए एक साथ यह आनुरूप्य विषय बन जाता है। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी क्षेत्रों में नौटंकी और पूर्वी क्षेत्र तथा बिहार में भिखारी ठाकुर का 'विदेसिया' आज ऐसी ही धूम मचा रहा है। अपने जीवन की भाषा, भाव, विचार, रहन-सहन आदि का इन नाटकों में इतना सहज स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण रहता है कि जनता अपने इस दर्पण पर लहालोट हो जाती है। लोकनाटकों के इस महत्व और लोकत्व के समक्ष शास्त्रीय नाटक लड़खड़ाते से जान पड़ते हैं।

'विदेसिया' लोकनाट्य की उत्पत्ति नौटंकी से भी अर्वाचीन है। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनों का उदय और विकास वर्तमान औद्योगिक सभ्यता के प्रारम्भिक चरणों की सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों के परि-पार्श्व में हुआ। विदेसिया पर यह प्रभाव अधिक गंभीर रहा। अतः इसके मूल रूप के सही ज्ञान के लिए उस परिवेश का सही ज्ञान आवश्यक है। आधुनिक औद्योगिक युग की भीषणता ने बहुत सी अच्छी बुरी चीजों को जन्म दिया। उसी का एक उपहार 'विदेसिया' भी है।

जैसा कि सभी जानते हैं, कलकत्ता, बम्बई जैसे वर्तमान महानगर अंग्रेजी शासन काल की देन हैं। ये दोनों ही औद्योगिक नगर हैं। उद्योगों के विकास के साथ गत शताब्दी के आरम्भिक चरणों में नागरिक और ग्रामीण संस्कृतियाँ परस्पर अधिक निकट आ रही थीं। एक ओर जमींदारी प्रथा की कठोरताओं और अंग्रेजों की शोषण नीति के कारण खेती में किसानों को लाभ के स्थान पर निरंतर हानि हो रही थी, तो दूसरी ओर कलकत्ता बम्बई जैसे अंग्रेजी शासन कालीन बड़े औद्योगिक नगरों में उद्योगों के तीव्र विकास के कारण मजदूरों की माँग होने पर आस-पास के ग्रामीण युवक अपनी चतुर्दिक कठोरताओं और परेशानियों से बचने के लिए इन बड़े नगरों की ओर दौड़ने लगे। पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के लोगों को कलकत्ता जाने की सुविधा है और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कानपुर, मेरठ, हाथरस, आगरा आदि के लोगों को बम्बई जाने की। पेट की मार बड़ी प्रबल होती है—

रेलिया न बैरी, जहजिया न बैरी, इहै पइसवा बैरी ।
देसवा देसवा में घुमउले इहै पइसवा बैरी ।।

इसी 'पइसवा' के लिए उसे जीवन का मधुरतम और दुखमय क्षण एक साथ देखना पड़ता है। विवाह होने की देर थी, दाम्पत्य जीवन के सुख का अनुभव कर ही पाया था कि उसे अपनी और अपने घरवालों की क्षुधा-शांति के लिए सभी प्रकार के प्रेम-सूत्र को भूलकर 'बिदेस' जाना पड़ा। घर में नवविवाहिता तरुणी अनेक अरमान लिए मौजूद है और उसका प्रियतम विदेश में है। परम स्वाभाविक है कि उसे अपने 'बिदेसिया की याद बराबर सताती रहे—

गवना कराइ सैंया घर बइठवले से,
चढली जवनियाँ बइरिनि भइली हमरी से
के मोरा हरिहैं कलेस रे बिदेसिया।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में यह स्थिति इतनी भयावह हो गई थी कि पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के गाँव-गाँव में ऐसी विरहिणी तरुणियों के गोल के गोल दिखाई पड़ते थे और कितने ही परिवारों के संयुक्त बंधन बड़ी तेजी से टूटते जा रहे थे। गाँवों के अधिकांश युवक रोजगार के लिए घर पर बिना कहे सुने इन नगरों की ओर खींचे जा रहे थे, वहाँ किसी अन्य स्त्री से सम्बन्ध कर अपनी नवविवाहिता को उपेक्षित कर रहे थे। लोक कवियों, नर्तकों और विदूषकों ने यह अच्छा अवसर पाया। इस हृदय-स्पर्शी दृश्य में नाटकीय कथानक का सुन्दर अवसर देखकर उसके कलात्मक चित्रण द्वारा लोकरंजन और सामाजिक स्थिति का चित्रण आरम्भ हुआ। बिहार के प्रसिद्ध लोक नाटककार भिखारी ठाकुर ने प्रथमतः इस दृश्य को नाटकीय रंग दिया। उसके बाद तो यह इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि भिखारी ठाकुर के स्वयं के निर्देशन में बिदेसिया मंडली ने लगभग पचास वर्षों की अवधि में अनगिनत स्थानों पर अपना प्रदर्शन किया और 'बिदेसिया' के अभिनय द्वारा पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल के सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों के करोड़ो दर्शकों पर सम्मोहन सा प्रभाव डाला। इसीलिए कहीं पर भी होने वाले 'बिदेसिया' के प्रदर्शन के साथ उसके जनक के रूप में भिखारी ठाकुर का नाम परम्परा के रूप में जोड़ा जाने लगा है।

गवना के बाद युवती ससुराल आई किन्तु उत्तरदायित्व के बोझ के कारण पति को भरी जवानी में अपनी पत्नी को छोड़कर मजदूरी के लिए 'विदेस' जाना पड़ा। कहाँ तो दुल्हन ने दाम्पत्य जीवन के आनन्द के रूप में यह चाहा था कि न यह जवानी बीते और न ये सुहानी रातें; लेकिन वैरी 'पइसवा' ऐसा चंडाल है कि सारा सुनहला सपना धूल धूसरित हो गया। पति के द्वारा इस स्थिति में छोड़कर चले जाने पर सास की फटकार, ननद के ताने और जेठानी जी की प्रतिस्पर्धा तो उसने किसी तरह सीने पर पत्थर रखकर सही, लेकिन इस बात का भय असह्य हो गया है कि—

अमवा मोजरि गइले लगले टिकोरवा से,
दिन पर दिन पियराय रे बिदेसिया।
एक दिन बहि जइहें जुलमी बयरिया से,
डार पात जइहें भहराइ से बिदेसिया।

आम्र मजरी की तरह फूले हुए मेरे इस यौवन का क्या होगा? पियराए हुए 'टिकोरे' को कौन चखेगा और बखानेगा? कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि 'जुलमी बयार' चले और डार-पात की तरह यह रास्ते में ही भहरा जाए? यह है चित्रण उस अंतर्द्वन्द्व का, जो भाग्य की मारी सभी प्रोषित पतिकाओं का एक नमूना है।

सावन की कजरारी घटा सर पर हो, पत्थर सी बूंदे पड़ने लग गई हों, सहेलियां पतिसंग हों, फिर अपना हृदय क्या कहेगा—

घेरि-घेरि आवे पिया कारी रे बदरिया
देवा बरसे बड़े-बड़े, बूंद बदरिया बइरिन हो।
सब कोइ भीजेला अपने भवनवा,
मोर पिया भीजे परदेश, बदरिया बइरिन हो।

प्रिय ने जिस अवधि तक लौट आने का वादा किया था, वह गुजर गई, लगता है किसी 'सवतन' के जाल में फंस गया। दिन पर दिन उसकी स्थिति गम्भीर होती जा रही है, चंदन का चरखा घुन लग गया है सिंदूर और तेल चूक गया है, बाट जोहते-जोहते देह पियरा गई है। उसे पथ पर इंतजार करते देखकर पथिक कारण पूछता है तो अपनी विपत्ति कह सुनाती है। पथिक

उसको करुण स्थिति को सुनकर दयार्द्र हो जाता है और वियोगिनी का संदेश पहुँचाने का वादा करता है। पत्नी ने संदेश भेजा——

दिनवा बितेला सैंया बटिया जोहत तोर,
रतिया बितला जागि जागि रे बिदेसिया।
आधि रात गइले पहर रात गइले,
धधके करेजवा में आग रे बिदेसिया।
भभकि-भभकि चढ़ली अपनी अटरिया से,
चारों ओर चितवों चिहाइ रे बिदेसिया।
कतहुं न देखी राम सैंया की सुरतिया से,
जियरा गइले मुरझाई रे बिदेसिया।

संदेश इतना करुण और मार्मिक था कि 'बिदेसिया' तुरन्त अपनी परिणीता से मिलने के लिए चल पड़ा। घर पर आने पर दोनों ने मिलन का सुख पाया। परन्तु पुरुष स्त्री पर संदेह कर रहा है। इतनी तपस्या के पश्चात पिया के दर्शन हुए तो वे गाँववालों से पूछ रहे हैं कि उनकी अनुपस्थिति मे पत्नी का चाल-चलन कैसा रहा। सबने तारीफ की परन्तु उसको विश्वास नहीं हुआ, तुलसी चबूतरा ले जाकर कसम खिलाते है। पतिव्रता नारी ने तुरन्त कसम खा ली। कुछ सोचकर बोली, 'तुम भी परदेश थे, कसम खाओ, सवतन संग तो नहीं रहे।' पति ने तुलसी-जल उठाकर झूठी शपथ खानी चाही, लेकिन स्त्री हाथ पकड़कर बोली रहने दो तुम जैसे भी हो मेरे हो, मेरे नयन बसो अपने भवन रहो।'

पतिव्रता भारतीय नारी का कितना गूढ़ और स्वाभाविक चरमोत्कर्ष उपस्थित हुआ है इसमें देखिये, शायद कहीं पूरे नाट्य साहित्य में इतना मार्मिक दृश्य मिले।

संक्षेप में यही 'बिदेसिया' की कथावस्तु है आज के कृषक और मजदूर वर्ग (विशेषकर पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार) की सम्पूर्ण सामाजिक आर्थिक और पारिवारिक स्थिति तथा भारतीय नारी की आकांक्षा और नैतिक आदर्श का जीता-जागता चित्र उपस्थित करने में 'बिदेसिया' ने कमाल हासिल कर दिया है। उद्योगों के विकास ने आज गाँव-गाँव, घर-घर यहाँ

तक कि व्यक्ति-व्यक्ति के स्नेह संबंध को चुनौती दे दी है। युगों की भारतीय संस्कृति की विरासत के रूप में चला आने वाला संयुक्त परिवार विघटित हो रहा है। श्रमिक अथक परिश्रम करके भी अपने घर में जलाने के लिए तेल, यहाँ तक कि अपनी प्राणेश्वरी के लिए सौभाग्य चिह्न-सिंदूर तक का प्रबन्ध करने मे असमर्थ हो गया है। व्यक्तित्व विकास के सुन्दरतम अवसर (यौवन) का अनेक प्रकार की अतृप्ति और कुंठाओं के कारण विकृत होना स्वाभाविक है। किन्तु अपने सतीत्व और पातिव्रत्य रक्षा के लिए मर मिटने वाली भारतीय नारी अनेक कष्टों को सहकर भी आज वही है जो हजारों वर्ष पूर्व उसके महनीय पूर्वजों ने उसका आदर्श नारीत्व निर्धारित किया था। इन सम्पूर्ण सामाजिक स्थितियों का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व 'विदेसिया लोकनाट्य मे मिल जाता है। भारतीय कृषक और मजदूर जीवन का अध्ययन करनेवाले समाजशास्त्र के विद्यार्थियो के लिए अध्ययन की अनुपम सामग्री इस लोकनाट्यों से प्राप्त की जा सकती है। लोक कल्याणकारी कही जानेवाली सरकार यदि सांस्कृतिक रक्षावाले लोकनाट्यों के परिष्कार और सरक्षण के लिए यदि जरा भी ध्यान दे दे तो तीव्र गति से विघटित होने वाले ग्रामीण समाज के उद्धार में बहुत बड़ा योग दे सकेगी।

इन प्रमुख लोक नाटयों के अतिरिक्त ग्रामीण जनता में देश काल के अनुसार अनेकानेक प्रकार के नाटक प्रचलित हैं जिसमें कई धार्मिक और पौराणिक आख्यानो से संबंधित हैं और कई विशुद्ध लौकिक कथानकों मे। लौकिक कथानक वाले सामान्य कोटि के नाटकों में कहीं-कहीं अश्लीलता अधिक आ गई है जैसे भांड़-भड़ैती एक छिछले प्रकार का मनोरंजन है जिसमे पाँच-छ: पेशेवर लोग बिना सिर-पैर की चीज लेकर हो हो मचाते है, अभिनय करते हैं और कल्पना का घोड़ा दौड़ाते हैं। ये लोग विवाह या पुत्रोत्सव के अवसर पर अपनी कमर में अपना सारा रंगमंच बांधे एक गाँव से दूसरे गाँव की यात्रा किया करते हैं।

लोकनाटकों में लोक जीवन की समन्विति—

इन सभी लोकनाट्यों में प्राय: कुछ बातें सामान्य रूप से एक ही तरह की पाई जाती हैं। जैसे स्त्री पात्रों का अभिनय पुरुष या बालक करते है,

सभी में नृत्य और संगीत की प्रधानता रहती है, हास्य-व्यंग्य-विनोद सभी में रहता है, रंगमंच और रूप-सज्जा अत्यन्त सामान्य होती है, रंगमंच अस्थायी और खुला होता है तथा प्रसंगानुसार दृश्य परिवर्तन आदि की कोई योजना नहीं रहती। किंतु अब तकनीकी व्यवस्थाओं का प्रभाव ग्रामों में भी पड़ता जा रहा है और रामलीला, नौटंकी प्रभृत कई मंडलियाँ रंगमंच की बड़ी सुन्दर व्यवस्था करती हैं और दर्शकों के भी बैठने की व्यवस्था करती हैं।

आज देहातों में इन नाटकों के करनेवालों का अपना वर्ग और जाति ही अलग बन गई है जो देहातों में घूम-घूमकर नाट्य प्रदर्शन कर जीविका चलाते हैं। नट, कौतुकी, बहुरुपिया, नाटकी, स्वांगधारी भांड और नकलची आदि ऐसी ही जातियाँ हैं। नकलें उतारने वालों, कूद-फांद मचानेवालों और हंसोड़ का एक विशाल वर्ग है जिसने समूचे मध्य युग में नाट्य सम्बन्धी क्रियाशीलता बनाए रखी और जो तब से लेकर वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों तक पहले जैसा ही सक्रिय रहा। ऐसे भी बहुवंधीय लोग हैं जो स्वयं नाटक लिखते हैं और उसके प्रदर्शन की रूप रेखाएँ भी स्वयं तैयार करते हैं। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियाँ तो गाँवों में नाटक दिखाकर हजारों रुपया कमा लेती थीं।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर लोकनाट्यों की सामूहिक प्रभावोन्विति (Appeal) और ग्रामीणों का आकर्षण देखते हुए यह स्पष्ट हो गया है कि लोकनाट्य ग्रामीण सामाजिक जीवन का सबसे सुन्दर और आडम्बर हीन चित्रांकन है। ग्रामीणों की रहन-सहन, आचार-विचार, आपस में मिलने-जुलने और शिष्टाचार व्यक्त करने की भावनाएँ और तथाकथित उच्च वर्ग के प्रति उनके दृष्टिकोण की सुन्दर झाँकी लोकनाट्यों में मिलेगी, वह अन्यत्र दुर्लभ है। ग्रामों के देश भारत का यदि अत्यंत सही और सीधा अध्ययन करना है तो इस सामूहिक उत्सव के अतिरिक्त अन्य दूसरा साधन नहीं है। आज परिवर्तित होते हुए सामाजिक परिप्रेक्षा के साथ लोकनाट्यों के स्वरूप और भूमिका में भी परिवर्तन और विकास आ रहा है। इनकी विधियाँ और रूढ़ियाँ नया रूप ले रही हैं तथा पुरातन को पुनर्गठित और

पुर्नर्नियोजित किया जा रहा है। आज इन नाटकों के द्वारा एक ही वस्तु के विभिन्न रूप और शैलियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं जिनसे उनकी हर सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थितियों का पता लग जाता है। आज हम रामलीला के विविध रूप देखते है और वह स्वांग अथवा नौटंकी जैसे धर्मनिरपेक्ष संगीत नाट्यों से मिलती जा रही हैं। इन बातों से लोकनाट्यों के गतिशील रूप पर प्रकाश पड़ता है और पता चलता है कि लोक नाटक में निश्चय ही प्रगतिशीलतत्व रहे हैं।

अपने ग्रामीण, सामाजिक परिप्रेक्ष्य के अनुरूप ही लोक नाटक विशिष्ट नियमों, रूढ़ियो, अंध परम्पराओं एवं मान्यताओं के बंधन तोड़ता हुआ प्रकृति के समान मुक्त बना रहता है। उनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों की पर्यवेक्षण शक्ति विलक्षण होती है। वह व्यक्ति नहीं, समाज की आवश्यकताओं, उसकी सांस्कृतिक और बौद्धिक आकांक्षाओं, रुचि एवं आदर्शों के अनुरूप सदैव अपने को बदलता है। फलतः इसका विकासक्रम कभी अवरुद्ध होकर जड़ी भूत नहीं बना, वह प्राणवान और गतिशील होता गया। वह आनन्द का कारण और मनोरंजन का साधन, प्रेरणा का स्रोत और कर्तव्यपरायणता का माध्यम बना रहा, हालाँकि यह सब कुछ परोक्ष रूप में ही हुआ, केवल आनन्द ही प्रत्यक्ष लक्ष्य रहा। लोकनाट्य ग्रामीण जनता के क्षणिक मनोरंजन क साधन मात्र नहीं है वरन् ५ लाख भारतीय ग्रामों के जनजीवन के सच्चे दर्पण हैं। इसका साहित्य इतना विशाल और विस्तृत है कि उसमें भारतीय समाज और संस्कृति का सहज रूप देखा जा सकता है। इससे सहस्रों वर्षो तक सहिष्णु रहनेवाले कृषकों के जीवन-दर्शन का पता लगाया जा सकता है। यदि सहानुभूति के साथ इस विशाल साहित्य का अनुशीलन किया जाय तो इसके रंगमंच के झीने आवरण से हमारे लोक जीवन का शताब्दियों का इतिहास झाँकता दिखाई पड़ेगा। देश क विशाल जन-समूह की आशा-आकांक्षा, आचार-विचार, साहस-संकर्प आदि की जीवित कहानी मुखरित हो उठेगी।

नाटक किसी विस्तृत देश, जाति या समाज का चित्रण करे अथवा उसके किसी अंचल विशेष का, उसमें वह कलात्मक शक्ति होती है जिसके द्वारा

उसकी पृष्टभूमि में खींचा गया समाज नितांत सजीव होकर दर्शक के समक्ष उपस्थित हो जाता है। विश्व के किसी ऊँचे से ऊँचे नाट्यकार का शास्त्रीय शैली में लिखा गया नाटक हो या जनता के सामान्य वर्ग या ग्रामीण समाज की असली निगूढ सहज सृष्टि हो, नाटक सदैव उसकी जीवनुभूति का चरमोत्कर्ष, आत्मोपलब्धि के अनन्यतम क्षण सुख-दु.ख की सघन वास्तविकता और आत्म प्रकाशन का सर्वोत्तम और सर्वाधिक लोकप्रिय माध्यम रहा है। शिक्षित और सभ्य समाज में कालिदास और शेक्सपीयर सदृश विश्वविश्रुत नाटककारों के नाटक जितने प्रसिद्ध और प्रिय रहे हैं उससे किसी भी अंश में असभ्य या अशिक्षित समाज में नौटंकी, स्वांग, मवाई, बिदेसिया, गर्बा, तमाशा, नाच, रामलीला आदि कम प्रिय और महत्वपूर्ण नहीं रहे है।

९

सामाजिक एकता मनोरंजन और नाटक

●

सृष्टि के आरम्भ में मानव वन्य था। उसका जीवन आत्मरक्षा तथा उदरपूर्ति तक ही सीमित था। चारों ओर वह अपने को अकेला ही अकेला अनुभव करता था। प्रकृति की कठोरता और वन्य पशुओं की भयंकरता से वह ऊब गया था जिससे उसमें इन कष्टों से त्राण पाने की तीव्र उत्कंठा उत्पन्न हुई। उसने निश्चय किया कि सकट और भयपूर्ण जीवन किसी प्रकार समाप्त करना है। इस भावना ने उसे अपने ही जैसे दूसरे मानवीय प्राणियों से सहयोग की ओर प्रेरित किया। प्रेरणा के जाग्रत होते ही उसे किसी प्रकार के संगठन की आवश्यकता का अनुभव हुआ जिससे अपनी सीमित शक्ति को बढ़ाकर प्रकृति का सामना कर सके। पहले जिनसे रक्त संबंध था उन पर विश्वास दृढ़ हुआ जिससे एक छोटे से रक्त सम्बन्धी समूह (परिवार) की उत्पत्ति हुई। किन्तु इस छोटे से ही समूह से सभी कठिनाइयों और आवश्यकताओं की पूर्ति होते न देखकर उसी प्रकार के दूसरे भी समूह से सहयोग प्राप्त करने की प्रेरणा उत्पन्न हुई। इस प्रेरणा के उदित होते ही उसका ध्यान उन लोगों पर केंद्रित हुआ जो उसके रक्त-सम्बन्धियों से उत्पन्न हुए थे। शनैः शनैः यह भावना फैलती गई और समूह संगठन का क्रम जारी रहा। ऐसे अनेक समूहों का धीरे-धीरे एक समुदाय हो गया। इस समुदाय में अपनी शक्ति, बुद्धि चातुर्य और मिलनसारिता (नेतृत्व क्षमता) वाला कोई व्यक्ति मुखिया बन बैठा और उसी के निर्देश के अनुसार समुदाय के सभी सदस्य कार्य करने लगे। इस प्रकार सोद्देश्य संगठित समूह और समुदाय को "समाज" की संज्ञा दी गई। तात्पर्य यह कि समाज का संगठन सहयोग या अंतः सम्बन्ध स्थापित सबंध स्थापित करने की भावना से हुआ। इस सहयोग अथवा अंतः संबंध स्थापन की भावना की परम्परा इतनी बलवती होती गई कि सभी मनुष्य उसमें सम्मिलित हो गए, कोई भी उससे अपने को वंचित न रख सका। उसके लिए समाज की सदस्यता 'स्वतः अनिवार्य' हो गई। इस स्वतः अनिवार्यता के कारण मनुष्य सामाजिक प्राणी कहलाने लगा। इस प्रकार सामाजिकता मनुष्य का एक अनिवार्य गुण बन गई।

जिस समय मनुष्य में पहली बार सहयोग और संगठन की भावना का उदय हुआ होगा उस समय उसके समक्ष सबसे बड़ी यह कठिनाई उत्पन्न हुई कि वह कैसे अपनी इस भावना को दूसरों से प्रकट करे। भाव संप्रेषण के इस प्रयास में पहले तो उसने विभिन्न प्रकार के हाव-भाव और संकेतों को प्रकट कर काम चलाया होगा और फिर इन हाव-भाव के प्रतीक-निर्माण के लिए मन में आए हुए ध्वनि-वेगों का प्रयोग करना आरम्भ किया होगा जिससे भाषा की उत्पत्ति हुई। संबंध स्थापन के लिए भाषा का माध्यम सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण प्रथम आविष्कार रहा। भाषा ज्ञान के उदय ने मनुष्य में संगठन स्थापित करने में बहुत महत्वपूर्ण योग दिया। इस आविष्कार में जहाँ मनुष्य को अपने जीवन को संरक्षित रखने के लिए समूह संगठन की प्रेरणा, जाड़े पाले से रक्षा, पशुओं से बचाने के लिए युक्ति तथा पेट भरने के लिए कृषि-कला प्रदान की वहीं जीवन को सुखी बनाने के लिए मनोरंजन को भी जन्म दिया। दिन का थका हारा परिश्रम और नवीन परिस्थितियों से सतुष्ट मानव समूह संध्या समय जब अग्नि के चारों ओर या मुखिया की कुटिया के पास बैठा तो वह तरह-तरह से नाच-गाकर अपना आनन्द प्रदर्शित करने लगा जिससे -से द्विगुणित सुख तथा क्षमता का अनुभव हुआ। आनन्द प्रदर्शन के रूप धीरे-धीरे रूढ़ होते गए और समय-समय पर मनोरंजन प्रदर्शन के रूप में प्रदर्शित होने लगे।

इस प्रकार मनुष्य सहयोग या मेल मिलाप की प्रक्रिया, भाषा के प्रयोग जीवन रक्षा के साधन (कृषि, मकान आदि) के आविष्कार और मनोरंजन द्वारा संवेगों के परिष्कार की परम्परा में सामाजिक प्राणी बना। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में भाषा ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण योग दिया। भाषा का आविष्कार होते ही मानव मन के भीतर संचित उल्लास का भाव प्रकट हो पड़ा और मनुष्य समूहों में एकत्र होकर कहीं देवी-देवताओं की पूजा-वंदना द्वारा, कभी अच्छी फसल के उत्पादन पर और कभी एक समूह की दूसरे समूह पर विजय की खुशी नाच गाकर आंतरिक प्रसन्नता को व्यक्त करने लगा। यही अभिव्यक्तिकरण वस्तुत मनोरंजन का रूप बनने लगा। भाषा के संगठन के पश्चात भी वस्तुतः समूह में जो लचीलापन था उसको स्थायित्व प्रदान करने का कार्य वस्तुतः मनोरंजन और उत्सवों ने किया। मनोरंजन के आयोजनों के आरम्भ होने से मनुष्य को अपने कठोर जीवन में आनन्द और दूसरों के सहयोग में सुख का अनुभव होने से

वह समूह के प्रति आस्थावान हो गया। इस प्रकार मनोरंजन मनुष्य की सामूहिकता और सामाजिकता की भावना का परिष्कार किया। मनोरंजन ने भाषा के वैयक्तिक कार्य को सामूहिक रूप प्रदान किया जिससे समाज की संगठन शक्ति में वृद्धि हुई।

सामाजिक जीवन में मनोरंजन का महत्व—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनोरंजन मानव की मूल मानसिक प्रवृत्ति से भिन्न नहीं है। जॉन डिवी, मियर ब्राइट मिल, मर्टन, मन्मथनाथ-राय प्रभृत विद्वानों ने मनोरंजन को मूल प्रवृत्ति बताते हुए कहा है कि मानव के स्वस्थ सामाजिक प्राणी बनने के लिए मनोरंजन अत्यावश्यक है। दिन-रात के कठोर परिश्रम, भावी जीवन की चिंता और सामाजिक नियमों मूल्यों से मनुष्य मानसिक और शारीरिक रूप मे इतना थका रहता है कि उसके जीवन को यदि निद्रा और मनोविनोद से रिक्त कर दिया जाय तो वह बड़ी जल्दी ही मानसिक रोगों का शिकार होकर कालकवलित हो जाय। इसीलिए सामाजिक व्यवस्था और कार्य के बोझ को हल्का करने के लिए जहाँ समाज में अनेक सामाजिक व्यवस्था, मूल्य, संस्थाएं आदि हैं, वहीं सभी के लिए मनोरंजन के विभिन्न साधन तथा विशेष पर्वो पर उत्सव-मेलों आदि का आयोजन आदिम युग से ही होता आ रहा है। चाहे कोई भी समाज सभ्य हो अथवा असभ्य, सर्वत्र सभी अवस्था के व्यक्ति अपना मनोरंजन किसी न किसी रूप में अवश्य करते हैं। मनोरंजन के स्वरूपों पर नैतिकता का प्रश्न अवश्य उठा किन्तु मनोरंजन स्वयं में कभी नैतिकता का प्रश्न नहीं बना, यहां तक कि कई स्थानों पर स्वयं धर्म भी मनोरंजन का साधन माना गया। मर्टन और न्यूमियर का कथन है कि, 'मनोरंजन की क्रियाएँ विश्वजनीन हैं। विश्व के अत्यंत निर्जन स्थानों में भी जहां लोग केवल अपने स्वतंत्र अस्तित्व के अतिरिक्त कोई भी सामाजिक संबंध नहीं रखते, वहां भी वे किसी न किसी रूप में अपना मनोरंजन कर ही लेते हैं।"[1]

मनोरंजन का महत्व केवल मनुष्य तक ही सीमित नहीं है, वरन् यह जीवमात्र की मूल प्रवृत्ति है। सभी पक्षी या जानवर किसी न किसी रूप में अपना मनोरंजन अवश्य करते हैं। चिड़ियां जब संध्या समय रैन बसेर के लिए पेड़ पर बैठती हैं तो उनका पूरा समूह कुछ देर के लिए इतनी तल्लीनता

---

१ लीजर ऐंड रीक्रिएशन, पृ० १०८

से कलरव करता है कि सारा वातावरण गुञ्जायमान हो जाता है। चींटियों में भी समूह के रूप में मनोरंजन की प्रवृत्ति पाई गई है। इसी प्रकार जितने भी जीव हैं, सभी अपनी दिन भर की थकान मिटाने तथा नवीन स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए किसी न किसी प्रकार अपना मनोरंजन अवश्य करते हैं।

मनुष्य या कोई जीव मनोरंजन को इतना अधिक महत्व क्यों देता है? इसके दो कारण है—१. मनोवैज्ञानिक और २. सामूहिकता की प्रवृत्ति। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तो मनोरंजन मानव मन की मूल प्रवृत्ति है जिसकी पूर्ति होना आवश्यक है। मनुष्य किसी न किसी कार्य में दिन रात लगा रहता है, सदैव कुछ न कुछ सोचा करता है, किन्तु मानव मन एक ऐसा तत्व है जो बहुत देर तक एक ही विषय पर ध्यान जमाए स्थिर नहीं रह सकता। एकरूपता से वह ऊब जाता है। यदि अहर्निश कोई व्यक्ति कार्यों के बोझ या चिंता से दबा रहे तो कुछ ही दिनों में वह पागल हो जायगा। यही कारण है कि थके-हारे मानव-मन को शांति दिलाने के अभिप्राय से प्रकृति द्वारा निद्रा और समुदाय द्वारा मनोविनोद के विभिन्न साधन प्रदान किए गए हैं। अनेक नियमों और मूल्यों का बोझ लादने पर समाज का यह भी कर्त्तव्य हो जाता है कि वह व्यक्तियों को उसके संवेगों और मूलप्रवृत्तियों को स्वतंत्र अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करें। इसी विचार से आदि युग से ही मनुष्य के अवकाश के क्षणों का मनोरंजन के विविध रूपों के माध्यम से ऐसा उपयोग होता आया है कि जिसमें वह अपनी मूलप्रवृत्तियों को स्वच्छन्दतापूर्वक संतुष्ट कर सके।

मनोरंजन और उत्सवों का सामाजिक आधार

मनोरंजन मनुष्य की सामूहिकता की प्रवृत्ति और सामाजिकता की भावना का विस्तार है। सामूहिकता की प्रवृत्ति में जातीय संरक्षण का तत्व प्रधान है। जातीय-संरक्षण की भावना से ही जीव समूहों में संरक्षित रहना चाहता है और जब कभी उनकी जाति पर कोई संकट आता है तो सभी मिलकर उसका सामना करते है। किसी भी पशु-पक्षी पर यदि कोई संकट आता है तो सब मिलकर एक साथ बचने का प्रयास करते है, चिल्लाते हैं और दूसरों को सावधान करते हैं। प्रकृति के अन्य जीवों से भिन्न मानव

दिन रात इस प्रकार व्यस्त रहता है कि उसे पशु की भांति रोज रोज एकत्र होने का अवसर नहीं मिलता। इस कारण उसने बहुत से सामाजिक आयोजन यथा-सभा-समिति, उत्सव-मनोरंजन आदि करना आरम्भ किया जिससे एक समूह के सभी लोग किसी निश्चित समय और स्थान पर मिल सके। ऐसे सामूहिक आयोजनों में मानव का सर्वप्रथम आयोजन मनोरंजन ही है। भाषा और कृषि-कला के आविष्कार के पश्चात पशुओं की भांति सदैव इधर-उधर भटकने वाला मनुष्य धर्म और मनोरंजन की रागात्मक भावनाओं के कारण ही एक स्थान पर स्थिर रहकर स्थायी समाज का निर्माण कर सका। इसका कारण यह है कि मनोरंजन में सामाजिक अन सम्बन्धों की स्थापना की शक्ति होती है। आधुनिक युग में मनोरंजन के ऐसे अनेक साधन है जिनसे मनुष्य अकेले ही मनोरंजन कर सकता है किन्तु प्रारम्भिक सभ्यता यूथचारी सभ्यता थी इसलिए मनुष्य के प्राय: प्रत्येक कार्य सामूहिक ही होते थे। मनोरंजन तथा धार्मिक उत्सवों आदि के सामूहिक आयोजनों के कारण सामाजिक अंत:संबंधों का विकास होता रहा। दैनिक कार्यों में फंसे रहने के कारण व्यक्ति अपने ही समुदाय के बहुत से अन्य व्यक्तियों से या तो अपरिचित रहता है या मिल नहीं पाता किन्तु सामूहिक उत्सव-मनोरंजन के अवसर पर पूरे समाज के एक स्थल पर एकत्र होने के कारण दूसरों से परिचय उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार आदि का ज्ञान होता है जिससे अंत: सम्बन्धों का विकास होता है।

यद्यपि समाजशास्त्र का क्षेत्र आज तक निश्चित नहीं किया जा सका है किंतु इस सम्बन्ध में यह एक स्पष्ट बात है कि समाजशास्त्र मानवी कार्यो और सम्बन्धो का सामुदायिक दृष्टि से विचार करता है। मर्टन और न्यूमियर का कथन है, "समाजशास्त्र को हम समाज के सभी विज्ञानों का समन्वित रूप नहीं मानते, जैसा कि पूर्ववर्ती समाजशास्त्रियों का मत था किन्तु फिर भी यह अकेले किसी निश्चित समस्या के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों से व्यापक विचार के लिए भी बिलकुल पूर्ण सिद्ध नहीं होता। क्योंकि ऐसा करने के लिए बहुत सी व्याख्याओं के लिए अन्य विषयों की भी अपेक्षा रखता है। इस आधार पर समाजशास्त्र मानवी सम्बन्धों तथा एक दूसरे के सामाजिक प्रभावों की व्याख्या करता है। समाजशास्त्र मनुष्य की

सामुदायिक जीवन की प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन है। यह उन विभिन्न मानवीय व्यक्तियों की विशिष्ट प्रक्रियाओं को अपना केंद्र मानकर चलता है जो समाज के सामुदायिक जीवन में क्रियाशील हैं, जिसमें सामाजिक प्रवृत्तिया, जातीय संगठन, सामाजिक मूल्य व संस्थाएँ तथा मानव सभ्यता निहित हो।'[१]

समाजशास्त्र के उपर्युक्त स्वरूप को ध्यान में रखते हुए मानव की मनोरंजन सम्बन्धी उन क्रियाओं का, जिन्हें यह सामूहिक रूप से करके या देखकर आनन्द लेता है, समाजशास्त्रीय अध्ययन का विषय है। प्राय मनोरंजन के सभी रूपों में मानवीय जीवन की सामुदायिक प्रवृत्तिया एव सामाजिक प्रक्रियाएं निहित रहती है और वह अपने समाज की संस्कृति एव संस्थागत मूल्यों, आदर्शों से नियन्त्रित होता है। जॉन डिवी का कथन है, "जिस समाज के मनोरंजन के रूप जितने ही प्रशस्त होंगे उस समाज की संस्कृति उतनी ही कलात्मक होगी। मनोरंजन मानव-मन की वह मनोवृत्ति है जो उसे सामाजिक, सुसंस्कृत और कलाप्रिय बनाता है।"[१]

यद्यपि मनोरंजन के अनेक सामाजिक प्रभाव है लेकिन ब्राइट मिल मानते है कि इसका सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव मानव व्यक्तित्व पर पड़ता है। अंतर्मुखी व्यक्तित्ववाले व्यक्ति को यदि उदारतापूर्वक कुछ समय तक सामूहिक उत्सवों में ले जाया जाय तो उसका व्यक्तित्व विकसित होकर समाजीकरण की ओर उन्मुख हो सकता है। व्यक्ति के संवेगों का विस्तार होकर अंतर्राष्ट्रीयता का विकास होता है। इसीलिए आज अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक प्रकार के मेलों, खेलों और सांस्कृतिक उत्सव-मनोरंजनों का आयोजन किया जाता है। आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनोरंजन का महत्व बढ़ता जा रहा है। संतुलित और उत्तम व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से विद्यार्थियों को मनोरंजनात्मक ढंग से पढ़ाया जाता है। बालकों के समुचित विकास और संतुलित समाजीकरण के लिए ही किंडरगार्टन, मांटेसरी और डाल्टन शिक्षा पद्धतियों द्वारा हंसा-खिलाकर उन्हें विषय से रुचि उत्पन्न कराई जाती है। बड़ी कक्षाओं में चित्रों, चलचित्रों, और अनेक अवसरों पर टेलीविजन के माध्यम से पढ़ाई को मनोरंजक बनाया जाता है। उद्योगपतियों ने भी उत्पादन वृद्धि

---

१. लीजर ऐंड रिक्रिएशन, पृ० २३

में मनोरंजन के महत्व को भली-भाँति समझा है। इसीलिए आज काम के घंटों में अधिक से अधिक कमी कर मनोरंजन का अधिकाधिक अवसर प्रदान किया जाता है जिससे एक ओर तो श्रमिक नशाखोरी से बचने का लाभ प्राप्त करते हैं और दूसरी ओर उनके व्यक्तित्व का विकास होता है। इसीलिए मन्मथनाथ राय का कथन है कि "आधुनिक युग में क्रीड़ा कौतुक और ठोस काम-काज में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों का ध्येय एक सा ही है। खेलकूद की प्रतियोगिता में प्रथम आने अथवा कोई रचनात्मक काम करने से बच्चों को उतनी ही प्रसन्नता होती है जितनी किसी ठोस कार्य को करके सफल होने से।'[1]

सामान्य रूप से उत्सव और मेले देश के प्रचलित धर्म से सम्बद्ध होते हैं परन्तु उनमें सामाजिक संभरण का बहुत महत्वपूर्ण सम्भ र छिपा रहता है। यद्यपि कोई भी उत्सव मात्र सामाजिक संगठन को ध्यान में रखकर नहीं आयोजित किया गया किन्तु उसके पीछे परोक्ष रूप से इस संगठन का भाव अपने आप ही जुड़ा रहता है।

समाजशास्त्र का प्रकार्यवादी सिद्धान्त और मनोरंजन

प्रगत् समाजशास्त्र (Advance Sociology) के सिद्धान्तों के क्षेत्र मे प्रकार्यवादी सिद्धान्त (Theory of Functionalism) का महत्वपूर्ण स्थान है। इस सिद्धान्त में गोचर और अगोचर (Manifest and Latent) परिणाम के उपसिद्धान्त की दृष्टि से यदि सामाजिक उत्सवों का अध्ययन किया जाय तो बड़े समाजोपयोगी तत्व प्राप्त होंगे। इस उपसिद्धांत की मूल बात यह है कि किसी भी क्रिया का प्रभाव और परिणाम कुछ तो गोचर होता है और कुछ अगोचर। क्रिया से प्राप्त होने वाले जिस परिणाम का व्यक्ति को ज्ञान है और वह उसे चाहता भी है, वह तो उसका गोचर परिणाम है, परन्तु इस गोचर परिणाम के साथ जिन्हें व्यक्ति न तो जानता था, न चाहता था या न सोचा था वे परिणाम प्रकट हो जाते हैं, उन्हे अगोचर परिणाम कहते हैं। उदाहरण के लिए समनर ने "Folkways" पुस्तक में शराबी का उदाहरण देते हुए कहा है कि शराबी ने कुछ मनोविनोद और कुछ नशे की इच्छा की तृप्ति के लिए शराब पीना आरम्भ किया। उसे शराब

१, प्राचीन भारतीय मनोरंजन, पृ० १९

पीने से मानसिक संतोष प्राप्त होने लगा। परन्तु शनैः शनैः यह तृप्ति इतने भयंकर ढंग से बढ़ी कि उसने घर के खर्चों में कमी कर, अपने बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का ध्यान छोड़कर शराब में धन का अपव्यय करने लगा। क्रमशः इसका परिणाम यह हुआ कि शराब के नशे ने उसे एकदम कंगाल बना दिया, उसके बच्चे और पत्नी भीख माँगने लगी। शराबी यह कहता है कि मैंने न कभी यह सोचा था और न चाहा था कि मेरे परिवार के लोग मेरी शराब की आदत की तृप्ति के दुष्परिणाम की इस प्रकार आहुति बनें और भीख मांगने लगे। केवल मानसिक तृप्ति के लिए शराब पीना उसका गोचर परिणाम था किन्तु धीरे-धीरे सम्पूर्ण परिवार को उसका दुष्परिणाम भोगने के लिए बाध्य होना, अगोचर परिणाम था। बस, यही बात उत्सव, मेले और मनोरंजन में दिखाई पड़ती है। मनुष्य अपनी मानसिक तृप्ति और थकान मिटाने के लिए किसी उत्सव मेले में भाग लेता है परन्तु उस कार्य में दूसरे लोगों के सहयोग, गाँव वालों के सामूहिक एकत्रीकरण, दूर-दूर से अपनी जातीय समुदाय वालों का एक स्थान पर एकत्र होना, दूसरे शहरों में अर्थोपार्जन हेतु रहनेवाले सदस्यों का अपने घरों पर ऐसे अवसर पर आकर आनन्द उठाने के बहाने सामूहिक और जातीय शक्ति बढ़ाने का जो कार्य अप्रत्यक्ष रूप से होता है उसका तो उसे ज्ञान ही नहीं रहता। सामूहिक उत्सवों के इसी समाजोपयोगी परिणाम को समझाने के लिए प्रसिद्ध समाज-शास्त्री R.K. Morton ने होपी जनजातिवालों का उदाहरण दिया है। उसने बताया है कि होपी जनजाति वाले साल में एक बार वर्षा के देवता की पूजा करते हैं। उसका कथन है कि आज की वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो इस जन जातिवालों का वर्षा के लिए किसी देवता को प्रसन्न करना बिलकुल हास्यास्पद और विवेक शून्य है। कहीं किसी देवता के मनाने से वर्षा होती हैं। यदि ऐसा हो तो रेगिस्तान में भी वर्षा कराई जा सकती है किन्तु यदि इन बिलकुल विवेक शून्य मालूम पड़ने वाले व्यवहारों का भी अध्ययन किया जाय तो सामाजिक संगठन का बड़ा सुन्दर रूप दिखाई पड़ेगा। इस जाति के जो लोग अपने ग्रामों से दूर-दूर के नगरों में बिखरे रहते है वे यदि कभी नहीं तो वर्ष में इस पर्व के अवसर पर अवश्य एकत्र होते हैं और इस प्रकार अपनी जातीय विशेषता के लिए एकत्र होना सामूहिक रीति रिवाजों में भाग लेना तथा एक समाज-सूत्र में बांधना आदि सभी कुछ इनके अपूर्व सामाजिक

संगठन का दर्शन कराता है। वैज्ञानिक दृष्टि से विवेक शून्य होने वाला यह सामाजिक दृष्टि से कितना उपयोगी और संगठनकारी है, यह कोई समाज-शास्त्री ही समझ सकता है। इस प्रकार इस सिद्धांत से यही पता चलता है कि बिलकुल उद्देश्य हीन प्रतीत होनेवाले व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहारों में कितना उपयोगी तत्व छिपा है। यदि इस दृष्टि से हम मनोरंजन के विभिन्न सामूहिक उत्सवों को देखें तो सामाजिक संगठन और संरचना की कितनी महत्वपूर्ण बातें सामने आएंगी। सामूहिक उत्सवों में लोग अपनी धार्मिक पूजा, उत्सव, विश्वास तथा परम्परा-निर्वाह और मनोरंजन की दृष्टि से एकत्र होते हैं किन्तु उसमें उनके समुदाय के स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध सभी का एक ही स्थल पर एकत्र होना, उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार, भाषा तथा सम्बन्धों की कितनी ही महत्वपूर्ण बातें एक ही स्थल पर सामने आ जाती हैं, यह अनुसंधान का विषय है।

मनोरंजन के विविध रूप और नाटक

मनोरंजन के इस व्यापक विवेचन से उसकी समस्त विशेषताएं तथा सामाजिक महत्व स्पष्ट हो जाता है। संवेगों के परिष्कार और सामूहिकता की रक्षा के कारण मनोरंजन मनुष्य की आदिम सभ्यता से आरंभ होकर मानव जीवन के साथ किसी न किसी रूप में सदैव सम्बद्ध रहा। मनोरंजन के विविध रूपों में नाटक भी आरम्भ से ही महत्वपूर्ण रहा है। सभ्यता के आरम्भिक युग से ही दूसरों के चरित्र को कलात्मक दृष्टि से अपने ऊपर आरोपित करने या अनुकरण करने और दूसरों के समक्ष अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति ही नाटक का रूप है। जैसा कि पिछले पृष्ठों पर हम स्पष्ट कर आए हैं नाटक के अनुकरण और सामान्य जीवन के अनुकरण में बहुत अन्तर है। नाटक का अनुकरण कलात्मक प्रतिभा के द्वारा होता है। सामान्य अनुकरण में वैयक्तिक आवश्यकता पूर्ति या संतुष्टि की प्रधानता रहती है। नाटक कला है। कला मानव मन का मनोरंजन और परिष्कार करती है। इस दृष्टि से केवल अनुकरण को नाटक का मूल तत्व नहीं कहा जा सकता। कलात्मक प्रतीक होने के कारण नाटक मनोरंजन के द्वारा मानव मनोवृत्ति को सामाजिक, सुसंस्कृत और कलाप्रिय बनाता है।

देश, काल और पात्र की भिन्नता के कारण प्रत्येक स्थान के मनोरंजन

और उत्सवों के स्वरूपों में बड़ी विविधता रही है। किसी भी देश के समाज का मनोरंजन उसकी जनता की रुचियों के अनुकूल ही होता है। इन रुचियों में देश और काल के अनुसार परिवर्तन होता रहता है जिसके कारण भिन्न-भिन्न जातियों और समाजों में मनोरंजन के विविध रूप पाए जाते हैं। किंतु स्थान, काल और पात्र की भिन्नता के बावजूद भी, आमोद-प्रमोद के स्वरूपों की भिन्नता रहते हुए भी कुछ ऐसे रूप हैं जो सभी स्थानों पर और सभी काल में प्रायः एक से पाए जाते रहे है, यथा साहित्य, संगीत, नृत्य चित्रकारी, नाटक आदि। ये तरीके कुछ ऐसे रहे हैं जो प्रयोग की भिन्नता रहते हुए सभी जाति, सभी समाज और सभी युग में अवश्य पाए जाते रहे हैं। विश्राम काल के उपयोग के इन्हीं शाश्वत तरीकों के अध्ययन के द्वारा ही किसी जाति, राष्ट्र अथवा युग की सांस्कृतिक विशिष्टताओं को समझा जा सकता है। मनोरंजन के अन्य स्वरूप कला का रूप बनकर सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के अभिन्न अंग न बन सके किन्तु साहित्य, संगीत, नृत्य, चित्रकारी, नाटक आदि आरम्भिक युग से ही कला रूप में प्रतिष्ठित रहे और कला चूँकि किसी समाज की सभ्यता, संस्कृति और समृद्धि की परिचायिका है अतः उक्त कलाओं से ही किसी समाज का वास्तविक दर्शन हो सकता है।

मनोरंजन के विभिन्न साधनों पर व्यापक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि नाटक सभी देश और युग में मनोरंजन का अत्यंत लोकप्रिय साधन रहा है। इसका कारण यह है कि नाटक मनोरंजन का एक ऐसा रूप है जिसमें सभी रुचि, अवस्था और समाज के लोग अपना मनोविनोद कर लेते हैं। नाटक में मनोरंजन के अन्य सभी उत्कृष्ट साधनों का योग रहने के कारण भी यह सहज प्रिय रहा है। संगीत, नृत्य, साहित्य, चित्रकारी, स्थापत्य आदि सभी का रसास्वादन नाटक द्वारा हो जाता है। इसकी अपेक्षा नाटक के आनंद के लिये किसी विशेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती। संगीत का आनन्द लेने के लिये जब तक राग लय ताल और भाव-भंगिमा का समुचित ज्ञान नहीं रहेगा, तब-तब संगीत का पूरा-पूरा आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। यही बात नृत्य के संबंध मे भी कही जा सकती है। साहित्य का रस लेने के लिये आवश्यक है कि उस साहित्य की भाषा के कम से कम सामान्य शास्त्रीय स्तर से तो परिचित हो ही किंतु नाटक का आनन्द लेने के लिए किसी भी

विशेष शिक्षा या ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। वह सभी ज्ञान और वय वाले लोगों का सर्वाधिक प्रिय मनोरंजन का रूप रहा है। इसीलिए कालिदास ने भी कहा है कि "भिन्न-भिन्न रुचिवालों के लिए नाटक ही एक ऐसा तत्व है जिसमें सबको एक सा आनन्द प्राप्त होता है।" आज भी नाटक के ही विविध रूप सिनेमा और टेलीवीजन समाज के मनोरंजन के सर्वाधिक प्रिय माध्यम हैं।

बहुत से उत्सव या मनोरंजन के साधन ऐसे होते हैं जिनमें बालक या स्त्रियों का कोई स्थान नहीं रहता किन्तु नाटक एक ऐसा साधन है जिसमें सामान्यत: किसी भी धर्म, जाति, अवस्था अथवा लिंग के व्यक्ति भाग ले सकते हैं। किसी धर्म विशेष के कथानक से संबंधित नाटकों में भी अन्य सम्प्रदाय के लोग उपस्थित रहते हैं क्योंकि उन्हें उस समय धर्म विशेष से नहीं, अभिनय के आनन्द से मतलब रहता है। बौद्ध काल के ग्रन्थों में ऐसे भिक्षुओं को दंडित किए जाने का उल्लेख मिलता है जो विहार की आज्ञा के विरुद्ध नाटक देखने जाया करते थे। इसीलिए धर्म, अवस्था, या जाति की सीमा पार कर सम्पूर्ण समाज का मनोविनोद करने के कारण नाटक आदि काल से लेकर आजतक सर्वाधिक लोकप्रिय मनोरंजन का साधक रहा है। इसका तात्पर्य यह कि नाटक मनोरंजन का नितांत सामाजिक स्वरूप है। शारदातनय ने 'भावप्रकाशनम्' में विस्तार से यह निरूपित किया है कि सब प्रकार के लोगों को नाटक में किस प्रकार आनन्द मिलता है। समाज का कोई भी वर्ग ऐसा नहीं जिसकी रुचि की चीज नाटक में न हो। नाट्यशास्त्रप्रणेता भरत का भी मत है कि नाटक में त्रैलोक्य के सभी भावों का अनुकरण किया जाता है और यह संसार में विनोद उत्पन्न करनेवाला और चित्त प्रसन्न करनेवाला है।

आज भी नाटक में वही जादू है जो किसी भी समय रहा होगा। आज भी नाटक का विज्ञापन होते ही लोग नाटक घरों पर टूट पड़ते हैं। विदेशों में तो कई दिनों पहले ही स्थान सुरक्षित करा लेना पड़ता है। स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध सब धक्के खाते हुए, गर्मी में फँसे हुए भी नाटक समाप्त होने तक बैठे रहते हैं। नाटक में इतना आकर्षण होता है कि बड़े ताल लय से रामायण की कथा कहने वाले सुफल व्यास की कथा में इतने श्रोता नहीं दिखाई पड़ते जितने अनपढ़ और अनगढ़ नटों की रामलीला में देखने के लिये। इन सब बातों का

कारण यही है कि नाटक मनोरंजक का सर्वोत्कृष्ट साधन है जिसमें क्षेत्र के अंतर्गत मानव समाज का सभी कुछ समाहित हो जाता है। दर्शक रंगमंच पर अभिनय देखते समय इतने तन्मय हो जाते हैं कि वे अपने व्यक्तित्व को भूलकर अभिनीत पात्र के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं और कई कई तो अभिनेताओं की तरह रोने लगते हैं। मुक्के तानने लगते हैं, या भय से कापने लगते हैं। यही तादात्मीकरण नाटक के रूप में मनोरंजन की सबसे बड़ी सफलता है।

नाटक देखने का दर्शक का मूल लक्ष्य आनन्द प्राप्ति और मनोविनोद है। इसके अतिरिक्त न कोई कामना कर वह नाटक देखने जाता है और न पहले से सोचता है कि हम अमुक नाटक के देखने से अमुक शिक्षा या लाभ मिलेगा। लेकिन वस्तुत: सिर्फ मनोविनोद के लिए गया हुआ दर्शक अवश्य ही कुछ प्रभाव, कुछ चेतना लेकर लौटता है जिसे लक्ष्य कर वह नाटक देखने नहीं गया था। मनोविनोद उसका गोचर लक्ष्य और परिणाम था किन्तु उसके हृदय और मस्तिष्क पर जो प्रभाव पड़ा, जो चेतना आई वह अगोचर परिणाम है। प्रत्येक नाटक में, चाहे वह लोक नाट्य हो अथवा शास्त्रीय नाट्य, मनोविनोद के गोचर लक्ष्य की अपेक्षा इस तरह का अगोचर परिणाम अवश्य ही निहित रहता है। नाटक देखने से मानव मन के संवेगों का परिष्कार होता है, मनोवृत्तियों का विस्तार होता है और सामाजिक यथार्थ का दर्शन होता है। संवेगों के परिष्कार को पश्चिमी विद्वानो ने कैथार्सिस (विरेचन), भारतीय विद्वानों ने रस निष्पत्ति और आधुनिक विद्वानों ने तादात्मीकरण (Identification) कहा है। अरस्तू का कहना है कि "दुखान्तकी किसी गम्भीर, स्वत: पूर्ण तथा निश्चित माध्यम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है जिसमे करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है जैसे रेचक औषधि की सहायता से शारीरिक विकारों (प्राय: उदर विकारों) की शुद्धि कर शरीर को निरोग और दीर्घायु बनाया जाता है वैसे ही अरस्तू का मत है कि दुखान्तकी भय और करुणा का उद्रेक कर मनोविकारों का परिष्कार करती है और हमें आत्मिक आनन्द प्रदान करती है। तृप्ति के द्वारा हमारा मानसिक संतुलन स्थापित हो जाता है, उत्तेजना समाहित हो जाती है और मन विशद हो जाता है। मन की इसी विशदता

को भारत में रस की प्राप्ति कहा गया है जो मनःशान्ति और आनन्द की समाहिति की अवस्था है जब सहृदय दर्शक का मनोमुकुर भौतिक विकार जन्य मलिनता से मुक्त होकर सर्वथा निर्मल हो जाता है। इसी आनन्द या रस की अवस्था की प्राप्ति ही नाटक का चरम लक्ष्य माना गया है। रस की स्फुरणा के समय कवि (नाटककार) का मन और रस के आस्वादन के समय सहृदय सामाजिक का मन मुक्त होकर अनिवार्यतः समाहिति की अवस्था में पहुंच जाता है। कवि या नाटककार जो कुछ कहना चाहता है वह अभिनेताओं के माध्यम से अपनी इच्छाओं का दर्शक के साथ तादात्मीकरण कर लेता है और इससे दर्शक को एक प्रकार के संतोष की गहरी अनुभूति होती है।

नैरोजीकृत 'हरिश्चन्द्र नाटक' को बाल्यावस्था में महात्मा गांधी ने देखा था जिसके कारण सत्य हरिश्चन्द के समान सत्यवादी होने की उनके जीवन पर अमिट छाप पड़ी। इसके प्रभाव के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' मे लिखा है "प्रायः ठीक इसी समय के आस-पास एक नाटक मंडली के द्वारा खेले जाने वाले एक नाटक को देखने की अनुमति पिता से प्राप्त की। इस हरिश्चंद नाटक ने मेरे हृदय को वशीभूत कर लिया। यह नाटक देखने से मैं थकता ही न था। परन्तु आखिर कितनी बार यह नाटक देखने की अनुमति प्राप्त होती। इस नाटक का भूत मेरे मन पर सवार था और निश्चय ही अगणित बार मैंने मन ही मन हरिश्चंद का अभिनय किया होगा। मैं दिन रात अपने आप से प्रश्न किया करता था कि सभी लोग हरिश्चन्द की भांति सत्यवादी क्यों नही हो सकते ? सत्य पालन और उसके लिए कष्ट सहन के आदर्श की प्रेरणा मुझे इस नाटक से मिली। मैं हरिश्चन्द की कथा में अक्षरशः विश्वास करता था। उसका स्मरण मुझे प्रायः रुलाता था। आज मेरी सामान्य बुद्धि मुझे बताती है कि हरिश्चन्द ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हो सकते। फिर भी हरिश्चन्द और श्रवण मेरे लिए सजीव वास्तविकता हैं और मुझे विश्वास है कि यदि आज भी मुझे वे दोनों नाटक पढ़ने को मिले तो पहले की भांति ही मेरा हृदय द्रवित हो उठेगा।

नेता जी सुभाषचंद्र बोस की 'आजाद हिन्द फौज' में दुश्मनों से मोर्चा लेने के साथ-साथ एक प्रचार विभाग भी था, जो प्रचार के साथ-साथ सैनिको का मनोरंजन भी करता था। उस प्रचार विभाग में इस समय के ख्याति

प्राप्त सिने-अभिनेता नज़ीर हुसेन भी थे। उन्होंने अपने संस्मरण में सन् १९४२ में रंगून में सैनिकों और नेताजी के समक्ष किये जाने वाले नाट्य प्रदर्शन का संस्मरण लिखा है—

"नेता जी ने एक फील्ड प्रोपगैन्डा डिपार्टमेंट बनाया था और उस विभाग में मुझे रखा गया। हमारा काम था लोगों में इस तरह का प्रचार करना कि उनमें देश के लिये मर मिटने की हिम्मत पैदा हो जाय, लड रहे सिपाहियो के लिये मनोरंजन कार्यक्रम पेश करना ताकि वे भी थोड़ी देर तक हँस गा कर मन बहला सकें। नेता जी ने फिल्म और नाटक का महत्व बताते हुए एक बार कहा था, "हमारी एक गोली से एक सैनिक एक व्यक्ति को मार सकता है, परन्तु फिल्म या नाटक के जरिए तो कलाकार लाखों व्यक्तियों को जिन्दगी और मौत दे सकता है।" नेता जी ने यह भी कहा था कि यदि उन्हें फिल्म बनाने की सुविधा मिल सके तो वे ऐसी फिल्म बनायें कि भारत का बच्चा-बच्चा आजादी की लड़ाई में कूद पडे। परन्तु उस समय कच्ची फिल्म का मिलना मुमकिन नहीं था और न ही स्टूडियो की व्यवस्था हो सकती थी जहां कि शूटिंग की जा सके। इसलिये उन्होंने कहा था कि हम एक बार कलकत्ता पहुंच जाएं फिर इस काम को अंजाम दे सकते हैं। काश हमारी फौज कलकत्ता पहुँच जाती।"

१९४२ के सितम्बर में रंगून में नेता जी सप्ताह के उपलक्ष्य में नजीर हुसेन ने लिखा है, "रंगून के चारों ओर बमगोलों की बारिश हो रही थी और हम लोगों ने उन्हीं के बीच तंग यांग जान नामक स्थान पर मिट्टी का रंगमंच स्थापित कर एक साधारण-सा पर्दा डाल दिया था। नेता जी सप्ताह का अंतिम दिन था और बारिश के बावजूद दर्शकों की भीड़ देखने ही लायक थी। नेता जी स्वयं उस नाटक को बड़ी कठिनाई से देखने के लिए उपस्थित हुए। नाटक का नाम था 'बलिदान'। उस नाटक का सार यह था कि विलायत से लौटा युवक दिन रात शराब और ऐशो-आराम में डूबा रहता है, जबकि देश को उसकी जरूरत है। उसे सब कोई छोड़ देता है, यहां तक कि उसकी मंगेतर भी। उसे सदमा लगता है। तभी एक बूढ़ा व्यक्ति उसे यह दिखलाता है कि जहाँ भारत में लोग गरीबी से मोर्चा ले रहे हैं, जहां आजादी पाने के लिये जान न्योछावर कर रहे है, वहाँ वह शराब के नशे मे डूबा रहता है, यह

कहाँ तक उचित है। जब भारत की असली तस्वीर उसके सामने आती है तब वह अपनी गल्ती समझता है और सही रास्ते पर आता है।

नाटक में जब वह दृश्य आया जिसमें बूढ़ा व्यक्ति शराबी के सामने भारत की सही अवस्था का चित्र उपस्थित करता है, उस चित्र को देखकर नेता जी अपने आँसू न रोक सके। नेता जी उस नाटक में इतने खो गये कि भूल गये कि, वे नाटक देख रहे हैं।"

मनोरंजन और नाटक द्वारा सामाजिक शिक्षा—

देश की ऐसी संकट कालीन स्थितियों में नाटक द्वारा मनोरंजन के माध्यम से समुचित भावना जगाने और उसके द्वारा पड़नेवाला अपेक्षित प्रभाव असदिग्ध है। आजकल तो किसी भी व्यापक समस्या के समाधान के लिये देश विदेश में सर्वत्र नाटक का प्रचुर प्रयोग होता है उसका कारण यही है कि नाटक द्वारा पड़ने वाले प्रभाव का माध्यम इतना आसान और सुन्दर है कि दूसरा उसकी तुलना ही नहीं कर सकता ; और वह माध्यम है मनोरंजन। नाटक का मूल तो मनोरंजन में ही निहित रहता है , लेकिन उसके द्वारा वस्तु का प्रभाव महत्वपूर्ण हो जाता है। यह नाटक कला की अपनी विशेषता है। नाटक खेलने के उद्देश्य में मनोरंजन की विशेषता को किसी भी प्रकार कम नहीं आंका जा सकता किन्तु मूल उद्देश्य तो समाज के समक्ष यथा तथ्य स्थिति का प्रदर्शन कर एक ऐसा सामाजिक आदर्श उपस्थित करना है जिससे मनुष्य अपने परिष्कार और विकास का मार्ग पा सके। नाटक व्यक्ति के लिये केवल मनोविनोद की लहरें उठाने वाला साधन ही नहीं है प्रत्युत उनके जीवन के सत्यों, गहराइयों, समस्त सुख दुख, सफलताओं-असफलताओं सनोजतम चित्र है, क्योंकि ये सभी प्रसंग नाटक में मनोविज्ञान और रस से युक्त होकर जीवन यथार्थ और आदर्श रूप में प्रतिफलित होते हैं। वे इन प्रत्यक्ष चित्रों से अमित तोष के साथ प्रेरक और प्रकाश (नई दृष्टि) दोनों प्राप्त करते हैं। मनोरंजन तो नाटक का बाह्य और दृष्ट परिणाम है। परोक्ष रूप में उसके पीछे सामाजिक सगठन, आर्थिक व्यवस्था, राजनीतिक प्रचार या धार्मिक उपदेश का भाव ही मुख्य रूप से निहित रहता है। भारत ने भी नाटक की जिन विशेषताओं और

१ धर्मयुग, १८ अक्टूबर १९६४, पृ० ३७।

उद्देश्यों को बताया है उसमें नाटक को विनोदजन्य कहने से पूर्व उसके उत्पत्ति का मूल सामाजिक संगठन तथा सभी वर्ग और अवस्था के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी प्रवृत्ति के अनुसार मार्ग निर्देशन करने वाला कहा है। इससे यह प्रकट होता है कि नाट्यशास्त्र के मूल में आचार्य भरत ने केवल इसके वाह्य प्रभाव तक ही दूसरी दिव्य दृष्टि सीमित नहीं रहती, वरन् नाटक के प्रयोग से अभिभूत सामाजिकों के मानस के भीतर कान्ता सम्मित (परोक्ष) उपदेश के रूप में 'रामादिवद्वर्तितव्यम् न रावणादिवत्' आदि उपदेशों का अमूर्त अव्यक्त और अदृष्ट प्रभाव पड़ता है, उसका भी उन्होंने निर्देश दिया था।

मियर और ब्राइटमिल ने नाटक का मूल उद्देश्य शिक्षा बताते हुए लिखा है, "नाटक सदा किसी समाज का वह जीवन दर्पण है जिसमें उसकी आशाएं सुख-दुख, रीति-रिवाज तथा विभिन्न सामाजिक समस्यायें प्रतिबिम्बित होती हैं। यह अपने उभयमुखी उद्देश्य शिक्षा और मनोरंजन में दूसरे अर्थात् मनोरंजन पर अधिक जोर देता है तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि इसका सामाजिक या शिक्षा संबंधी प्रभाव उससे कम महत्वपूर्ण है। प्रारम्भिक नाटकों ने कोरस की सहायता से धार्मिक प्रवृत्तियों के प्रचार और स्थिरीकरण में बहुत महत्वपूर्ण योग दान किया है। यूनानी नाटकों ने अपनी जनता का मनोरंजन तो किया ही किन्तु इससे भी महत्वपूर्ण कार्य एक विशेष धार्मिक प्रवृत्ति के बनाये रखने का किया।"

सामाजिक शिक्षा के प्रचार के लिये मनोरंजन के साधन रूप में नाटक का परम महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा और उपदेश की जो बातें मनोरंजन के द्वारा प्राप्त होती हैं उनका प्रभाव शीघ्र और स्थायी होता है। यह तो स्पष्ट है कि मनोरंजन के अन्य साधनों की अपेक्षा नाटक में मनोरंजन का मुख्य अस्त्र स्वयं मानव का चरित्र, समाज की समस्या और इतिहास-पुराण के प्रमुख नायकों का जीवन होता है अर्थात् हम जिन समस्याओं से फसे रहते है, जो समस्यायें व्यक्ति अथवा समाज के अत्यंत गम्भीर, उलझनपूर्ण या आनन्द पूर्ण होती हैं उन्हीं को हम नाटक के कथा के द्वारा रंगमंच पर प्रभावी हाव-भाव से अभिनीत देखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि या तो जो

१. कम्युनिटी रिक्रिएशन, पृ० ३।

समस्यायें किसी के लिये गम्भीर थी वही उनका मनोरंजन कर देती हैं और उनके वास्तविक रूप से परिचित होकर उद्धार का मार्ग पा जाता है। बहुत से ऐसे कथानक नाटक में अभिनीत होते हैं जिनसे हम अपने समाज की कमजोरी या विशेषता की झांकी पा जाते हैं और इस झांकी में हमें अपने वर्तमान या भविष्य को सुधारने का अच्छा सा उपदेश या संकेत मिल जाता है। सभी ऐतिहासिक नाटकों का दृष्टिकोण यही रहता है। अपने देश की प्राचीन सभ्यता का, संस्कृति का ज्ञान हमें तद्विषयक पुस्तकों से भी हो सकता है किन्तु कई लोग या तो उसे पढने नहीं जाते या उन पर प्रभावकारी ढंग से पुस्तकें प्रभाव नहीं डाल पातीं। ऐसी स्थिति में अभिनय के द्वारा प्राप्त राज उनके लिये सहज सुलभ हो जाता है। विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में रखे गये नाटक यदि विद्यालय में रंगमंच पर अभिनय का अवसर पा जाते हैं तो विद्यार्थी एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी से छूट जाते हैं। आधुनिक शिक्षाप्रणाली मे इसी लिए दृटि-श्रवण-प्रशिक्षण (Audo-Visiual Teaching) को सर्वाधिक महत्व दिया जा रहा है। जापान, रूस, चेकोस्लावेकिया ने इसकी अद्भूत उपयोगिता तथा प्रभाव को देखकर शिक्षा के क्षेत्र में इसका प्रयोग आरम्भ कर दिया है। वहाँ छोटे या बड़े नाटकों के द्वारा इतिहास, भूगोल, विज्ञान, समाजशास्त्र तथा राजनीति आदि सभी विषयों की शिक्षा दी जाने लगी है और राजनीतिक प्रचार के लिये तो नाटक का प्रयोग प्रायः सभी देशों में तेजी से हो रहा है। यूरोप में १६ वीं और १७ वीं शताब्दी में ईसाई धर्म के प्रचार के लिये रहस्यात्मक और नैतिक नाटक (Mistic and Morality plays) खेले जाने लगे थे और बहुत दिनों तक यूरोप के विभिन्न देशों में नाटक को धर्म प्रचार का प्रमुख साधन माना गया। आजकल की नर्सरी पद्धति से शिक्षा देने की तीव्र योजना के पीछे यही तथ्य निहित है कि बालक की शिक्षा स्वाभाविक और स्वतः अर्जित होनी चाहिये। इसलिये स्वाभाविकता लाने के उद्देश्य से उसमें ऐसे शिक्षाजनक खेलों की व्यवस्था रहती है जिसमें खेल के व्यावहारिक माध्यम से ही शिक्षा ज्ञानार्जन की बहुत सी बातों से बालक लाभान्वित हो जाय। इससे बच्चे के समाजीकरण में बड़ी सहायता मिलती है। इस दृष्टि से नाटक एक मात्र ऐसा खेल है जो आदि से अंत तक खेल होने पर भी शिक्षा, ज्ञान या उपदेश की संभावनाओं से पूर्ण है।

नाटक और सिनेमा

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य के सामाजिकता की रक्षा और विकास नाटक में सर्वथा सुष्ठु रूप में होता है। नाटक एक व्यक्ति से लेकर सम्पूर्ण समाज के भूत, वर्तमान और भविष्य का जीता-जागता चित्र है। अपने इसी चित्र को व्यक्ति अपने मनोरंजन का माध्यम बना लेता है और परोक्ष रूप में इस चित्र की विशेषताए एवं कमियाँ तथा उसमें विकास और सुधार की भावी सम्भावनाओं से परिचित होकर कार्य करने लगता है। दो कारणों से सबको अपने वास्तविक स्वरूप को देख और समझ पाना कठिन होता है—१. उसमें स्वत. लीन होने के कारण और २. अपेक्षित सूक्ष्म दर्शिता और तटस्थता के अभाव के कारण। किंतु नाटक द्वारा जब व्यक्ति के समक्ष उसके सामाजिक जीवन का यथार्थ रूप प्रस्तुत होता है तो उसमें तुलना और आत्मावलोकन की प्रवृत्ति स्वतः जागृत हो जाती है जिससे वह स्थितियों की वास्तविकता से परिचित हो जाता है और दोषयुक्त व्यवहारों के परिमार्जन की भावना उत्पन्न हो जाती है। इस रूप में नाटक का महत्व आरंभ से ही रहा है।